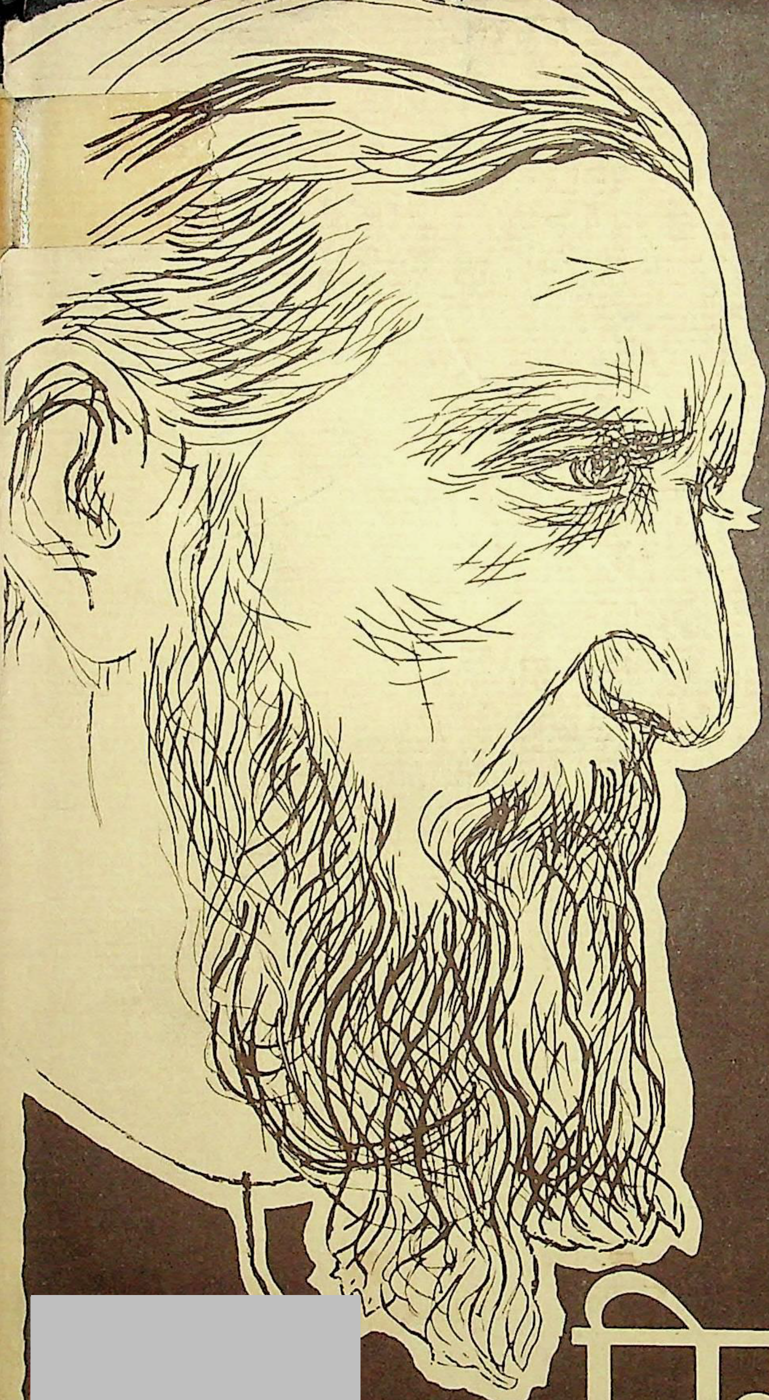

निराला रचनावली

2

निराला बेहोशी में काल्पनिक इच्छापूर्ति के सपने देखते हैं, होश आने पर उन्हें मिटा देते हैं। इच्छापूर्ति के सपने देखने में मन की कमजोरी प्रकट होती है; सपने मिटाने में हमेशा मन की ताकत जाहिर नहीं होती। उनके जीवन में कोई ऐसा समय होता जब वह सिर्फ बेहोशी की हालत में सपने देखते और मोहभंग होने पर नये दौर में अपनी स्वप्नशीलता से लड़ते हुए यथार्थवाद की ओर बढ़ते, तो शायद उनके साहित्य को दो हिस्सों में बाँट देना सम्भव होता – एक मोह का साहित्य, दूसरा मोहभंग का साहित्य; और एक को पलायनवादी, दूसरे को यथार्थवादी कहकर हम उनके विकास की सीधी रेखा निश्चित कर लेते। किन्तु ऐसी स्थिति है नहीं। जिन दिनों उन्होंने इच्छापूर्ति के सपने देखे, उन्हीं दिनों साहित्य में साहस से यथार्थ जीवन का चित्रण भी किया। जिसे छायावादी कविता कहते हैं, उसे केवल काल्पनिक इच्छापूर्ति का साहित्य मानना भ्रम है। यदि उस कविता की समस्त आधारभूत मान्यताओं का उपहास किया जाय, तो उस उपहास में कहीं-न-कहीं विकृति अवश्य होगी। **निराला** ने अपनी जिन रचनाओं में काल्पनिक इच्छापूर्ति के सपनों को मिटाया है, वे सन् '42 में प्रकाशित उनके कविता-संग्रह **कुकुरमुत्ता** में हैं। मोहभंग के साथ भावबोध में कहीं-कहीं विकृति उत्पन्न हुई है तो वह मुख्यतः इन्हीं रचनाओं में। इनमें केवल विकृति नहीं है, यथार्थवाद के नये तत्व हैं, यह भी असन्दिग्ध है।.... यथार्थवादी प्रवृत्ति सन् '36 के बाद **निराला**-काव्य में दृढ़ होती है। यह प्रवृत्ति प्रकृति और नारी से लेकर सामाजिक जीवन के चित्रण तक दिखायी देती है।.... **परिमल**, **अनामिका** और **गीतिका** की श्रेष्ठ रचनाओं का जो कलात्मक स्तर है, वह **नये पत्ते** की रचनाओं के कलात्मक स्तर से भिन्न है, ऊँचा भी है। किन्तु **नये पत्ते** में **निराला** की कला का ह्रास नहीं, विकास है। जीवन को नये ढंग से देखने और चित्रित करने का प्रयास है। यह कला नये ढंग की है जिसे निखारने के लिए **निराला** के सामने बने-बनाये साँचे नहीं थे। **निराला** ने यहाँ हिन्दी-कविता के विकास का नया मार्ग दिखाया।

रामविलास शर्मा

और हिन्दी-कविता के इस नये विकास-पथ की प्रतिनिधि काव्यकृतियाँ – **कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीत गुंज, सान्ध्य काकली** तथा **असंकलित कविताएँ** – 'रचनावली' के इस खण्ड में सम्मिलित हैं। शक्ति, सौन्दर्य और उल्लास की अभिव्यक्ति के साथ-साथ इन कविताओं में दुःख और निराशा की भी अभिव्यंजना हुई है, लेकिन हताशा और पराजय-बोध से ये आद्यन्त मुक्त हैं।

R. 0:91 नि 62 नि. 2

72793

72793

निराला रचनावली

कविताएँ : 1939-1949
और 1950/1961

कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीत गुंज, सान्ध्य काकली, असंकलित कविताएँ

तुम तुंग हिमालय श्रृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता

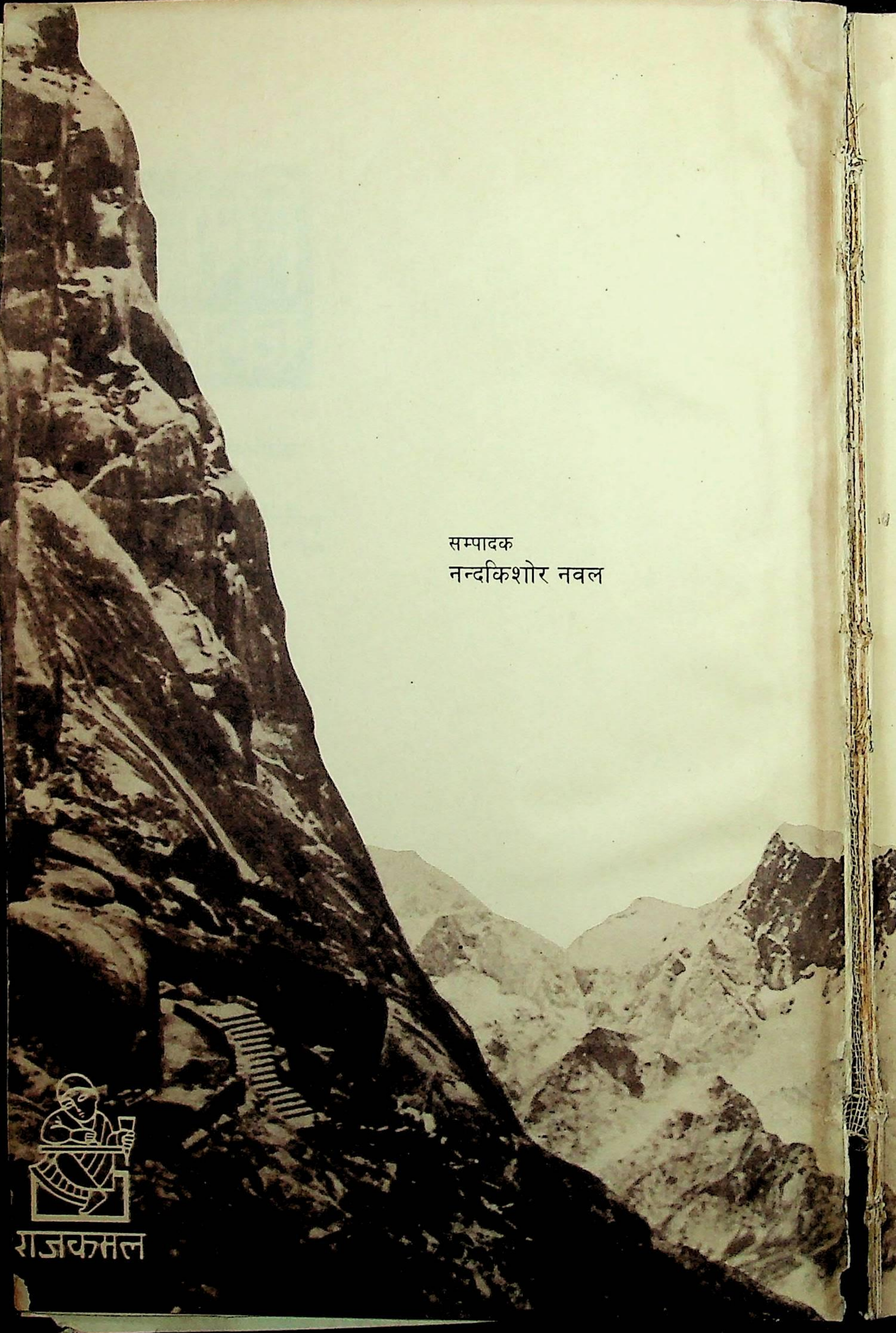

सम्पादक
नन्दकिशोर नवल

राजकमल

72793
72793 -

निराला रचनावली

2

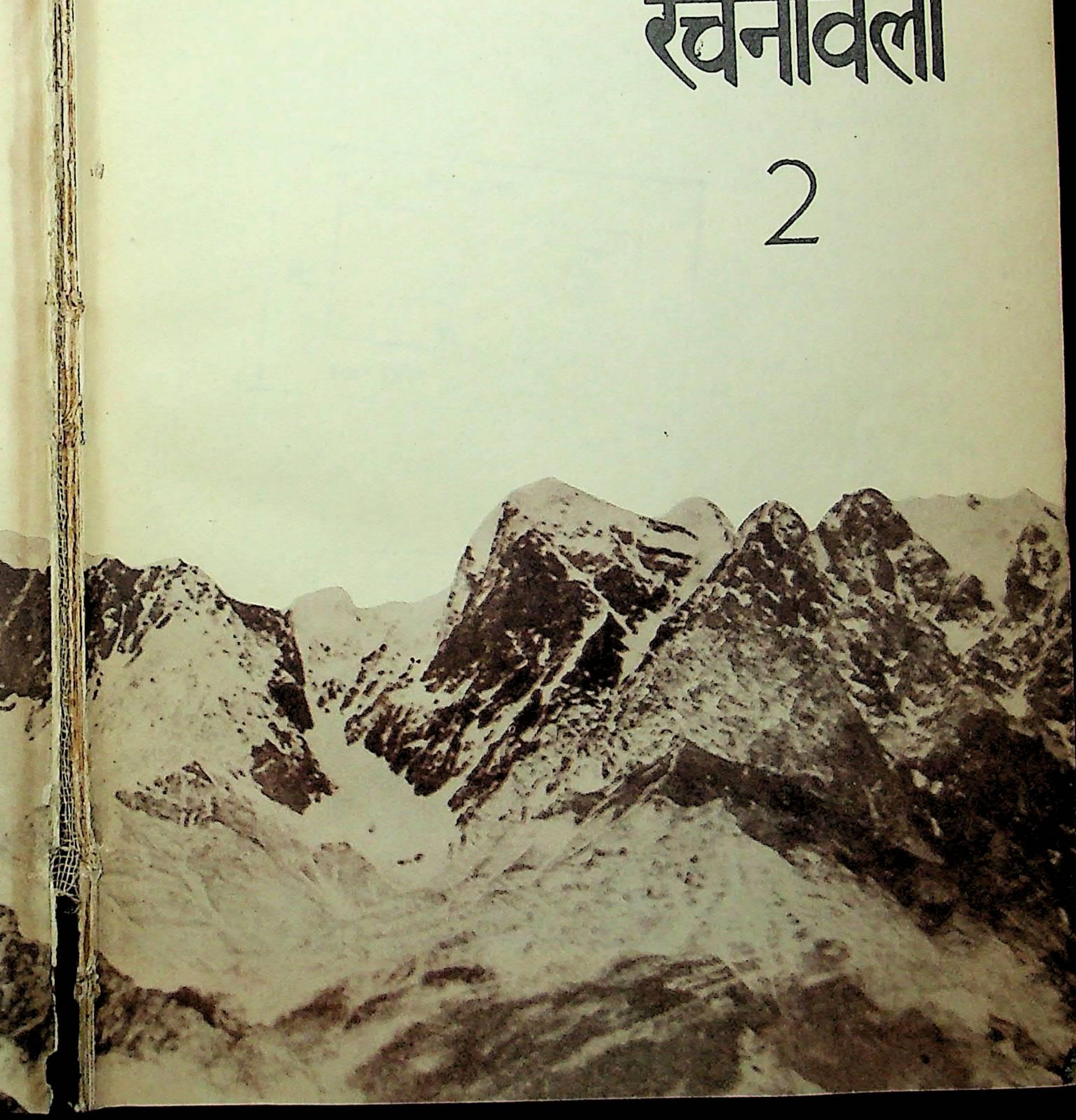

मूल्य
प्रति खण्ड रु० 75.00
सम्पूर्ण सैट रु० 600.00

© रामकृष्ण त्रिपाठी

द्वितीय संस्करण
मार्च, 1983

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
8 नेताजी सुभाष मार्ग,
नयी दिल्ली - 110 002

मुद्रक
रुचिका प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली - 110 032

आवरण तथा
प्रारम्भिक पृष्ठ :
प्रभात आफसेट प्रेस,
दरियागंज, नयी दिल्ली

कला-पक्ष
आवरण के लिए
निराला का रेखांकन :
हरिपाल त्यागी

कला - संयोजना :
चाँद चौधरी

NIRALA
RACHANAVALI
Collected Works of
Suryakant Tripathi 'Nirala'

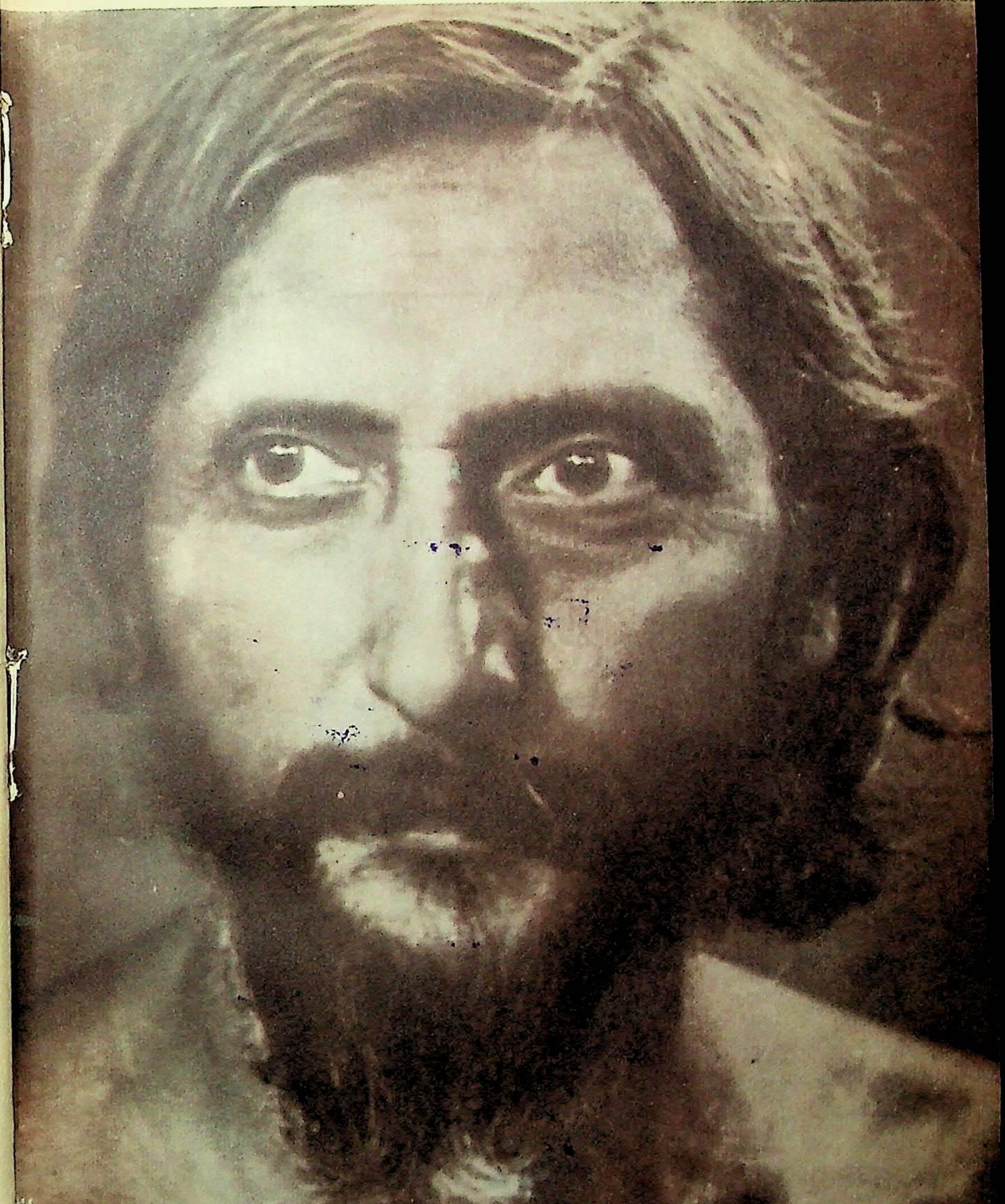

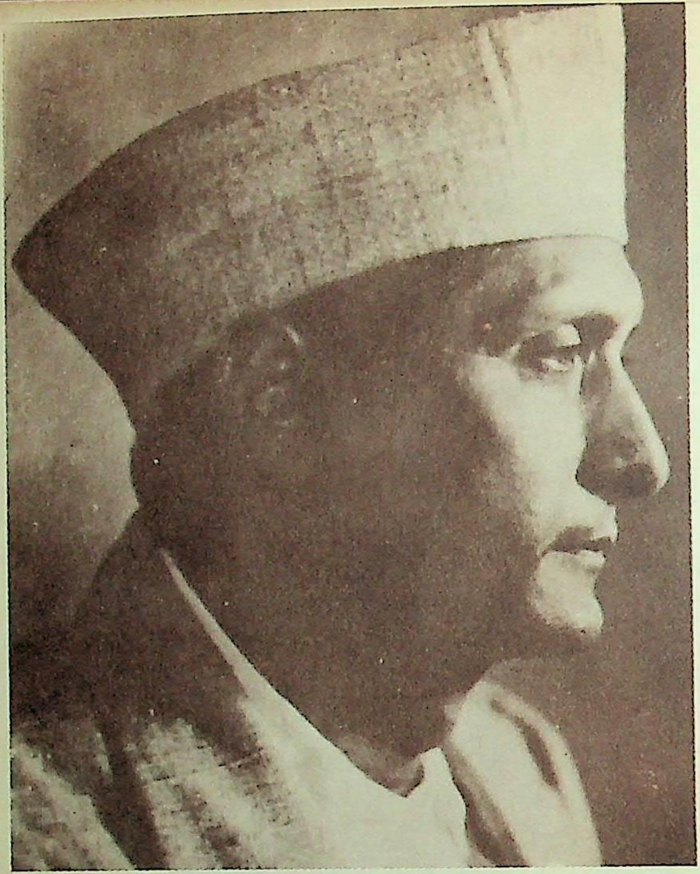

7 793

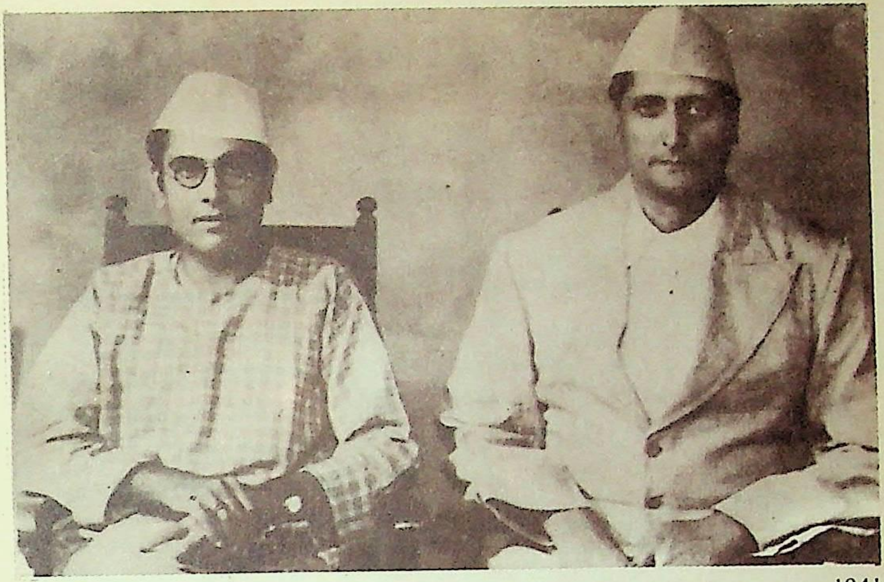

श्री अमृतलाल नागर के साथ 1941

72793

साहित्यकार संसद, रसूलाबाद में
महादेवी वर्मा और इलाचन्द्र जोशी के साथ

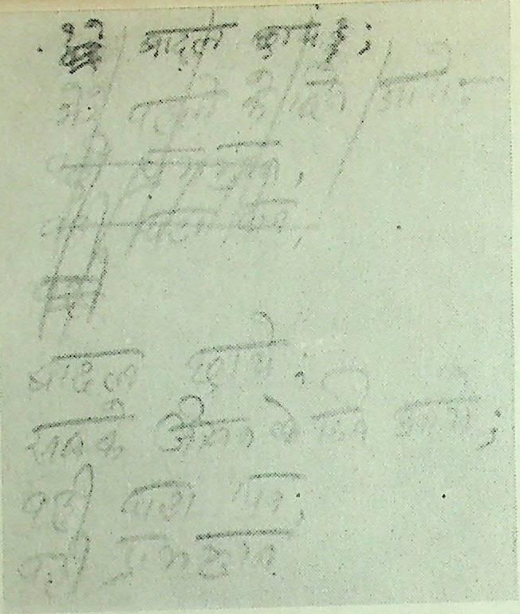

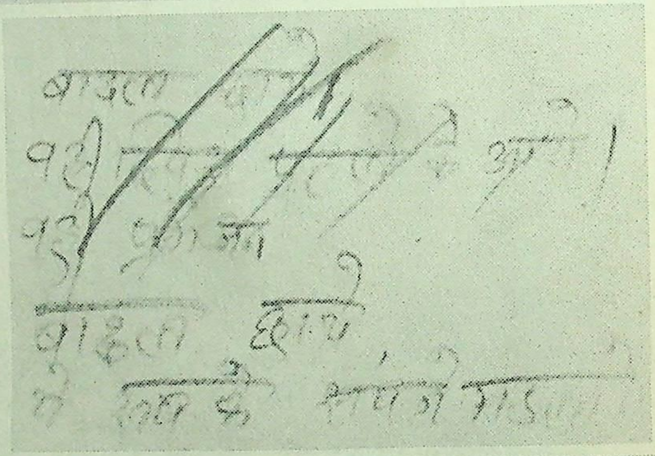

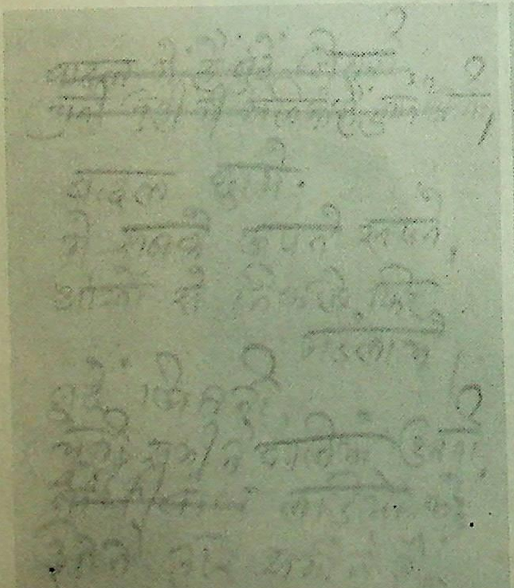

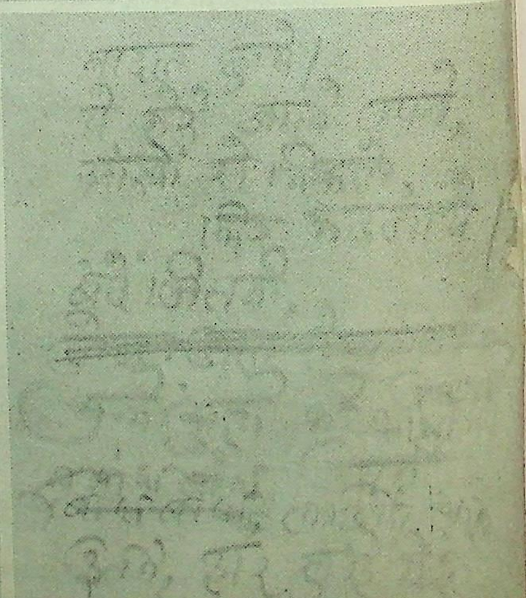

निराला की हस्तलिपि में उनके एक गीत के विभिन्न प्रारूप

आभार

निराला रचनावली प्रकाशित हो रही है, यह राजकमल के लिए गौरव की बात है। जिस प्रकार महाकवि की जीवन-यात्रा संघर्षपूर्ण रही, उसी प्रकार इस **रचनावली** के प्रकाशन में तरह-तरह की कठिनाइयाँ और बाधाएँ सामने आयीं। किन्तु बड़े धैर्य के साथ हमने सभी कठिनाइयों को हल किया और इसके प्रकाशन में सभी निराला-प्रेमियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग हमें मिला।

रचनावली में भारती भण्डार, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, आराधना, सुकुल की बीवी, प्रबन्ध-प्रतिमा, निरुपमा और अपरा], निराला प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद, की चार पुस्तकें [प्रभावती, बिल्लेसुर बकरिहा, चोटी की पकड़ और चतुरी चमार] तथा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [अर्चना, बेला, नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, अणिमा, देवी, काले कारनामे और रवीन्द्र-कविता-कानन] संकलित की गयी हैं और इन संस्थाओं ने अपनी पुस्तकें **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी है। यह स्वस्थ परम्परा हिन्दी-प्रकाशन के लिए स्वागत-योग्य है।

रचनावली में जिन चित्रों का उपयोग किया गया है वे हमें सर्वश्री अमृतलाल नागर, ओंकार शरद, अजितकुमार, नेमिचन्द्र जैन, रामकृष्ण त्रिपाठी तथा इण्डियन आर्ट स्टूडियो देहरादून के श्री नवीन नौटियाल से प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त श्री बरुआ द्वारा सम्पादित 'महाकवि निराला अभिनन्दन ग्रन्थ' से भी कई चित्र लिये गये हैं।

रचनावली के पत्रोंवाले खण्ड में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'निराला के पत्र' से महाकवि द्वारा शास्त्रीजी को लिखे गये पत्र संकलित हुए हैं। श्री सोहनलाल भार्गव, लखनऊ, ने स्वर्गीय श्री दुलारेलाल भार्गव के नाम लिखे गये पत्र, और श्री रामकृष्ण त्रिपाठी, इलाहाबाद, ने अपने नाम लिखे गये पत्र, जो 'निराला की साहित्य साधना' के तीसरे खण्ड में संकलित हैं, **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी।

उपरोक्त सभी संस्थाओं और महानुभावों तथा परोक्ष रूप से सहायक होनेवाले अन्य व्यक्तियों के हम आभारी हैं। उनके सहयोग से ही यह स्वप्न साकार हुआ है।

शीला सन्धू

19 जनवरी, '83

7 793

दूसरा खण्ड

जैसा कि **रचनावली** के खण्ड एक की भूमिका में कहा जा चुका है, उसके प्रस्तुत खण्ड में निराला-काव्य के दूसरे और तीसरे चरणों की कविताएं संकलित की गयी हैं।

दूसरे चरण में निराला की जो कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुईं, वे हैं: **कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला** और **नये पत्ते**। **कुकुरमुत्ता** का प्रथम संस्करण युग-मन्दिर, उन्नाव से निकला था। पुस्तक में प्रकाशन-वर्ष का उल्लेख नहीं है। निराला ने जो छोटी-सी भूमिका दी है उसके नीचे 4 जून, 1942 की तिथि अंकित है। इससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पुस्तक उक्त तिथि के पहले नहीं निकली, पर यह नहीं कि वह उसके तुरत बाद निकली। निराला ने 3 जनवरी, 1943 को आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को पत्र में लिखा था—"**बिल्लेसुर बकरिहा** और **कुकुरमुत्ता** पुस्तकें निकल चुकी हैं।" (**निराला के पत्र**) उन्होंने पुनः 13 मार्च, 1943 को उन्हें जो पत्र लिखा, उसमें उन्हें यह सूचना दी कि **बिल्लेसुर बकरिहा** दो-एक रोज में निकल जायगी, **कुकुरमुत्ता**-संग्रह भी प्रेस चला गया है।" (उपर्युक्त) इससे यह स्पष्ट है कि **कुकुरमुत्ता** 1943 के मार्च के मध्य तक छपकर बाहर नहीं आया था। वह उस वर्ष की गर्मियों में प्रकाशित हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। **कुकुरमुत्ता** के इस संस्करण में 'कुकुरमुत्ता' के अलावा सात और कविताएँ थीं। उन कविताओं के शीर्षक हैं: 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम-संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्ज', 'स्फटिक-शिला' और 'खेल'। जिस तरह की उलझन **कुकुरमुत्ता** के प्रथम संस्करण के प्रकाशन-काल को लेकर है, बहुत कुछ उसी तरह की उलझन उसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन-काल को लेकर भी है। कई जगह इस तरह का उल्लेख मिलता है कि द्वितीय संस्करण श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय, काशी से जुलाई, 1948 में निकला था। यह विचित्र बात है कि 16 फरवरी, 1945 को ही निराला एक पत्र में डा. रामविलास शर्मा को लिखते हैं कि "कुकुरमुत्ते को फिर से सँवारा है। छप रहा है। अब की अकेला है।" [**साहित्य-साधना** (3)] इसी तरह वे 7 फरवरी, 1946 को शास्त्री-जी को भी लिखते हैं कि "**कुकुरमुत्ता** संशोधित निकल रहा है। छप चुका है।" (**निराला के पत्र**) उनका एक दूसरा पत्र शास्त्रीजी के ही नाम 25 जून, 1948 का लिखा हुआ है, जिसमें उन्होंने उनसे यह कहा है कि "**कुकुरमुत्ता** संशोधित अब फार्म-रूप छपने को है।" (उपर्युक्त) द्वितीय संस्करण में निराला ने जो भूमिका दी है उसमें 8 जुलाई, 1948 की तिथि दी गयी है। इन सबसे यह अनुमान होता है कि शास्त्रीजी के नाम लिखे गये दूसरे पत्र में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह सही है और **कुकुरमुत्ता** का द्वितीय संस्करण जुलाई, 1948 में ही प्रकाशित हुआ होगा। इस संस्करण की विशेषता यह थी कि इसमें से बाकी सात कविताएँ निकाल दी गयी थीं और 'कुकुरमत्ता' शीर्षक कविता को फिर से सँवारा गया था। इस कविता को सँवारने में निराला काफी पहले से लगे हुए थे, यह डा. शर्मा के नाम लिखे गये उनके पत्र से संकेतित है।

अणिमा के प्रकाशन-काल को लेकर विशेष झंझट नहीं है। यह पुस्तक भी युग-मन्दिर, उन्नाव से ही प्रकाशित हुई थी। प्रकाशन-वर्ष इसमें भी नहीं दिया गया है, सिर्फ निराला ने भूमिका में 1अगस्त, 1943 की तिथि दी है। इससे पता चलता है कि यह पुस्तक उस तिथि के बाद ही निकली होगी। 28 अगस्त, 1943 को निराला ने पत्र में शास्त्रीजी को लिखा था कि "मेरी **अणिमा** निकल गयी।" (उपर्युक्त) 17 सितम्बर, 1943 को उन्होंने पुनः उन्हें लिखा कि "**अणिमा** दुर्भाग्य से अब तक दफ्तरी के यहाँ से नहीं निकली। छप चुकी है। सुना है, कोई दुर्घटना उसके यहाँ हो गयी है। दो-चार रोज में आ जायगी।" (उपर्युक्त) इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि **अणिमा** का वास्तविक प्रकाशन-काल 1943 के सितम्बर का उत्तरार्द्ध है।

बेला प्रथम बार जनवरी, 1946 में हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, शाहगंज, इलाहाबाद, से प्रकाशित हुई। इसकी भूमिका के नीचे निराला ने 15 जनवरी, 1943 की तिथि दी है, जिसमें वर्ष निश्चित रूप से गलत है। हमारा ख़याल है कि प्रेस की गलती से '४६' की जगह '४३' छप गया है। कारण यह कि निराला के पत्रों से यह संकेत मिलता है कि **बेला** के प्रकाशन का प्रसंग 1945 ई. से पहले नहीं उपस्थित होता। 16 फरवरी, 1945 को उन्होंने डा. शर्मा को लिखा था : "**बेला** एक पुस्तिका इधर के गीतों की निकाल रहा हूँ। कुल मैटर **नये पत्ते** को छोड़कर हिन्दी के लिए जा चुका।" [**साहित्य-साधना** (3)] 13 जनवरी, 1946 को उन्होंने पुनः लिखा : "**बेला** गीतों और ग़ज़लों का संग्रह है, 80 अस्सी गीत + ग़ज़लें (आधे-आधे) अब तक छप चुके हैं। मुमकिन 100 पूरे हों या दूसरे संग्रह में जायँ—**नरगिस** में, जिसमें सिर्फ ग़ज़लें होंगी।" (उपर्युक्त) इससे कई बातों का पता चलता है। एक तो यह कि **बेला** की पाण्डुलिपि प्रेस में देने के बाद भी वे उसमें नये गीत और ग़ज़लें जोड़ते रहे। दूसरी बात यह कि वे बाद में **नरगिस** नाम से सिर्फ ग़ज़लों का संग्रह निकालने की बात सोच रहे थे, जो कि पूरी नहीं हुई। इस पत्र से जो तीसरी बात मालूम होती है, वह यह कि 13जनवरी, 1946 तक **बेला** की अस्सी रचनाएँ छप चुकी थीं (उसमें कुल पंचानवे रचनाएँ संकलित हैं), लेकिन वह अभी छपकर बाहर नहीं आयी थी। 4 फरवरी, 1946 को निराला शास्त्रीजी को लिखते हैं : "**बेला** के पूरे फार्म 95 गीतों के, भूमिका के साथ भेज चुके हैं। किताब भी बँध गयी। किसी किसी को उपहार दिया जा चुका। अभी पूरी प्रतियाँ नहीं मिलीं।" (**निराला के पत्र**) इससे साफ हो जाता है कि **बेला** की भूमिका के नीचे जो '१९४३' छपा हुआ है वह गलत है, उसे '१९४६' होना चाहिए, और यह पुस्तक 1946 की जनवरी के अन्त में निकली।

अणिमा के बाद निराला **काँटा** नाम से अपनी नयी कविताओं का संग्रह प्रकाशित करना चाहते थे, क्योंकि इन कविताओं में व्यंग्य के तत्त्व थे। उन्होंने 10 मार्च, 1944 को शास्त्रीजी को एक पत्र में लिखा था कि "**काँटा** प्रेस जाने-वाला है।" (उपर्युक्त) आगे चलकर उन्होंने **काँटा** नाम से पुस्तक निकालने का विचार छोड़ दिया और नयी कविताओं के संग्रह के लिए नया नाम चुना—**नये पत्ते**। इसमें उन्होंने **कुकुरमुत्ता** वाली उन सात कविताओं को भी सम्मिलित कर लिया, जिन्हें उन्होंने उसके द्वितीय संस्करण में छोड़ दिया था। **नये पत्ते** सम्भवतः जनवरी, 1946 के अन्त में प्रेस में दिया गया, क्योंकि निराला ने 13

जनवरी, 1946 को डा. शर्मा को लिखा था कि "**नये पत्ते**—अब प्रेस जानेवाला है।" [**साहित्य-साधना** (3)] उन्हीं को उन्होंने अपने 7 फरवरी, 1946 के पत्र में लिखा कि "**नये पत्ते** आधुनिक काव्य छप रहा है।" (उपर्युक्त) 27 मार्च, 1946 को शास्त्रीजी को लिखे गये पत्र में वे कहते हैं : "**नये पत्ते** भेजते हैं।" (**निराला के पत्र**) इन बातों से यह सिद्ध है कि **नये पत्ते** 1946 के मार्च के उत्तरार्द्ध में निकला। इसका प्रकाशन वहीं से हुआ था, जहाँ से **बेला** का।

कुकुरमुत्ता (प्रथम संस्करण) और **अणिमा** की कविताओं के नीचे निराला ने प्रायः उनके रचनाकाल का उल्लेख किया है। उसमें भी अशुद्धियाँ हैं। **अणिमा** की नौवीं कविता 'तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर' का रचनाकाल 1940 ई. बतलाया गया है, जबकि यह कविता 'सुधा' के दिसम्बर, 1939 के अंक में ही प्रकाशित मिलती है। लेकिन ऐसी अशुद्धियाँ अपवादस्वरूप ही हैं। दोनों पुस्तकों की कविताओं के रचनाकाल को देखने से यह पता चलता है कि **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) में यदि 1939 ई. से लेकर 1942 ई. तक की अवधि में रची गयी कविताएँ संकलित हैं, तो **अणिमा** में 1939 ई. से लेकर 1943 ई. तक की अवधि में रची गयी कविताएँ। फिर हम देखते हैं कि **नये पत्ते** में भी **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) की सात कविताएँ समाविष्ट हैं। ऐसी स्थिति में इस खण्ड में भी पुस्तक-क्रम से कविताओं को सजाने में उलझन पैदा होने का डर था। स्वभावतः इसमें भी रचना-क्रम से कविताओं को सजाया गया है।

कुकुरमुत्ता (प्रथम संस्करण) और **अणिमा** की कविताओं का रचनाकाल जैसे निराला ने सूचित किया है, वैसे **बेला** और **नये पत्ते** की कविताओं का रचनाकाल नहीं। **नये पत्ते** की उन सात कविताओं का रचनाकाल, जो कि प्रथम बार **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) में संकलित हुई थीं, हमें वहीं से मालूम होता है। लिहाजा इन दोनों पुस्तकों में संकलित कविताओं का रचनाकाल हमें अन्य स्रोतों से मालूम करना पड़ा है। उनमें से एक स्रोत पुस्तकें हैं, दूसरा पत्र-पत्रिकाएँ और तीसरा निराला के पत्र। **बेला नये पत्ते** से कुछ पहले निकली थी, लेकिन दोनों पुस्तकों की कविताएँ प्रायः एक ही काल में लिखी गयी हैं। वह काल **कुकुरमुत्ता-अणिमा** (1939-1943) के बाद का काल है, यानी 1944 ई. के आरम्भ से लेकर 1946 ई. के आरम्भ तक का काल। ऊपर निराला के एक पत्र का हवाला दिया गया है, जिसमें वे 10 मार्च, 1944 को शास्त्रीजी को लिखते हैं कि "**काँटा** (**नये पत्ते** का पूर्वनाम) प्रेस जानेवाला है।" इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि **नये पत्ते** की सारी कविताएँ 1944 ई. के पूर्वार्द्ध तक लिखी जा चुकी थीं। वह 1946 की जनवरी में प्रेस में दिया गया, और उसमें निराला ने उस काल तक लिखी गयी कविताएँ भी सम्मिलित कीं। **नये पत्ते** में निराला की एक कविता संकलित है—'खून की होली जो खेली', जिसके सम्बन्ध में यह सूचना दी गयी है कि वह "'46 के विद्यार्थियों के देशप्रेम के सम्मान में" लिखी गयी। यह कविता गया से प्रकाशित होनेवाली साप्ताहिक पत्रिका 'ऊषा' के मार्च, 1946 के होलिकांक में छपी थी। यह इस बात का पक्का सबूत है कि **नये पत्ते** में 1946 ई. तक की कविताएँ दी गयी हैं। इसी कारण **वाङ्मय** के इस खण्ड में **बेला** और **नये पत्ते** की कविताओं को एक साथ रखा गया है। दोनों पुस्तकों की जो कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं मिली हैं, उन्हें अन्त में केवल इस सूचना के साथ

दिया गया है कि वे किन पुस्तकों में संकलित हैं। इससे मोटामोटी यह मालूम हो जाता है कि वे किस अवधि में रची गयीं। कुछ कविताओं के सम्भावित रचना-काल का संकेत किया गया है। इसका आधार निराला के पत्र हैं। निराला अपने पत्रों के साथ कुछ लेखकों को अपनी नवीनतम कविताएँ उनके अवलोकनार्थ भेजा करते थे। उन लेखकों में डा. शर्मा और शास्त्रीजी मुख्य हैं।

उपर्युक्त ब्योरे से यह भी स्पष्ट है कि निराला का दूसरे चरण का काव्य भी दो दौरों से गुजरा है। उसके पहले दौर में **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) और **अणिमा** की कविताएँ रची गयी हैं और उसके दूसरे दौर में **बेला** और **नये पत्ते** की कविताएँ। निराला के पहले चरण के तीसरे दौर की कविताओं में ही उनका यथार्थवादी रुझान प्रबलतर होता हुआ दिखलायी पड़ता है। उसी का विकास दूसरे चरण के पहले दौर की कविताओं में देखने को मिलता है। जैसा कि हम जानते हैं, चूँकि निराला बहुत ही संश्लिष्ट भाव-बोध के कवि थे, इसलिए वे इस दौर में गीत-रचना करते रहते हैं। **अणिमा** में उनके इस दौर के गीत संकलित हैं। **बेला** के गीतों और गजलों का सम्बन्ध इस दौर की उनकी कविताओं से भी है और गीतों से भी। उसकी अनेक रचनाएँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि निराला का सामाजिक यथार्थ का ज्ञान प्रौढ़तर हुआ है। इससे उनका यथार्थवाद नये उत्कर्ष को प्राप्त करता है, जिसे हम **नये पत्ते** की नयी कविताओं में, जिनका सम्बन्ध किसानों से है, स्पष्टता से देखते हैं। यह निराला-काव्य की नयी मंजिल है। इसी कारण हमने **बेला-नये पत्ते** की कविताओं को उनके दूसरे चरण के काव्य के दूसरे दौर की कविताएँ माना है। उसके बाद निराला ने गीत लिखे, जो हाल-हाल तक असंकलित थे। उन्हें **असंकलित कविताएँ** से यहाँ क्रम से संकलित कर दिया गया है। ये गीत निराला के भावी गीति-पथ का स्पष्ट संकेत देते हैं। 1949ई. के निराला के कुछ गीत उनके परवर्ती गीत-संग्रह **अर्चना, आराधना** और **गीत-गुंज** के गीतों में मिले हुए थे। उन्हें यथास्थान लगा दिया गया है। इस काल के उनके दो गीत 'छाये बादल काले काले' और 'शंकाकुल निशा गयी' अब तक असंकलित थे। उन्हें भी सम्मिलित कर लिया गया है। दूसरे चरण के पहले दौर की कालावधि 1939 ई. से 1943 ई. तक है और दूसरे दौर की कालावधि 1944 ई. के आरम्भ से 1949 ई. के अन्त तक।

निराला की कविताओं के पाठ के बारे में खण्ड एक की भूमिका में लिखा जा चुका है। उनके दूसरे चरण के काव्य का पाठ भी कविता-पुस्तकों के प्रथम संस्करण तथा कविताओं के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रूप से मिलाकर जहाँ तक हो सका है ठीक कर दिया गया है। कविताओं का परवर्ती पाठ प्रायः उत्कृष्ट-तर है, इसलिए अधिकतर उसी को स्वीकार किया गया है। परिशिष्ट में निराला की एक बंगला कविता तथा विवेकानन्द की दो अंग्रेजी कविताओं का अनुवाद दिया गया है। उन्होंने **रामचरितमानस** का खड़ी बोली में रूपान्तर करना शुरू किया था, लेकिन वे उसके प्रथम सोपान के केवल आरम्भिक अंश का रूपान्तर कर सके। उसका विनयवाला भाग **रामायण (विनय-खण्ड)** के नाम से श्री राष्ट्र-भाषा विद्यालय, काशी से 1948 के जून के अन्त या जुलाई के आरम्भ में प्रकाशित हुआ था। [इस काल-निर्णय का आधार निराला का 25 जून, 1948 का शास्त्रीजी को लिखा गया एक पत्र है, जिसमें उन्होंने कहा है : "तुलसी

अनुवाद का कवर छपने को रहा है।" (उपर्युक्त) पुस्तक में प्रकाशन-काल का कोई उल्लेख नहीं है।] उसके पहले उसके विभिन्न अंश 'देशदूत' (साप्ताहिक प्रयाग) और 'साधना' (मासिक, कलकत्ता) के क्रमशः 1946 और 1948 ई. के अंकों में प्रकाशित हो चुके थे। परिशिष्ट में यह पूरी पुस्तक दी गयी है। पुस्तक में रूपान्तर के साथ एक 'टीका' लगी हुई थी, जो निराला द्वारा ही तयार की गयी थी। उपयोगी समझकर उसे यथावत रहने दिया है। परिशिष्ट के अन्त में पुस्तकों की भूमिकाएँ और समर्पण दिये गये हैं।

निराला-काव्य के दूसरे चरण की सबसे बड़ी विशेषता उसका यथार्थवाद है। **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण), **अणिमा और नये पत्ते** की कविताओं में हास्य के तत्त्व देखे गये हैं, लेकिन वे शुद्ध हास्य के तत्त्व नहीं हैं, क्योंकि उनके भीतर निराला का सामाजिक यथार्थ का गहरा बोध छिपा हुआ है। 'कुकुरमुत्ता' उनकी ऐसी कविता है, जिसमें व्यंग्य की धार दोहरी है। उसमें एक तरफ वे पूंजीपति-वर्ग पर व्यंग्य करते हैं और दूसरी तरफ संकीर्णतावादी प्रगतिशील दृष्टि पर। 'खजोहरा'-जैसी कविताओं में उन्होंने रूमानी सौन्दर्य-स्वप्न को पूरी तरह से मिटा देना चाहा है। इसी काल में यथार्थ के तीखे बोध से तिलमिलाकर उन्होंने शास्त्रीजी को लिखा था कि "एक रोज दिल में आया जो कुछ पद्य-साहित्य में लिखा है, उसका उलटा लिख डालूं।" (उपर्युक्त, 26 मई, 1943 का पत्र) जैसा कि संकेत किया जा चुका है, निराला का यथार्थवाद **नये पत्ते** की 'कुत्ता भौंकने लगा', 'झींगुर डटकर बोला', 'छलाँग मारता चला गया', 'डिप्टी साहब आये' और 'महगू महगा रहा'-जैसी कविताओं में बुलन्दी पर पहुँचता है। **बेला** के गीतों पर गजलों में यदि उनका रहस्यवाद है, तो यथार्थवाद भी है। यहाँ स्मरणीय है कि **बेला** की ही एक गजल में निराला ने सत्य को पा लेने की यह घोषणा की है: "खुला भेद, विजयी कहाये हुए जो,/लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।"

[2]

निराला-काव्य के तीसरे चरण की कालावधि 1950 की जनवरी से लेकर प्रायः 1961 के अक्तूबर तक है। 15 अक्तूबर, 1961 को निराला का देहान्त हुआ। अनुमान है कि वे मृत्युपर्यन्त काव्य-साधना में निरत रहे। उनकी अन्तिम रचना सम्भवतः "पत्रोत्कण्ठित जीवन का विष बुझा हुआ है" पंक्ति से आरम्भ होनेवाली कविता है, जिसे इस चरण की अन्तिम कविता के रूप में इस खण्ड में संकलित किया गया है। इस चरण में निराला की ये कविता-पुस्तकें आती हैं: **अर्चना, आराधना, गीत-गुंज** और **सान्ध्य काकली**।

अर्चना के प्रकाशन-काल का पुस्तक में उल्लेख नहीं है, लेकिन ऐसा खयाल है कि इसका प्रथम संस्करण 1950 ई. के अन्त में निकला था। प्रकाशक थे श्री उमाशंकर सिंह, कला मन्दिर, दारागंज, इलाहाबाद। इसमें 12 जनवरी, 1950 से लेकर 15 अगस्त, 1950 तक रचित गीत संकलित हैं। दूसरे, इसमें निरालालिखित जो भूमिका है, उसके नीचे 26 अगस्त, 1950 की तिथि दी हुई है। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह संग्रह 1950 ई. के अन्त तक प्रकाशित हो गया था और इसमें निराला के बिलकुल ताजा गीत थे।

आराधना 1953 ई. के अन्त में साहित्यकार संसद्, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी, क्योंकि इसमें श्रीमती महादेवी वर्मालिखित जो छोटी-सी भूमिका है, उसके नीचे यह तिथि अंकित है : कार्तिकी पूर्णिमा सं. 2010 (वि.)। **गीत-गुंज** का प्रथम संस्करण हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, पो. बाक्स नं. 70, ज्ञानवाणी, बनारस से 1954 ई. (संवत् 2011 वि.) के अन्त में [क्योंकि इसका अन्तिम गीत 'रूपक के रथ रूप तुम्हारा' 24-11-54 की रचना है (दे. द्वितीय संस्करण)] निकला था। इसका द्वितीय किंचित् परिवर्धित संस्करण 1959 ई. (संवत् 2016 वि.) में वहीं से निकला। **सान्ध्य काकली** का प्रकाशन जनवरी, 1969 में वसुमती, 38, जीरो रोड, इलाहाबाद-3 से निराला के मरणोपरान्त हुआ।

अर्चना में अधिकांश गीतों के नीचे निराला ने रचना-तिथि दी है। उससे पता चलता है उसका पहला गीत 12 जनवरी, 1950 को रचा गया और अन्तिम गीत 15 अगस्त, 1950 को। 17 फरवरी, 1950 तक गीतों की रचना का क्रम अबाध गति से चलता है। उसके बाद करीब छः महीनों का अन्तराल दिखलायी पड़ता है। निराला पुन: 14 अगस्त, 1950 को कलम उठाते हैं और 15 अगस्त, 1950 तक पाँच गीत रच डालते हैं। **अर्चना** का सबसे अन्तिम गीत 1949 ई. की रचना है। यह गीत 16 अक्तूबर, 1949 के 'देशदूत' (साप्ताहिक, प्रयाग) में प्रकाशित हुआ था। उसके पहले जो कई गीत संकलित हैं उनके नीचे प्रकाशन-वर्ष (1950 ई.) तो दिया गया है, लेकिन कोई निश्चित तिथि नहीं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन के आधार पर अनुमान है कि ये गीत 15 अगस्त, 1950 के बाद की रचना नहीं, बल्कि उसके पहले की रचना हैं। इन गीतों के फरवरी, 1950 से लेकर अगस्त, 1950 के बीच रचित होने की सम्भावना है। 'किरणों की परियाँ मुसका दीं' गीत **अर्चना** के अन्तिम गीतों में से है, जिसके नीचे केवल 1950 अंकित है; लेकिन यह 15 अगस्त, 1950 के पहले ही 'संगम' के 11 जून, 1950 के अंक में प्रकाशित हो चुका था।

आराधना में भी निराला ने गीतों के नीचे रचना-तिथि दी है, लेकिन उसमें अशुद्धियाँ भी हैं और **अर्चना** की तुलना में अधिक क्रमहीनता भी। अशुद्धियों को ठीक करने और गीतों को क्रमबद्ध करने के बाद यह पता चलता है कि इसमें जनवरी, 1951 से लेकर 24 फरवरी, 1953 तक रचित निराला के गीत संकलित हैं। **आराधना** के गीतों की रचना का अबाध क्रम 24 अगस्त, 1952 से शुरू होता है। 1950 में 15 अगस्त के बाद निराला चुप हो गये। 1951 ई. में उन्होंने थोड़े-से गीत लिखे, जो असंकलित रहे या **आराधना** के अन्त में संकलित कर दिये गये। 1952 में वे 24 अगस्त के पहले तक फिर चुप रहे। **आराधना** में दो गीत **अर्चना**-काल के भी हैं। इसके अलावा उसमें एक कविता (संख्या 89) 1938 ई. की रचना है, जिसके नीचे न जाने कैसे 1 मार्च, 1950 की तिथि पड़ गयी है। यह रचना 'सरस्वती' के नवम्बर, 1961 के अंक में निराला की हस्तलिपि में और उन्हीं द्वारा की गयी रचना-तिथि के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

गीत-गुंज के प्रथम संस्करण में कुल छब्बीस गीत संकलित थे, जिनमें से सात गीत पुराने थे, एक **अर्चना** से लिया गया और छः **आराधना** से। उसके दूसरे संस्करण में पुराने गीत निकाल दिये गये और कुछ पुरानी मौलिक और अनूदित कविताओं के अलावा पन्द्रह नये गीत जोड़ दिये गये। एक गीत (संख्या 7) इसमें दूसरे चरण के

अन्तिम काल का भी था। **सान्ध्य काकली** प्रकाशित हुई तो उसमें पच्चीस रचनाएँ पुरानी थीं, **गीत-गुंज** से ली हुईं और तेंतालीस रचनाएँ नयी थीं। नयी रचनाओं में एक रचना अधूरी भी थी। पूरी रचनाओं में अधिकांशत: गीत थे। **गीत-गुंज** के प्रथम संस्करण में तो गीतों के नीचे रचना-तिथि नहीं दी गयी है, लेकिन उसके द्वितीय संस्करण में वह दी गयी है और प्राय: शुद्ध-शुद्ध दी गयी है। एक ही गीत 'फिर उपवन में खिली चमेली' की रचना-तिथि गलत दी गयी है—5 अक्तूबर, 1955। यह इससे प्रमाणित है कि यह गीत 'सा. हिन्दुस्तान' के 4 सितम्बर, 1955 के अंक में ही प्रकाशित मिलता है। **गीत-गुंज** मे अप्रैल, 1953 से लेकर जनवरी, 1957 तक रचित गीत संकलित हुए हैं। **सान्ध्य काकली** के करीब आधे गीतों में रचना-तिथि दी गयी है, जो कि शुद्ध है। बाकी गीतों की रचना-तिथि का निर्धारण अन्य आधारों पर किया गया है। उनमें से एक आधार है **सान्ध्य काकली** की पं. श्री नारायण चतुर्वेदीलिखित भूमिका। ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि तीसरे चरण की निराला की कविताओं को भी पुस्तक-क्रम से नहीं सजाया जा सकता है, क्योंकि बाद की पुस्तकों में पहले की कविताएँ संकलित हुई हैं। लिहाजा इस चरण की कविताओं को भी यथासम्भव रचना-क्रम से ही संकलित करना अधिक सुविधाजनक और वैज्ञानिक प्रतीत हुआ है।

आम तौर पर यह समझा जाता है कि निराला के काव्य का तीसरा चरण उनके दूसरे चरण के यथार्थवादी काव्य से भिन्न है, क्योंकि इसमें वे पुन: भक्ति और अध्यात्म के गीत रचने लगते हैं। वास्तविकता यह है कि वे **कुकरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) और **नये पत्ते** की कविताओं की रचना के दौर में भी भक्ति और अध्यात्म के गीत रच रहे थे, जो कि **अणिमा** और **बेला** में संकलित हैं। **अणिमा** और **बेला** के गीतों का ही विकास निराला के तीसरे चरण के गीति-काव्य में देखने को मिलता है। **बेला** के प्रकाशन के बाद 1949 ई. में उन्होंने अनेकानेक गीत लिखे थे, जिनमें से अधिकांश हाल-हाल तक असंकलित थे। **अर्चना** के गीतों की कड़ी वहीं से मुड़ती है। इस चरण में गीतों का एक ही दौर दिखलायी पड़ता है, जो **सान्ध्य काकली** के अन्तिम गीतों तक चलता रहता है। इस चरण का एक गीत 'कैसी सुहाई जुन्हाई' अब तक प्राय: असंकलित था। उसे यहाँ संकलित करके यथाक्रम लगा दिया गया है।

तीसरे चरण की निराला की रचनाओं में भी पाठान्तर मिलते हैं। पहले की तरह ही यहाँ भी उसी पाठ को स्वीकार किया गया है, जो कि उत्कृष्टतर और परवर्ती है। उदाहरण के लिए **सान्ध्य काकली** का गीत 'तुम्हारी हवा से सोये' को लिया जा सकता है। इस गीत का पहला पाठ (रचना-तिथि : 6 सितम्बर, 1958) **सान्ध्य काकली** में संकलित मिलता है और दूसरा पाठ 'सा. हिन्दुस्तान' के 5 अक्तूबर, 1958 के अंक में प्रकाशित है। दोनों पाठों को मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे पाठ में निराला की अभिव्यक्ति अधिक चित्रात्मक है। यह पाठान्तर उन्होंने 'सा. हिन्दुस्तान' के लिए गीत की प्रतिलिपि करते समय किया होगा। ऐसा ही अन्तर **सान्ध्य काकली** के 'जय तुम्हारी देख भी ली' गीत के पाठ में भी मिलता है। इस गीत का रचनाकाल 14 अगस्त, 1958 है। यह 'सरस्वती' के अक्तूबर, 1958 के अंक में किंचित् भिन्न पाठ के साथ प्रकाशित हुआ था। इसका पाठ भी पुस्तक में संकलित पाठ से उत्कृष्टतर है। परिशिष्ट में तीसरे चरण

के काल में ब्रजभाषा, भोजपुरी आदि में रचे गये निराला के गीत संकलित किये गये हैं। **सान्ध्य काकली** में निराला के एक अधूरे गीत की सिर्फ दो पंक्तियाँ मिलती हैं --"ध्वनि में उन्मन-उन्मन बाजे, अपराजित कण्ठ आज लाजे।" इस कारण इसे यहीं दिया जा रहा है, संकलित नहीं किया गया। **सान्ध्य काकली** का ही एक गीत है —'ताक कमसिनवारि'। इस गीत में अर्थ गौण है और ध्वनि-क्रीड़ा प्रधान है। इसे भी परिशिष्ट में ही रखा गया है।

निराला के तीसरे चरण के काव्य से यह भ्रम हो सकता है कि उसमें वे पीछे की ओर लौट गये हैं। इस सम्बन्ध में ऊपर संकेत किया जा चुका है। धर्म-भावना निराला में पहले भी थी, वह उनमें अन्त-द्वन्त तक बनी रही। उनके इस चरण के धार्मिक काव्य की विशेषता यह है कि वह हमें उद्विग्न करता है, आध्यात्मिक शान्ति नहीं प्रदान करता। वह शान्ति निराला को कभी मिली भी नहीं, क्योंकि इस लोक से उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा, बल्कि इसी लोक को अभाव और पीड़ा से मुक्त करने के लिए वे कभी सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों की ओर देखते रहे और कभी ईश्वर की ओर। उनकी यह व्याकुलता ही उनके काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है। उन पर वेदान्त का गहरा असर है, लेकिन अनेक बार उन्होने उसका अतिक्रमण भी किया है। यदि ऐसा न होता, तो वे अन्त में यह न कहते कि "नयी शक्ति, अनुरक्ति जगा दो, /विकृत भाव से भक्ति भगा दो,/ उत्पादन के मार्ग लगा दो साहित्यिक-वैज्ञानिक के बल।" जो कवि इस लोक को माया समझेगा, वह यह कभी नहीं चाहेगा कि साहित्य और विज्ञान दोनों का उपयोग उत्पादन-वृद्धि और फिर उससे होनेवाले समाज-कल्याण के लिए हो। मार्क्स ने लिखा है: "धार्मिक वेदना एक साथ ही वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति और वास्तविक वेदना के विरुद्ध विद्रोह भी है।" निराला के इस चरण के काव्य को हमें इसी आलोक में देखना चाहिए। उसकी एक अन्यतम विशेषता यह है कि वह ग्राम-जीवन के बिलकुल निकट स्थित है। इस काल में निराला ने ग्राम-जीवन और ग्राम-संस्कृति का अद्भुत आत्मीयता के साथ वर्णन किया है। यशस्वी कवि और समीक्षक डा. केदारनाथसिंह उचित ही निराला की इस चरण की कविता को 'परदेश से घर लौटे हुए कवि की कविता' कहते हैं। ज्ञातव्य यह है कि ग्राम-जीवन से निराला की आत्मीयता गोचारणी (Pastoral) प्रवृत्ति का परिणाम नहीं है। वह आत्मीयता वैसी ही है, जैसी हम प्रेमचन्द में पाते हैं।

रानीघाट लेन, महेन्द्रू,
पटना-800006
12 मार्च, 1982

नन्दकिशोर नवल

क्रम

कविताएँ (1939-1949)

पहला दौर

प्रेम-संगीत 29
जन-जन के जीवन के सुन्दर 29
सुन्दर हे, सुन्दर ! 30
तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर 31
रानी और कानी 32
उन चरणों में मुझे दो शरण 33
दलित जन पर करो करुणा 33
भाव जो छलके पदों पर 34
बापू के प्रति 34
भगवान् बुद्ध के प्रति 35
मास्को डायेलाग्स 36
धूलि में तुम मुझे भर दो 37
तुम और मैं 38
आदरणीय प्रसादजी के प्रति 39
गर्म पकौड़ी 41
मैं अकेला 42
मैं बैठा था पथ पर 43
श्रद्धांजलि 43
कुकुरमुत्ता 44
खजोहरा 57
नूपुर के सुर मन्द रहे 62
बादल छाये 63
उद्बोधन 64
अज्ञता 67
स्फटिक-शिला 67
तुम आये 75
गहन है यह अन्ध कारा 76
द्रुम-दल शोभी फुल्ल नयन ये 76
खेल 77
सन्त कवि रविदासजी के प्रति 78
सहस्राब्दि 78
अखिल-भारतवर्षीय महिला-सम्मेलन की सभानेत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति 82
घेर लिया जीवों को··· 83
स्नेह-निर्झर बह गया है 84
मत्त हैं जो प्राण 84
मरण को जिसने वरा है 85
जननि मोहमयी तमिस्रा··· 86
तुम्हीं हो शक्ति समुदय की 86
यह है बाजार 87
भारत ही जीवन-धन 88
युग-प्रवर्तिका श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति 89
स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज 89
जवाहरलाल ! 104
गया अँधेरा 105
स्नेह-मन तुम्हारे नयन बसे 106
नाम था प्रभात ज्ञान का साथी 106
मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है 107
सड़क के किनारे दूकान है 107
निशा का यह स्पर्श शीतल 108
तुम चले ही गये प्रियतम 109
चूँकि यहाँ दाना है 109
जलाशय के किनारे कुहरी थी 110

दूसरा दौर

तिलांजलि 113
पाँचक 113
आँख आँख का काँटा हो गयी 116
खुश-खबरी 117
शशी वे थे, शश-लांछन 117
जीवन-प्रदीप चेतन तुमसे हुआ हमारा 118

उनके बाग में बहार 118
टूटी बाँह जवाहर की 119
महालक्ष्मी के प्रति 120
शुभ्र आनन्द आकाश पर छा गया 122
रूप की धारा के उस पार 122
बीन की झंकार··· 123
नाथ, तुमने गहा हाथ··· 124
बातें चलीं सारी रात तुम्हारी 124
साथ न होना। गाँठ खुलेगी··· 125
आये पलक पर प्राण कि 125
भीख माँगता है अब राह पर 126
जिसको तुमने चाहा··· 127
चलते पथ, चरण वितत 127
आरे, गंगा के किनारे 128
वेश-रूखे, अधर सूखे 129
तू के झोंकों··· 129
बदलीं जो उनकी आँखें··· 130
दोनों लताएँ··· 130
संकोच को विस्तार··· 131
काले-काले बादल छाये··· 132
मिट्टी की माया छोड़ चुके 132
गिराया है जमीं होकर 133
चढ़ी हैं आँखें जहाँ की··· 134
किनारा वह हमसे··· 134
विनोद प्राण भरे 135
पड़े थे नींद में··· 135
शान्ति चाहूँ मैं··· 136
पग आँगन पर रखकर आयी 136
समर करो जीवन में 137
खुल गया दिन खुली रात 137
रहे चुपचाप मन मारकर हाथ पर 138
राह पर बैठे··· 138
आँखें वे देखी हैं जबसे 140
स्वर के सुमेरु से झर-झर कर 140
कैसे गाते हो ?··· 141
खिला कमल, किरण पड़ी 142
कुन्द-हास में अमन्द 142
फूलों के कुल काँटे··· 143
उठकर छवि से आता है पल 144
हँसी के तार के होते हैं ये··· 145
हँसी के झूले के झूले हैं वे··· 145
अशब्द हो गयी वीणा 146
तुम्हें देखा··· 146
निगह तुम्हारी थी 147
छाये आकाश में··· 147
स्नेह की रागिनी बजी 148
अपने को दूसरा न देख 148
किरणें कैसी-कैसी फूटीं 149
कहाँ की मित्रता 150
नये विचार के संसार में 150
प्रभु के नयनों से··· 151
आये हो आस के··· 151
फूल से चुन लिया··· 152
बन्दीगृह वरण किया··· 152
मन में आये संचित होकर 153
बाहर मैं कर दिया गया हूँ 153
आने-जाने से पहले··· 154
सबसे तुम छूटे और··· 154
मृत्यु है जहाँ··· 155
क्या दुःख, दूर कर दे बन्धन 156
तू कभी न ले दूसरी आड़ 156
छला गया, किरनों का··· 157
वह चलने से तेरे··· 157
मुसीबत में कटे हैं दिन 158
नहीं देखे हैं पर केवल··· 159
अगर तू डर से पीछे··· 160
आँख के आँसू न शोले बन गये 160
भेद कुल खुल जाय वह 161
विजयी तुम्हारे··· 162
जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ 162
राजे दिनकर जैसे 163
जग के, जय के, जीवन 164
प्रतिजन को करो सफल 164
साधना आसन हुई··· 165
तुमसे (मिले) मेरे प्राण 165
अन्तस्तल से यदि की पुकार 166

ऐंड़ ली, तिरछी छबि की मान 167
आये नतवदन शरण 167
अति सुकृत भरे 168
सहज चाल चलो उधर 168
आँख से आँख मिलाओ 169
वही राह देखता हूँ 169
बिना अमर हुए··· 170
साहस कभी न छोड़ा 171
किसकी तलाश में हो··· 171
सारे दावपेच खुले··· 172
अगर समस्त-पदों का··· 172
माया की गोद, खेलता है 173
यह जीने का संग्राम 173
मन हमारा मग्न दुख की 174
तुम हो गतिवान जहाँ 174
उन्हें न देखूँगा जीवन में 175
अहग्इ तुम्हारे न जो प्राण··· 176
कैसी यह हवा चली 176
थोड़ों के पेटे में बहुतों को आना पड़ा 177
राजे ने अपनी रखवाली की 177
दग़ा की 178
चर्खा चला 179
तारे गिनते रहे 180
कुत्ता भौंकने लगा 181
झींगुर डटकर बोला 182
देवी सरस्वती 183
युगावतार परमहंस श्री रामकृष्णदेव के प्रति 192
छलाँग मारता चला गया 193
डिप्टी साहब आये 194
वर्षा 196
महगू महगा रहा 197
खून की होली जो खेली 199
कैलाश में शरत् 200
गीत (रचना की ऋजु बीन बनीं तुम) 204
गीत (कमरख की आँखें भर आईं) 204
मेघ मल्लार (1) 205
मेघ मल्लार (2) 205
गीत (उमड़-घुमड़-घन सावन आये) 206
गीत (छाये बादल काले काले) 206
गीत (रस की बूँदें बरसो, नव घन) 207
यह गाढ़ तन, आषाढ़ आया 207
बिजली का जीवन 208
गीत (सौरभ के रसभ बसो, जीवन) 209
गीत (क्यों निर्जन में हो) 209
वन्दना 210
गगन वीणा बजी 210
शरत् पंकजलक्षणा 211
मन मधु बन, आली ! 211
गीत (शंकाकुल निशा गयी) 212
ज्ञान की तेरी तुरी है 213

परिशिष्ट

मौलिक और अनूदित कविताएँ

माननीया श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति 219
चौथी जुलाई के प्रति 220
काली माता 221
रामायण (विनय-खण्ड) 223

भूमिकाएँ और समर्पण

1 **कुकुरमुत्ता** के प्रथम संस्करण का समर्पण 323
2 **कुकुरमुत्ता** के प्रथम संस्करण की भूमिका 323
3 **कुकुरमुत्ता** के द्वितीय संस्करण का समर्पण 324
4 **कुकुरमुत्ता** के द्वितीय संस्करण की भूमिका 324
5 **अणिमा** का समर्पण 325
6 **अणिमा** की भूमिका 325

7 बेला का समर्पण 326
8 बेला की भूमिका 326
9 नये पत्ते का समर्पण 327
10 नये पत्ते की भूमिका 327

कविताएँ (1950-1961)

1 भव-अर्णव की तरणी तरुणा 331
2 तन की, मन की, धन की हो तुम 331
3 भज, भिखारी, विश्वभरणा 332
4 समझा जीवन की विजया हो 333
5 पंक्ति-पंक्ति में मान तुम्हारा 333
6 दुरित दूर करो नाथ 334
7 भव-सागर से पार करो हे 334
8 रमण मन के, मान के तन 335
9 वन जाय भले शुक की उक से 336
10 लगी लगन, जगे नयन 336
11 शिशिर की शर्वरी 337
12 आशा-आशा भरे 337
13 गत शत पथ पर 338
14 छाँह न छोड़ी 339
15 साधो मग डगमग पग 339
16 सोयीं अखियाँ 340
17 तिमिरदारण मिहिर दरसो 340
18 तुम जो सुथरे पथ उतरे हो 341
19 जिनकी नहीं मानी कान 342
20 दीप जलता रहा 342
21 आँख लगायी 343
22 दो सदा सत्संग मुझको 343
23 चंग चढ़ी थी हमारी 344
24 नयन नहाये 345
25 रंग भरी किस अंग भरी हो 345
26 सरल तार, नवल गान 346
27 पार संसार के 347
28 प्रथम बन्दूँ पद विनिर्मिल 347
29 पैर उठे, हवा चली 348
30 और न अब भरमाओ 349
31 दे न गये बचने की 349
32 अलि की गूँज चली द्रुम-कुंजों 350
33 आज प्रथम गायी पिक पंचम 350
34 फूटे हैं आमों में बौर 351
35 खेलूँगी कभी न होली 351
36 प्यास लगी है, बुझाओ 352
37 केशर की, कलि की पिचकारी 353
38 बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु 353
39 गिरते जीवन को उठा दिया 354
40 धीरे-धीरे हँसकर आयीं 354
41 निविड़ विपिन, पथ अराल 355
42 सुर तरु वर शाखा 355
43 तुम ही हुए रखवाल 356
44 वेदना बनी 357
45 आँख बचाते हो 357
46 हरि का मन से गुणगान करो 358
47 खुलकर गिरती है 358
48 नव तन कनक किरण फूटी है 359
49 घन तम से आवृत धरणी है 360
50 नव जीवन की बीन बजायी 360
51 पाप तुम्हारे पाँव पड़ा था 361
52 तन, मन, धन वारे हैं 361
53 वे कह जो गये कल आने को 362
54 क्यों मुझको तुम भूल गये हो ? 362
55 तुमसे जो मिले नयन 363
56 वन-वन के झरे पात 364
57 मानव का मन शान्त करो हे 364
58 जीवन के मधु से भर दो मन 365
59 तुमने स्वर के आलोक-ढले 365
60 लिया दिया तुमसे मेरा था 366
61 गीत गाने दो मुझे तो 367
62 सहज-सहज कर दो 367
63 वासना-समासीना 368
64 ये दुख के दिन 369

R
०८१
नि.द२नि.2
72793

65 कुंज-कुंज कोयल बोली है 369
66 हार तुमसे बनी है जय 370
67 अट नहीं रही है 370
68 कौन गुमान करो
जिन्दगी का ? 371
69 छोड़ दो, न छेड़ो टेढ़े 371
70 प्रिय के हाथ लगाये जागी 372
71 तार-तार निकल गये 372
72 लघु तटनी,
तट छायीं कलियाँ 373
73 हार गयी मैं तुम्हें जगाकर 374
74 तरणि तार दो 374
75 गीत गाये हैं मधुर स्वर 375
76 हँसो अधर-धरी हँसी 376
77 कठिन यह संसार 376
78 नील जलधि जल 377
79 क्या सुनाया गीत, कोयल 377
80 भजन कर हरि
के चरण, मन 378
81 अनमिल-अनमिल मिलते 378
82 मुदे नयन, मिले प्राण 379
83 जननि, मोह की रजनी 379
84 उनसे संसार 380
85 मधुर स्वर तुमने बुलाया 381
86 गवना न करा 381
87 कैसी हुई हार तेरी 382
88 तुम आये, कनकाचल छाये 382
89 खोले अमलिन जिस दिन 38
90 तू दिगम्बर, विश्व है घर 383
91 कौन फिर तुझको बरेगा 384
92 हरिण-नयन हरि
ने छीने हैं 384
93 हुए पार द्वार-द्वार 385
94 पथ पर वेमौत न मर 385
95 कनक कसौटी पर
कढ़ आया 386
96 साध पुरी, फिरी धुरी 386
97 पतित हुआ हूँ भव से तार 387
98 पतितपावनी, गंगे 388
99 चरण गहे थे 389
100 विपद-भय-
निवारण करेगा 389
101 श्याम-श्यामा के
युगल पद 390
102 काम के छवि-धाम 390
103 हे जननि,
तुम तपश्चरिता 391
104 किरणों की परियाँ
मुसका दीं 391
105 तुम्हारी छाँह है, छल है 392
106 माँ, अपने
आत [illegible]
107 चलीं [illegible]
108 तपी [illegible]
सित [illegible]
109 मुक्ता [illegible]
बाद [illegible]
110 गगन [illegible]
गान [illegible]
111 बीन [illegible]
112 घन अ [illegible]
घन [illegible]
113 तपन से घन,
मन शयन से 396
114 निर्झर केशर के शर के हैं 397
115 फूल खिले··नयन मिले 397
116 गोरे अधर मुसकायी 397
117 कैसी सुहाई जुन्हायी 398
118 मुस्कुरा दीं रातरानी 399
119 सभी तुम्हारे जीते, हारे 399
120 दे सकाल, काल, देश 400
121 पद्मा के पद को पाकर हो 400
122 दुख के सुख जियो 401
123 धाये धाराधरधावन हे ! 401
124 आयीं कल जैसी पल 402
125 कमल-कमल, युगपदतल 402

72793

126 मरा हूँ हज़ार मरण 403
127 अरधान की फैल 403
128 रँग-रँग से यह गागर भर दो 404
129 छेड़ दे तार तू पुनर्वार 405
130 आज मन पावन हुआ है 405
131 सुख के दिन भी याद तुम्हारी 406
132 कृष्ण कृष्ण राम राम 406
133 ऊर्ध्व चन्द्र, अधर चन्द्र 407
134 कामरूप, हरो काम 407
135 हार गया 408
136 द्वार पर तुम्हारे 408
137 नील नील पड़ गये प्राण वे 409
138 छोटा है तो जी छोटा कर 409
139 साँझ के माझ के प्राण-धन 410
140 राम के हुए तो बने काम 410
141 विपदा हरण हार हरि हे 411
142 दुखता रहता है अब जीवन 411
143 ओस पड़ी, शरद् आयी 412
144 मेरी सेवा ग्रहण करो हे 413
145 जब तू रचना में हँस दी 413
146 हिम के आतप के तप झुलसो 414
147 नहीं रहते प्राणों में प्राण 414
148 दुख हर दे, जल-शीतल सर दे 415
149 सुख का दिन डूबे डूब जाय 415
150 छलके छल के पैमाने क्या 416
151 सूने हैं साज आज 416
152 (जब) हाय समायी है 417
153 हे मानस के सकाल ! 417
154 मारकर हाथ भव-वारिधि तरो 418
155 सत्य पाया जहाँ जग ने 418
156 बाँधो रस के निर्झर 419
157 मेरा फूल न कुम्हला पाये 419
158 पालो तुम सकल शकल 420
159 तप के बन्धन बाँधो 420
160 जावक-जय चरणों पर छायी 421
161 पल-प्रकाश को शाश्वत कर 421
162 पार-पारावार जो है 422
163 बात न की तो क्या बन आती ? 422
164 मानव के तन केतन फहरे 423
165 नील नयन, नील पलक 423
166 मन का समाहार 424
167 हँसो मेरे नयन 424
168 अशरण-शरण राम 425
169 जीकर जो प्राण न मार सके 425
170 तुमसे लाग लगी जो मन की 426
171 हरि-भजन करो भू-भार हरो 426
172 दुख भी सुख का बन्धु बना 427
173 काल स्रोत में मेरे प्रियजन 427
174 ज्योति प्रात, ज्योति रात 428
175 नाचो हे, रुद्र ताल 428
176 नहीं घर-घर गेह अब तक 429
177 सीधी राह मुझे चलने दो 429
178 अभय शंख बजा तुम्हारा 430
179 कुंजों की रात प्रभात हुई 430
180 चल समीर, चल कलिदल 431
181 वही चरण शरण बने 431
182 लो रूप, लो नाम 432
183 भग्न तन, रुग्ण मन 432
184 वन-उपवन खिल आयीं कलियाँ 433
185 रँगे जल के फलक 433
186 भवन, भुवन हो गया 434
187 छोटी तरणी 434
188 जय अजेय, अप्रमेय 435
189 रहते दिन दीन शरण भज ले 435

190 तिमिर हरण
तरणितरण··· 436
191 बाँसुरी जो बजी 436
192 सजी क्या तन तुम्हारे
लिए हे प्रमन 437
193 ऊँट-बैल का साथ हुआ है 437
194 मानव जहाँ बैल घोड़ा है 438
195 खेत जोतकर घर आये हैं 438
196 महकी साड़ी 439
197 जैसे जोबन 439
198 बान कूटता है 440
199 भरी तन की भरण 440
200 रमणी न रमणीय 441
201 खिरनी के पेड़ के तले 441
202 आँखें जहाँ प्रेमिका की थीं 442
203 मन न मिले न मिले
हरि के पद 442
204 क्षीण भी छाँह तुमने छीनी 443
205 आँख-अधर रँग भर गये हैं 443
206 रँग गये साँवले नयन
अली के 444
207 बुझी दिल की न लगी मेरी 444
208 पारस, मदन
हिलोर न दे तन 445
209 शाप तुम्हारा··· 445
210 वरद हुईं शारदाजी हमारी 446
211 फेर दी आँख जी आया 446
212 बौरे आम कि भौंरे बोले 447
213 कूची तुम्हारी फिरी
कानन में 447
214 प्राण तुम पावन-सावन गात 448
215 श्याम-गगन नव-घन
मँडलाये 448
216 बढ़-बढ़कर बहती पुरवाई 449
217 जिधर देखिए,
श्याम विराजे 449
218 बादल रे, जी तडपे 450
219 आओ आओ, वारिद वन्दन 450
220 गगन मेघ छाये 451
221 केश के मेचक मेघ छुटे 451
222 जी में न लगी जो
विकल प्यास 452
223 पड़ी चमेली की माला कल 452
224 रूपक के रथ रूप तुम्हारा 453
225 नख सिख लिखे-लिखे 453
226 स्वर में छायानट भर दो 454
227 धिक मनस्सब, मान,
गरजे बदरवा 454
228 फिर नभ घन घहराये 455
229 खेल सिखी अखियाँ 455
230 फिर उपवन में
खिली चमेली 456
231 शुभ्र शरत् आयी
अम्बर पर 456
232 मालती खिली,
कृष्ण मेघ की 457
233 भर गया जुही के
गन्ध पवन 457
234 प्यासे तुमसे भरकर हरसे 458
235 सरसि सलिल कहता 458
236 मधुर मधुर, मृत्यु मधुर 459
237 प्यार की थाती यह पाती 460
238 शरत की शुभ्र गन्ध फैली 460
239 समझे मनोहारि
वरण जो हो सके 461
240 यह जी न भरा तुमसे मेरा 461
241 रहो तुम 462
242 सभी लोगों में
योग-ध्यान बने··· 463
243 नयी ज्यातियाँ पायीं··· 463
244 कैसे नये तने··· 463
245 तेरी पाती
भरन जानी है··· 464
246 ये बालों के बादल छाये 464
247 बरसो मेरे आँगन, बादल 465
248 फिर बेले में कलियाँ आयीं 466

249 जय तुम्हारी देख भी ली 466
250 सुख के सारे साज तुम्हारे 467
251 वारि वन वनवारि 468
252 तुम्हारी हवा से सोये 468
253 काँपे जीवन के जीर्ण याम 469
254 गूँजे नभ-नभ घन के गर्जन 469
255 गहरी विभावरी शीत की 470
256 तुम्हारे काम तुम्हारे नाम 471
257 घट बाँहों के उलटे, ढलके 471
258 चाहो जितना, करो करद तुम 472
259 सरल न हुए न छुए वे चरण 472
260 शीत की गहरी विभावरी 473
261 इमन बजा 473
262 उन्मेष, देश, जन 474
263 डमड डम डमम डम 474
264 फूलों के दीपों की माला 475
265 तुम आओ, सुहाओ, हमारी गली 476
266 तुम्हारे आँगन में छाये 476
267 बाँध दो बाँध तटिनी के तट 477
268 तुम्हारी छाँह, तुम्हारी बाँह 477
269 तुम्हारे आसरे, हारे हुए··· 478
270 हुआ जो काव्य का सिंचन 478
271 पहले के गीत जानूँ 479
272 छाया के दृश्यों से उतरे 479
273 कैसे आँखों को परिसर दे ? 480
274 किसी के सामने आये··· 481
275 शंकर शुभङ्कर हुए··· 481
276 छन-छन छल-छल जीवन प्रतिपल 482
277 सहज फूले फले उपवन 482
278 मेटिनी वाली वारी दे वारी धना 483
279 हाथ वीणा, समासीना 483
280 पत्रोत्कंठित, जीवन का विष··· 484

परिशिष्ट

मौलिक कविताएँ

1 धिक मद, गरजे बदरवा 489
2 ताक कमसिनवारि 489
3 जगने दिया जो न दिया जगने··· 490
4 निपट कपट तुम श्याम 490
5 पनघटवा गारि दै बजुरमारे 490
6 खेलत रहलूँ अगनवाँ··· 491

भूमिका

1 **अर्चना** की भूमिका 495

कविताएँ

(1939-1949)

पहला दौर

प्रेम-संगीत

बम्हन का लड़का
मैं उसको प्यार करता हूँ।
जात की कहारिन वह,
मेरे घर की है पनहारिन वह,
आती है होते तड़का,
उसके पीछे मैं मरता हूँ।
कोयल-सी काली, अरे,
चाल नहीं उसकी मतवाली,
ब्याह नहीं हुआ, तभी भड़का,
दिल मेरा, मैं आहें भरता हूँ।
रोज़ आकर जगाती है सबको,
मैं ही समझता हूँ इस ढब को,
ले जाती है मटका बड़का,
मैं देख-देखकर धीरज धरता हूँ।

[रचनाकाल : 22 फरवरी, 1939। पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

जन-जन के जीवन के सुन्दर

जन-जन के जीवन के सुन्दर
हे चरणों पर
भाव-वरणभर
दूँ तन-मन-धन न्योछावर कर।

दाग़-दग़ा की
आग लगा दी
तुमने जो जन-जन की, भड़की;
करूँ आरती मैं जल-जल कर।
गीत जगा लो
गले लगा लो,
हुआ ग़ैर जो, सहज सगा हो,
करे पार जो है अति दुस्तर।

[रचनाकाल: 1939 ई.। 'कमला', मासिक, बनारस, नवम्बर, 1929, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

सुन्दर हे, सुन्दर !

सुन्दर हे, सुन्दर !
दर्शन से जीवन पर
बरसे अनिश्वर स्वर।
परसे ज्यों प्राण,
फूट पड़ा सहज गान,
तान-सुरसरिता बही
तुम्हारे मङ्गल-पद छूकर।
उठी है तरङ्ग,
बहा जीवन निस्सङ्ग,
चला तुमसे मिलन को
खिलने को फिर फिर भर भर।

[रचनाकाल : 1939 ई.। 'साधना', मासिक, आगरा, नवम्बर, 1939, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर

तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर,
जो द्वार-द्वार फिरकर
भीख मांगता कर फैलाकर।

भूख अगर रोटी की ही मिटी,
भूख की जमीन न चौरस पिटी,
और चाहता है वह कौर उठाना कोई
देखो, उसमें उसकी इच्छा कैसे रोई,
द्वार-द्वार फिरकर
भीख माँगता कर फैलाकर—
तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर।

देश का, समाज का,
कर्णधार हो किसी जहाज का,
पार करे कैसा भी सागर,
फिर भी रहता है चलना उसे,
फिर भी रहता है पीछे डर;
चाहता वहाँ जाना वह भी
नहीं चलाना जहाँ जहाज, नहीं सागर,
नहीं डूबने का भी जहाँ डर।
तुम्हें चाहता है वह, सुन्दर,
जो द्वार-द्वार फिरकर
भीख माँगता कर फैलाकर।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1939 ('गीत' शीर्षक से)। **अणिमा** में संकलित]

रानी और कानी

माँ उसको कहती है रानी
आदर से, जैसा है नाम;
लेकिन उसका उल्टा रूप,
चेचक के दाग़, काली, नक-चिप्टी,
गंजा - सर, एक आँख कानी।
रानी अब हो गयी सयानी,
बीनती है, काँड़ती है, कूटती है, पीसती है,
डलियों के सीले अपने रूखे हाथों मीसती है,
घर बुहारती है, करकट फेंकती है,
और घड़ों भरती है पानी;
फिर भी माँ का दिल बैठा रहा,
एक चोर घर में पैठा रहा,
सोचती रहती है दिन-रात
कानी की शादी की बात,
मन मसोसकर वह रहती है
जब पड़ोस की कोई कहती है—
"औरत की ज़ात रानी,
ब्याह भला कैसे हो
कानी जो है वह!"
सुनकर कानी का दिल हिल गया,
काँपे कुल अङ्ग,
दायीं आँख से
आँसू भी बह चले माँ के दुख से,
लेकिन वह बायीं आँख कानी
ज्यों-की-त्यों रह गयी रखती निगरानी।

[रचनाकाल : 1939 ई.। 'तरुण', मासिक, इलाहाबाद, जनवरी, 1940, में प्रकाशित। पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

उन चरणों में मुझे दो शरण

उन चरणों में मुझे दो शरण।
इस जीवन को करो हे मरण।

बोलूँ अल्प, न करूँ जल्पना,
सत्य रहे, मिट जाय कल्पना,
मोह-निशा की स्नेह-गोद पर
सोये मेरा भरा जागरण।

आगे-पीछे दायें-बायें
जो आये थे वे हट जायें,
उठे सृष्टि से दृष्टि, सहज मैं
करूँ लोक-आलोक-सन्तरण।

[रचनाकाल : 1939 ई.। 'वीणा,' मासिक, इन्दौर, मई, 1940, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

दलित जन पर करो करुणा

दलित जन पर करो करुणा।
दीनता पर उतर आये
प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरुणा।
हरे तन-मन प्रीति पावन,
मधुर हो मुख मनोभावन,
सहज चितवन पर तरङ्गित
हो तुम्हारी किरण तरुणा।
देख वैभव न हो नत सिर,
समुद्धत मन सदा हो स्थिर,
पार कर जीवन निरन्तर
रहे बहती भक्ति-वरुणा।

[रचनाकाल : 1939 ई.। **अणिमा** में संकलित]

भाव जो छलके पदों पर

भाव जो छलके पदों पर,
न हों हलके, न हों नश्वर ।
चित्त चिर-निर्मल करे वह,
देह-मन शीतल करे वह,
ताप सब मेरे हरे वह
नहा आयी जो सरोवर ।
गन्धवह हे, धूप मेरी
हो तुम्हारी प्रिय चितेरी,
आरती की सहज फेरी
रवि, न कम कर दे कहीं कर ।

[रचनाकाल : 1939 ई. । **अणिमा** में संकलित]

बापू के प्रति

बापू, तुम मुर्ग़ी खाते यदि,
तो क्या भजते होते तुमको
ऐरे-ग़ैरे नत्थू-खैरे—?—
सर के बल खड़े हुए होते
हिन्दी के इतने लेखक-कवि,
बापू, तुम मुर्ग़ी खाते यदि ?

बापू, तुम मुर्ग़ी खाते यदि,
तो लोकमान्य से क्या तुमने
लोहा भी कभी लिया होता ?—
दक्खिन में हिन्दी चलवाकर
लखते हिन्दुस्तानी की छवि,
बापू, तुम मुर्ग़ी खाते यदि ?

बापू, तुम मुर्ग़ी खाते यदि
तो क्या अवतार हुए होते
कुल-के-कुल कायथ-बनियों के ?
दुनिया के सबसे बड़े पुरुष
आदम-भेड़ों के होते भी !
बापू, तुम मुर्ग़ी खाते यदि ?

बापू, तुम मुर्ग़ी खाते यदि
तो क्या पटेल, राजन, टण्डन,
गोपालाचारी भी भजते ?—
भजता होता तुमको मैं औ'
मेरी प्यारी अल्लारक्खी,
बापू, तुम मुर्ग़ी खाते यदि !

['विचार', साप्ताहिक, कलकत्ता, 14 जुलाई, 1940। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

भगवान् बुद्ध के प्रति

आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट देख रहा; सुख के लिए खिलौने जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन; केवल पैसे
आज लक्ष्य में हैं मानव के; स्थल-जल-अम्बर
रेल-तार-बिजली-जहाज नभयानों से भर
दर्प कर रहे हैं मानव, वर्ग से वर्गगण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण।
हँसते हैं जड़वादग्रस्त, प्रेत ज्यों परस्पर,
विकृत-नयन मुख, कहते हुए, अतीत भयङ्कर
था मानव के लिए, पतित था वहाँ विश्वमन,
अपटु अशिक्षित वन्य हमारे रहे बन्धुगण;
नहीं वहाँ था कहीं आज का मुक्त प्राण यह,
तर्कसिद्ध है, स्वप्न एक है विनिर्वाण यह।

वहाँ बिना कुछ कहे, सत्य-वाणी के मन्दिर,
जैसे उतरे थे तुम, उतर रहे हो फिर फिर
मानव के मन में,—जैसे जीवन में निश्चित
विमुख भोग से, राजकुँवर, त्यागकर सर्वस्थित
एकमात्र सत्य के लिए, रूढ़ि से विमुख, रत
कठिन तपस्या में, पहुँचे लक्ष्य को, तथागत !
फूटी ज्योति विश्व में, मानव हुए सम्मिलित,
धीरे-धीरे हुए विरोधी भाव तिरोहित;
भिन्न रूप से भिन्न-भिन्न धर्मों में सञ्चित
हुए भाव, मानव न रहे करुणा से वञ्चित;
फूटे शत-शत उत्स सहज मानवता-जल के
यहाँ वहाँ पृथ्वी के सब देशों में छलके;
छल के, बल के पङ्किल भौतिक रूप अदर्शित
हुए तुम्हीं से, हुई तुम्हीं से ज्योति प्रदर्शित ।

[रचनाकाल : 1940 ई. । 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1940, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

मास्को डायेलाग्स

मेरे नये मित्र हैं श्रीयुत गिडवानीजी,
बहुत बड़े सोश्यलिस्ट,
"मास्को डायेलाग्स" लेकर आये हैं मिलने ।
मुस्कराकर कहा, "यह मास्को डायेलाग्स है,
सुभाष बाबू ने इसे जेल में मँगाया था ।
भेंट किया था मुझको जब थे पहाड़ पर ।
'३५ तक, मुश्किल से पिछड़े इस मुल्क में
दो प्रतियाँ आयी थीं ।"
फिर कहा, "वक़्त नहीं मिलता है,
बड़े भाई साहब का बँगला बन रहा है,
देखभाल करता हूँ ।"
फिर कहा, "मेरे समाज में बड़े-बड़े आदमी हैं,

एक - से हैं एक मूर्ख;
उनको फँसाना है,
ऐसे कोई साला एक धेला नहीं देने का।
उपन्यास लिखा है,
ज़रा देख दीजिए।
अगर कहीं छप जाय
तो प्रभाव पड़ जाय उल्लू के पट्ठों पर;
मनमाना रुपया फिर ले लूँ इन लोगों से;
नये किसी बँगले में एक प्रेस खोल दूँ;
आप भी वहाँ चलें,
चैन की बंसी बजे।"
देखा उपन्यास मैंने,
श्रीगणेश में मिला—
"पृय असनेहमयी स्यामा मुझे प्रैम है।"
इसको फिर रख दिया, देखा "मास्को डायेलाग्स",
देखा गिडवानी को।

[रचनाकाल : 1940 ई.। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1940, में प्रकाशित ('मस्को-डायलाग्स', शीर्षक से)। पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

धूलि में तुम मुझे भर दो

धूलि में तुम मुझे भर दो।
धूलि-धूसर जो हुए पर
उन्हीं के वर वरण कर दो।

दूर हो अभिमान, संशय,
वर्ण-आश्रम-गत महामय,
जाति-जीवन हो निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो।

फूल जो तुमने खिलाया,
सदल क्षिति में ला मिलाया,
मरण से जीवन दिलाया
सुकर जो वह मुझे वर दो।

[रचनाकाल : 1940 ई.। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1940, में प्रकाशित ('गीत' शीर्षक से)। **अणिमा** में संकलित]

तुम और मैं

झुकता है सर,
दुनिया से मैं धोखा खाकर
गिरता हूँ जब
मुझे उठा लेते हो तुम तब
ज्यों पानी को किरन, तपाकर।
फिर दुनिया की आँखों से मुझको ओझल कर
रखते आसमान पर,
बादल मुझे बनाते
रंग किरनों से भरते हो सुन्दर;
मुझे उड़ाते रहते हो फिर हवा-हवा पर;
तर सागर-वन
नदी आर्द्र घन
मैं देखता देश-देशान्तर;
तब यह जग आहें भर-भर
कहता है, 'आओ, जलधर!'
गरज-गरज बिजली कड़काकर
(जब कहते हो, जाओ, प्यारे,)
लाख-लाख बूंदों से मैं टूटता गगन से
जैसे तारे।
मिट जाती है जलन
मगर मैं आ जाता हूँ फिर मिट्टी पर
पर तुम मुझे उठाते हो फिर
छिपे कली के दिल के अन्दर।
जड़ से चढ़कर,
तने-शाख-डण्ठल से होकर,
रहता हूँ अविकच कलिका के
जीवन में मैं जीवन खोकर।
जब वह खिलती,
आँखें लड़ा-लड़ाकर मिलती,
उसे तोड़कर,
मालिन सुई चलाती है मुँह मोड़-मोड़कर,
मैं खुशबू में उड़ता हूँ तब,
उसी गगन पर, मुक्त-पंख भर,
धरा छोड़कर।

['आरती', मासिक, पटना सिटी, नवम्बर-दिसम्बर (संयुक्तांक), 1940। **अणिमा** में संकलित]

आदरणीय प्रसादजी के प्रति

हिन्दी के जीवन हे, दूर गगन के द्रुततर
ज्योतिर्मय तारा-से उतरे तुम पृथ्वी पर;
अन्धकार कारा यह, बन्दी हुए मुक्तिधन,
भरने को प्रकाश करने को जनमन चेतन;
जीना सिखलाने को कर्मनिरत जीवन से,
मरना निर्भय मन्दहासमय महामरण से;
लोकसिद्ध व्यवहार ऋद्धि से दिखा गये तुम,
छोड़ा है छिड़ने पर सुघर कलामय कुंकुम;
उठा प्रसङ्ग-प्रसङ्गान्तर रँग-रँग से रँगकर
तुम ने बना दिया है वानर को भी सुन्दर;
किया मूक को मुखर, लिया कुछ, दिया अधिकतर,
पिया गरल, पर किया जाति-साहित्य को अमर।
तुम बसन्त-से मृदु, सरसी के सुप्त सलिल पर
मन्द अनिल से उठा गये हो कम्प मनोहर,
कलियों में नर्तन, भौंरों में उन्मद गुन्जन,
तरुण-तरुणियों में शतविध जीवन-व्रत-भुन्जन,
स्वप्न एक आँखों में, मन में लक्ष्य एक स्थिर,
पार उतरने की संसृति में एक टेक चिर;
अपनी ही आँखों का तुम ने खींचा प्रभात,
अपनी ही नयी उतारी सन्ध्या अलस-गात,
तारक-नयनों की अन्धकार-कुन्तला रात
आयी, सुरसरि-जल-सिक्त मन्द-मृदु बही वात,
कितनी प्रिय बातों से वे रजनी-दिवस गये कट,
अन्तराल जीवन के कितने रहे, गये हट,
सहज सृजन से भरे लता-द्रुम किसलय-कलि-दल,
जगे जगत् के जड़ जल से वासन्तिक उत्पल,
पके खेत लहरे, सोना-ही-सोना चमका,
सुखी हुए सब लोग, देश में जीवन दमका,
हुआ प्रवर्तन, खुली तुम्हारी ही आँखों से
उड़ने लगे विहग ज्यों युवक मुक्त पाँखों से;
खोये हुए राह के, भूले हुए कभी के
बढ़े मुक्ति की ओर भाव पा अपने जी के।
फूटा ग्रीष्म तुम्हारे जीवन का, दिङ्मण्डल
तपा, चली लू, लपटें उठने लगीं, अमङ्गल

फैला, आहों से लोगों की पृथ्वी छायी,
बढ़ा त्रास, फिर अपलापों की बारी आयी,
रहित बुद्धि से लोग असंयत हुए अनर्गल,
किन्तु नहीं तुम हिले, तुम्हारे उमड़े बादल,
गरजे सारा गगन घेर बिजली कड़काकर,
काँपे वे कापुरुष सभी अपने-अपने घर,
धारा झरझर झरी, घटा फिर फिर घिर आयी,
सौ सौ छन्दों में फूटी रागिनी सुहायी
सावन की, निर्बल दबके दल-के-दल वे जन,
अपने घर में करते भला-बुरा आलोचन;
भरी तुम्हारी धरा हरित साड़ी पहने ज्यों
युवती देख रही हो नभ को नहीं जहाँ क्यों।

आयी शरत तुम्हारी, आयत-पङ्कज-नयना,
हरसिंगार के पहन हार ज्योतिर्मय-अयना;
एक बार फिर से लोगों को सिन्धुस्नान कर
निकला हुआ दिखा काशी में इन्दु मनोहर—
विजय तुम्हारी, लिये हृदय में लाञ्छन सुन्दर
अस्त हो गया कीर्ति तुम्हारी गा अविनश्वर।

हे चतुरङ्ग, तुम्हारी विजयध्वजा धारण कर
खड़े सुमित्रानन्दन, देवी, मोहन, दिनकर,
माखनलाल, नवीन, भगवती, चन्द्र, आरसी,
कमल, प्रभात, सुभद्रा, अञ्चल, अज्ञेयशशी
कितने रवि, केसरी, कुमार, नरेन्द्र, रमा, ये
रामविलास, प्रदीप, जानकीवल्लभ जागे,
भिन्न रूप-रँग के, पर एक लक्ष्य के सक्षम
कितने और तुम्हारी करते पूर्ति मनोरम
गद्य-पद्य की, प्रतिभा की, साहित्य-समर की,
सुमन, विनोद, उग्र, पाठक, बेढब बनारसी,
नन्ददुलारे, चन्द्र प्रकाश कुवँर, शिवमङ्गल,
इलाचन्द्र, बच्चन, हृदयेश, सुमित्रा, निर्मल,
कोकिल, विनयकुमार, श्याम, शाखाल, मञ्जु, छवि
नीलकण्ठ, सर्वदानन्द, गिरिजा, गुलाब कवि,
शिवपूजन, गङ्गाप्रसाद, बलभद्र, अश्क, श्री
लली, उदयशङ्कर, द्विज, मुकुल, अरुण, सावित्री।

यौवन का हेमन्त तुम्हारा भर लहराया
एक छोर से अन्य छोर तक जीवन छाया,
गेहूँ की, अरहर की, जौ की, चने-मटर की
हरियाली-ही-हरियाली फैली, घर-घर की
खेती ज्वार-बाजरे की आयी कट-कटकर,
सुखी हुए सब जन अपने अपने सुन्दर घर
खुशियाँ लगे मनाने, हुआ हृदय में निश्चय—
बदले दिन जो रहे हमारे, अब हम निर्भय,—
बढ़े हुए जो, उनकी आँखों पर आँखें रख
बातचीत कर सकते हैं हम, अब कोई पख
लगा नहीं सकता, दीनता हमारी पहली
नहीं रही वह; पुराङ्गनाओं ने हँस कह ली
श्री की कथा, दीप से ज्योतित कर अन्तःपुर,
नम्र देखती मधुर, प्रकाशित करती-सी उर
अन्य जनों का, तरुणी पुस्तक पाठ में लगी
आदर करती-सी अतीत का, प्राण में जगी
वर्तमान की ओर बढ़ी।
अपने में निश्चल
युगप्रवर्तक, हुए शीत में व्याधि से विकल,
रहा साथ मैं नतमस्तक, सेवा को; अग्रज,
चले गये तुम धरा छोड़ गौरव-विजय ध्वज !

[रचनाकाल : 1940 ई.। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1940, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

गर्म पकौड़ी

गर्म पकौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी !
तेल की भुनी,
नमक - मिर्च की मिली,
ऐ गर्म पकौड़ी !

मेरी जीभ जल गयी,
सिसकियाँ निकल रहीं,
लार की बूँदें कितनी टपकीं,
पर दाढ़ तले तुझे दबा ही रक्खा मैंने
कंजूस ने ज्यों कौड़ी।
पहले तूने मुझको खींचा,
दिल लेकर फिर कपड़े-सा फींचा,
अरी, तेरे लिए छोड़ी
बम्हन की पकायी
मैंने घी की कचौड़ी।

[रचनाकाल : 1940 ई.। पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

मैं अकेला

मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।

पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला।
जानता हूँ, नदी-झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख,
कोई नहीं भेला*।

*भेला—पुराने ढङ्ग की नाव।

[रचनाकाल : 1940 ई.। **अणिमा** में संकलित]

मैं बैठा था पथ पर

मैं बैठा था पथ पर,
तुम आये चढ़ रथ पर।

हँसे किरण फूट पड़ी,
टूटी जुड़ गयी कड़ी,
भूल गये पहर-घड़ी,
आयी इति अथ पर।

उतरे, बढ़ गही बाँह,
पलकों की पड़ी छाँह,
शीतल हो गयी देह,
बीती अविकथ पर।

[रचनाकाल : 1940 ई.। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, जनवरी, 1941, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

श्रद्धांजलि

(आचार्य शुक्लजी के प्रति)

अमा निशा थी समालोचना के अम्बर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।
दीप्ति-द्वितीया हुई लीन खिलने से पहले
किन्तु निशाचर सन्ध्या के अन्तर में दहले।
स्पष्ट तृतीया, खिंची दृष्टि लोगों की सहसा,
छिड़ी सिद्ध साहित्यिक से तुमसे जब बचसा।
मुक्त चतुर्थी, समालोचना वधू ब्याहकर
लाये तुम, पञ्चमी काव्यवाणी अपने घर।
षष्ठी, छः ऐश्वर्य प्रदर्शित कोष प्राण में;
शिक्षण की सप्तमी, महार्णव सप्त ज्ञान में।

दिये अष्टमी आठों वसु टीकाओं में भर,
नवमी शान्ति ग्रहों की, दशमी विजित दिगम्बर।
एकादशी रुद्रता, रामा कला द्वादशी,
त्रयोदशी-प्रदोष-गत चतुर्दशी-रत्न शशी।

[सम्भावित रचनाकाल : 1941 ई. का पूर्वार्ध। **अणिमा** में संकलित]

कुकुरमुत्ता

[1]

एक थे नव्वाब,
फ़ारस के मँगाये थे गुलाब।
बड़ी बाड़ी में लगाये
देशी पौधे भी उगाये
रखे माली कई नौकर
ग़ज़नवी का बाग़ मनहर
लग रहा था।
एक सपना जग रहा था
साँस पर तहजीब की,
गोद पर तरतीब की।
क्यारियाँ सुन्दर बनी
चमन में फैली घनी।
फूलों के पौधे वहाँ
लग रहे थे खुशनुमा।
बेला, गुलशब्बो, चमेली, कामिनी,
जुही, नरगिस, रातरानी, कमलिनी,
चम्पा, गुलमेंहदी, गुलखैरू, गुलअब्बास,
गेंदा, गुलदाऊदी, निवाड़ी, गन्धराज,
और कितने फूल, फ़व्वारे कई,
रंग अनेकों—सुर्ख़, धानी, चम्पई,
आसमानी, सब्ज़, फ़ीरोज़ी, सफेद,
ज़र्द, बादामी, बसन्ती, सभी भेद।

फलों के भी पेड़ थे,
आम, लीची, सन्तरे और फालसे।
चटक़ती कलियाँ, निकलती मृदुल गन्ध,
गले लगकर हवा चलती मन्द-मन्द,
चहकते बुलबुल, मचलती टहनियाँ,
बाग़ चिड़ियों का बना था आशियाँ।
साफ़ राहें, सरो दोनों ओर,
दूर तक फैले हुए कुल छोर,
बीच में आरामगाह
दे रही थी बड़प्पन की थाह।
कहीं झरने, कहीं छोटी-सी पहाड़ी,
कहीं सुथरा चमन, नक़ली कहीं झाड़ी।

आया मौसिम, खिला फ़ारस का गुलाब,
बाग़ पर उसका पड़ा था रोबोदाब;
वहीं गन्दे में उगा देता हुआ बुत्ता
पहाड़ी से उठे-सर ऐंठकर बोला कुकुरमुत्ता—
"अबे, सुन बे, गुलाब,
भूल मत जो पायी खुशबू, रङ्गोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतराता है केपीटलिस्ट!
कितनों को तू ने बनाया है ग़ुलाम,
माली कर रक्खा, सहाया जाड़ा-घाम,
हाथ जिसके तू लगा,
पैर सर रखकर व' पीछे को भगा
औरत की जानिब मैदान यह छोड़कर,
तबेले को टट्टू जैसे तोड़कर,
शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा
तभी साधारणों से तू रहा न्यारा।
वरना क्या तेरी हस्ती है, पोच तू
काँटों ही से भरा है यह सोच तू
कली जो चटकी अभी
सूखकर काँटा हुई होती कभी।
रोज़ पड़ता रहा पानी,
तू हरामी ख़ानदानी।

चाहिए तुझको सदा मेहरुन्निसा
जो निकाले इत्र, रू, ऐसी दिशा
बहाकर ले चले लोगों को, नहीं कोई किनारा
जहाँ अपना नहीं कोई भी सहारा
ख़्वाब में डूबा चमकता हो सितारा
पेट में डँड़ पेले हों चूहे, ज़बाँ पर लफ़्ज़ प्यारा।

देख मुझको, मैं बढ़ा
डेढ़ बालिश्त और ऊँचे पर चढ़ा
और अपने से उगा मैं
बिना दाने का चुगा मैं
क़लम मेरा नहीं लगता
मेरा जीवन आप जगता
तू है नक़ली, मैं हूँ मौलिक
तू है बकरा, मैं हूँ कौलिक
तू रँगा और मैं धुला
पानी मैं, तू बुल्बुला
तू ने दुनिया को बिगाड़ा
मैंने गिरते से उभाड़ा
तू ने रोटी छीन ली ज़नखा बनाकर
एक की दीं तीन मैंने गुन सुनाकर।

काम मुझ ही से सधा है
शेर भी मुझसे गधा है।
चीन में मेरी नक़ल, छाता बना
छत्र भारत का वही, कैसा तना
सब जगह तू देख ले
आज का फिर रूप पैराशूट ले।
विष्णु का मैं ही सुदर्शनचक्र हूँ।
काम दुनिया में पड़ा ज्यों, वक्र हूँ।
उलट दे, मैं ही जसोदा की मथानी
और भी लम्बी कहानी—
सामने ला, कर मुझे बेंड़ा
देख कैंड़ा
तीर से खींचा धनुष मैं राम का।
काम का—

पड़ा कन्धे पर हूँ हल बलराम का।
सुबह का सूरज हूँ मैं ही
चाँद मैं ही शाम का।
कलजुगी मैं ढाल
नाव का मैं तला नीचे और ऊपर पाल।
मैं ही डाँड़ी से लगा पल्ला
सारी दुनियाँ तोलती ग़ल्ला
मुझसे मूछें, मुझसे क़ल्ला
मेरे लल्लू, मेरे लल्ला
कहे रुपया या अधन्ना
हो बनारस या न्यवन्ना
रूप मेरा, मैं चमकता
गोला मेरा ही बमकता।
लगाता हूँ पार मैं ही
डुबाता मझदार मैं ही।
डब्बे का मैं ही नमूना
पान मैं ही, मैं ही चूना।
मैं कुकुरमुत्ता हूँ,
पर बेन्ज़ाइन (Bengoin) वैसे
बने दर्शनशास्त्र जैसे।
ओम्फलस (Omphalos) और ब्रह्मावर्त
वैसे ही दुनिया के गोले और पर्त
जैसे सिकुड़न और साड़ी,
ज्यों सफाई और माड़ी।
कास्मोपालीटन् और मेट्रोपालीटन्
जैसे फ्रायड् और लीटन्।
फ़ेलसी और फ़लसफ़ा
ज़रूरत और हो रफ़ा।
सरसता में फ़्राड्
केपीटल् में जैसे लेनिनग्राड।
सच समझ जैसे रक़ीब
लेखकों में लण्ठ जैसे खुशनसीब।

मैं डबल जब, बना डमरू
इकबग़ल, तब बना वीणा।

मन्द्र होकर कभी निकला
कभी बनकर ध्वनि क्षीणा ।
मैं पुरुष और मैं ही अबला ।
मैं मृदङ्ग और मैं ही तबला ।
चुन्ने खाँ के हाथ का मैं ही सितार
दिगम्बर का तानपूरा, हसीना का सुरबहार ।
मैं ही लायर, लीरिक मुझसे ही बने
संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, ग्रीक, लैटिन के जने
मन्त्र, ग़ज़लें, गीत मुझसे ही हुए शैदा
जीते हैं, फिर मरते हैं, फिर होते हैं पैदा ।
वायलिन् मुझसे बजा
बेन्जो मुझसे सजा ।
घण्टा; घण्टी, ढोल, डफ, घड़ियाल,
शङ्ख, तुरही, मजीरे, करताल,
कारनेट्, क्लेरीअनेट्, ड्रम, फ़्लूट, गीटर,
बजानेवाले हसन खाँ, बुद्धू, पीटर,
मानते हैं सब मुझे ये बाँये से,
जानते हैं दाँये से ।

ताताधिन्ना चलती है जितनी तरह
देख, सब में लगी है मेरी गिरह ।
नाच में यह मेरा ही जीवन खुला
पैरों से मैं ही तुला ।
कत्थक हो या कथकली या बालडान्स,
क्लियोपेट्रा, कमल-भौंरा, कोई रोमान्स
बहेलिया हो, मोर हो, मणिपुरी, गरबा,
पैर, माझा, हाथ, गरदन, भौंहें मटका
नाच अफ्रीकन हो या यूरोपीयन,
सब में मेरी ही गढ़न ।
किसी भी तरह का हावभाव,
मेरा ही रहता है, सबमें ताव ।
मैंने बदले पैंतरे,
जहाँ भी शासक लड़े ।
पर हैं प्रोलेटेरियन झगड़े जहाँ,
मियाँ-बीबी के, क्या कहना है वहाँ ।
नाचता है सूदखोर जहाँ कहीं ब्याज डुचता,
नाच मेरा क्लाईमेक्स को पहुँचता ।

नहीं मेरे हाड़; काँटे, काठ या,
नहीं मेरा बदन आठोगाँठ का।
रस-ही-रस मैं हो रहा
सफ़ेदी को जहन्नम रोकर रहा।
दुनिया में सबने मुझी से रस चुराया,
रस में मैं डूबा-उतराया।
मुझी में ग़ोते लगाये वाल्मीकि-व्यास ने
मुझी से पोथे निकाले भास-कालिदास ने।
टुकुर-टुकुर देखा किये मेरे ही किनारे खड़े
हाफ़िज़-रवीन्द्र जैसे विश्वकवि बड़े-बड़े।
कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर
टी. एस. एलीयट ने जैसे दे मारा
पढ़नेवालों ने भी जिगर पर रखकर
हाथ, कहा, 'लिख दिया जहाँ सारा'।
ज़्यादा देखने को आँख दबाकर
शाम को किसी ने जैसे देखा तारा।
जैसे प्रोग्रेसीव का क़लम लेते ही
रोका नहीं रुकता जोश का पारा।
यहीं से यह कुल हुआ
जैसे अम्मा से बुआ।
मेरी सूरत के नमूने पीरामीड्
मेरा चेला था यूक्लीड्।
रामेश्वर, मीनाक्षी, भुवनेश्वर,
जगन्नाथ, जितने मन्दिर सुन्दर
मैं ही सबका जनक
जेवर जैसे कनक।
हो क़ुतुबमीनार,
ताज, आगरा या फ़ोर्ट चुनार,
विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता,
मस्जिद, बगदाद, जुम्मा, अलबत्ता
सेन्ट पीटर्स गिरजा हो या घण्टाघर,
गुम्बदों में, गढ़न में मेरी मुहर।
एरियन हो, पर्शियन या गाथिक आर्च
पड़ती है मेरी ही टार्च।
पहले के हों, बीच के या आज के
चेहरे से पिद्दी के हों या बाज़ के।

चीन के फ़ारस के या जापान के
अमरिका के, रूस के, इटली के, इँगलिस्तान के ।
ईंट के, पत्थर के हों या लकड़ी के
कहीं की भी मकड़ी के ।
बुने जाले जैसे मकाँ कुल मेरे
छत्ते के हैं घेरे ।

सर सभी का फाँसनेवाला हूँ ट्रेप
टर्की टोपी, दुपलिया या किश्ती-केप ।
और जितने, लगा जिनमें स्ट्रा या मेट,
देख, मेरी नक़्ल है अँगरेज़ी हेट ।
घूमता हूँ सर चढ़ा,
तू नहीं, मैं ही बड़ा ।"

[2]

बाग़ के बाहर पड़े थे झोंपड़े
दूर से जो दिख रहे थे अधगड़े ।
जगह गन्दी, रुका, सड़ता हुआ पानी
मोरियों में; ज़िन्दगी की लन्तरानी—
बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ
सेलरों की, परों की थीं गड्डियाँ
कहीं मुर्ग़ी, कहीं अण्डे,
धूप खाते हुए कण्डे ।
हवा बदबू से मिली
हर तरह की बासीली पड़ गयीं ।
रहते थे नव्वाब के ख़ादिम
अफ्रिका के आदमी आदिम—
खानसामाँ, बावर्ची और चोबदार;
सिपाही, साईस, भिश्ती, घुड़सवार,
तामजानवाले कुछ देशी कहार,
नाई, धोबी, तेली, तम्बोली, कुम्हार,
फ़ीलवान, ऊँटवान, गाड़ीवान
एक ख़ासा हिन्दु-मुस्लिम खानदान ।
एक ही रस्सी से क़िस्मत की बँधा
काटता था ज़िन्दगी गिरता-सधा ।

बच्चे, बुड्ढे, औरतें और नौजवान
रहते थे उस बस्ती में, कुछ बाग़बान
पेट के मारे वहाँ पर आ बसे,
साथ उनके रहे, रोये और हँसे।

एक मालिन
बीबी मोना माली की थी बंगालिन;
लड़की उसकी, नाम गोली
वह नव्वाबज़ादी की थी हमजोली।
नाम था नव्वाबज़ादी का बहार
नज़रों में सारा जहाँ फ़र्माबरदार।
सारङ्गी जैसी चढ़ी
पोएट्री में बोलती थी
प्रोज़ में बिल्कुल अड़ी।
गोली की माँ बंगालिन, बहुत शिष्ट
पोयट्री की स्पेशलिस्ट।
बातों जैसे मजती थी
सारङ्गी वह बजती थी।
सुनकर राग, सरगम, तान
खिलती थी बहार की जान।
गोली की माँ सोचती थी—
        गुरु मिला,
बिना पकड़े खींचे कान
देखादेखी बोली में
माँ की अदा सीखी नन्हीं गोली ने।
इसलिए बहार वहाँ बारहोमास
डटी रही गोली की माँ के
        कभी गोली के पास।
सुब्हो-शाम दोनों वक़्त जाती थी
खुशामद से तनतनाई आती थी।
गोली डाँडी पर पासङ्गवाली कौड़ी
स्टीमबोट की डोंगी, फिरती दौड़ी।
पर कहेंगे—
'साथ-ही-साथ वहाँ दोनों रहती थीं
अपनी-अपनी कहती थीं।

दोनों के दिल मिले थे
तारे खुले-खिले थे।
हाथ पकड़े घूमती थीं
खिलखिलाती झूमती थीं।
इक पर इक करती थीं चोट
हँसकर होतीं लोटपोट।
सात का दोनों का सिन
खुशी से कटते थे दिन।'
महल में भी गोली जाया करती थी
जैसे यहाँ बहार आया करती थी।

एक दिन हँसकर बहार यह बोली—
"चलो, बाग़ घूम आयें हम, गोली।"
दोनों चलीं, जैसे धूप, और छाँह
गोली के गले पड़ी बहार की बाँह।
साथ टेरियर और एक नौकरानी।
सामने कुछ औरतें भरती थीं पानी
सिटपिटायी जैसे अड़गड़े में देखा मर्द को
बाबू ने देखा हो उठती गर्द को।
निकल जाने पर बहार के, बोली
पहली दूसरी से, "देखो, वह गोली
मोना बङ्गाली की लड़की।
भैंस भड़की,
ऐसी उसकी माँ की सूरत
मगर है नव्वाब की आँखों में मूरत।
रोज़ जाती है महल को, जगे भाग
आँख का जब उतरा पानी, लगे आग,
रोज़ ढोया आ रहा है माल-असबाब
बन रहे हैं गहने-ज़ेवर
पकता है क़लिया-कबाब।"
झटके से सिर-काँख पर फिर लिये घड़े
चली ठनकाती कड़े।
बाग़ में आयी बहार
चम्पे की लम्बी क़तार
देखती बढ़ती गयी
फूल पर अड़ती गयी।

मौलसिरी की छाँह में
कुछ देर बैठी बेन्च पर
फिर निगाह डाली एक रेन्ज पर
देखा फिर कुछ उड़ रही थीं तितलियाँ
डालों पर, कितनी चहकती थीं चिड़ियाँ।
भौंरे गूंजते, हुए मतवाले-से
उड़ गया इक मकड़ी के फँसकर बड़े-से जाले से।
फिर निगाह उठायी आसमान की ओर
देखती रही कि कितनी दूर तक छोर।
देखा, उठ रही थी धूप—
पड़ती फुनगियों पर, चमचमाया रूप।
पेड़ जैसे शाह इक-से-इक बड़े
ताज पहने, हैं खड़े।
आया माली, हाथ गुलदस्ते लिये
गुलबहार को दिये।
गोली को इक गुलदस्ता
सूंघकर हँसकर बहार ने दिया।
ज़रा बैठकर उठी, तिरछी गली
होती कुन्ज को चली !
देखी फ़ारांसीसी लिली
और गुलबकावली।
फिर गुलाबजामुन का बाग़ छोड़ा
तूतों के पेड़ों से बायें मुँह मोड़ा।
एक बगल की झाड़ी
बढ़ी जिधर थी बड़ी गुलाबबाड़ी।
देखा, खिल रहे थे बड़े-बड़े फूल
लहराया जी का सागर अकूल।
दुम हिलाता भागा टेरियर कुत्ता
जैसे दौड़ी गोली चिल्लाती हुई 'कुकुरमुत्ता'।

सकपकायी, बहार देखने लगी
जैसे कुकुरमुत्ते के प्रेम से भरी गोली दगी।
भूल गयी, उसका था गुलाब पर जो कुछ भी प्यार
सिर्फ़ वह गोली को देखती रही निगाह की धार।
टूटी गोली जैसे बिल्ली देखकर अपना शिकार
तोड़कर कुकुरमुत्तों को होती थी उनके निसार।

बहुत उगे थे तब तक
उसने कुल अपने आँचल में
तोड़कर रखे अब तक।
घूमी प्यार से
मुसकराती देखकर बोली बहार से—
"देखा जी भरकर गुलाब
हम खायँगे कुकुरमुत्ते का कबाब।"
कुकुरमुत्ते की कहानी
सुनी उससे, जीभ में बाहर की आया पानी।
पूछा "क्या इसका कबाब
होगा ऐसा भी लज़ीज़ ?
जितनी भाजियाँ दुनिया में
इसके सामने नाचीज़ ?"
गोली बोली—"जैसी खुशबू
इसका वैसा ही सवाद,
खाते खाते हर एक को
आ जाती है बिहिश्त की याद
सच समझ लो, इसका क़लिया
तेल का भूना कबाब,
भाजियों में वैसा
जैसा आदमियों में नव्वाब।"

"नहीं ऐसा कहते री मालिन की
छोकड़ी बङ्गालिन की !"
डाँटा नौकरानी ने —
चढ़ी-आँख कानी ने।
लेकिन यह, कुछ एक घूंट लार के
जा चुके थे पेट में तब तक बहार के।
नहीं नहीं, अगर इसको कुछ कहा"
पलटकर बहार ने उसे डाँटा—
"कुकुरमुत्ते का कबाब खाना है,
इसके साथ यहाँ जाना है।"
"बता, गोली" पूछा उसने,
"कुकुरमुत्ते का कबाब
वैसी खुशबू देता है
जैसी कि देता है गुलाब !"

गोली ने बनाया मुँह
बायें घूमकर फिर एक छोटी-सी निकाली "ऊँह !"
कहा, "बकरा हो या दुम्बा
मुर्ग़ या कोई परिन्दा
इसके सामने सब छू:
सबसे बढ़कर इसकी ख़ुशबू ।
भरता है गुलाब पानी
इसके आगे मरती है इन सबकी नानी ।"
चाव से गोली चली
बहार उसके पीछे हो ली,
उसके पीछे टेरियर, फिर नौकरानी
पोंछती जो आँख कानी ।

चली गोली आगे जैसे डिक्टेटर
बहार उसके पीछे जैसे भुक्खड़ फ़ालोवर ।
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर—
आधुनिक पोयेट (Poet)
पीछे बाँदी बचत की सोचती
केपीटलिस्ट क्वेट ।
झोपड़ी में जल्द चलकर गोली आयी
ज़ोर से 'माँ' चिल्लायी ।
माँ ने दरवाज़ा खोला,
आँखों से सबको तोला ।
भीतर आ डलिये में रक्खे
गोली ने वे कुकुरमुत्ते ।
देखकर माँ खिल गयी,
निधि जैसे मिल गयी ।
कहा गोली ने "अम्मा,
क़लिया-कबाब जल्द बना ।
पकाना मसालेदार
अच्छा, खायेंगी बहार ।
पतली-पतली चपातियाँ
उनके लिए सेंक लेना ।"
जला ज्यों ही उधर चूल्हा,
खेलने लगीं दोनों दूल्हन-दूल्हा ।

कोठरी में अलग चलकर
बाँदी की कानी को छलकर ।
टेरियर था बराती
आज का गोली का साथी ।
हो गयी शादी की फिर दूल्हन-बहार से ।
दूल्हा-गोली बातें करने लगी प्यार से ।
इस तरह कुछ वक़्त बीता, खाना तैयार
हो गया, खाने चलीं गोली और बहार ।
कैसे कहें भाव जो माँ की आँखों से बरसे
थाली लगायी बड़े समादर से ।
खाते ही बहार ने यह फ़रमाया,
"ऐसा खाना आज तक नहीं खाया ।"
शौक़ से लेकर सवाद
खाती रहीं दोनों
कुकुरमुत्ते का क़लिया-कबाब ।
बाँदी को भी थोड़ा-सा
गोली की माँ ने कबाब परोसा ।
अच्छा लगा, थोड़ा-सा क़लिया भी
बाद को ला दिया,
हाथ धुलाकर देकर पान उसको बिदा किया ।

कुकुरमुत्ते का कहानी
सुनी जब बहार से
नव्वाब के मुँह आया पानी ।
बाँदी से की पूछताछ,
उनको हो गया विश्वास ।
माली को बुला भेजा,
कहा, "कुकुरमुत्ता चलकर ले आ तू ताज़ा-ताज़ा ।"
माली ने कहा, "हुज़ूर,
कुकुरमुत्ता अब नहीं रहा है, अर्ज़ हो मन्ज़ूर,
रहे हैं अब सिर्फ़ गुलाब ।"
ग़ुस्सा आया, कांपने लगे नव्वाब ।
बोले; "चल,-गुलाब जहाँ थे, उगा,
सबके साथ हम भी चाहते हैं अब कुकुरमुत्ता ।"

बोला माली, "फ़रमाएँ मआफ़ ख़ता,
कुकुरमुत्ता अब उगाया नहीं उगता।"

[रचनाकाल : 3 अप्रैल, 1941। 'हंस', मासिक, बनारस, मई, 1941, और 'तरुण', मासिक, इलाहाबाद, जुलाई, 1941, में आरम्भिक अंश प्रकाशित। पहले **कुकुरमुत्ता** में संकलित, फिर 1948 ई. में संशोधन के साथ स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित]

खजोहरा

दौड़ते हैं बादल ये काले काले,
हाईकोर्ट के वकले मतवाले।

जहाँ चाहिए वहाँ नहीं बरसे,
धान सूखे देखकर नहीं तरसे।

जहाँ पानी भरा वहाँ छूट पड़े,
क़हक़हे लगाते हुए टूट पड़े।

फिर भी यह बस्ती है मोद पर
नातिन जैसे नानी की गोद पर;

नाम है हिलगी, बनी है भूचुम्बी
जैसी लौकी की लम्बी तुम्बी।

कच्चे घर ऊबड़खाबड़, गन्दे
गलियारे, बन्द पड़े कुल धन्धे।

लोग बैठे लेते हैं जमहाई,
ठण्डी - ठण्डी चलती है पुरवाई।

ख़रीफ निराई जा चुकी है, नहीं
करने को रहा कोई काम कहीं।

बारिश से बढ़ी ज्वार, बाजरा, उर्द,
गाँव हरे-भरे कुल, कलाँ और ख़ुर्द।

लोग रोज़ रात को आल्हा गाते
ढोलक पर, अपना जी बहलाते।

झूला झूलती गाती हैं सावन
औरतें, "नहीं आये मनभावन!"

लड़के पेंगे मारते हैं बढ़-बढ़कर
गूंज रहा है भरा हुआ अम्बर।

सावन में भतीजा होने को हुआ
पहले से बुला लायी गयीं बुआ।

नैहर में घूंघट के उठने से
बुआजी की जान बची छुटने से।

ब्याह के पहले के प्यारे-प्यारे
गाँव के नज़ारे जग गये सारे।

याद आयीं सहेलियाँ, साथी कुल;
तरह-तरह की हुईं रंगरेलियाँ कुल।

मुन्नी-मुन्ने जितने हैं चुन्नी-चुन्ने,
आँखों पर फिरते हैं सभी टुन्नी-टुन्ने।

कोई नहीं, लड़कियाँ गयीं ससुराल,
लड़के गये बढ़कर परदेस, यह हाल।

मगर दिल बहलाने के लिए फिलहाल
बुआ नहाने चलीं वह बाग़ का ताल।

पिछला पहर दिन का, पीली पड़ी धूप;
सारे गाँव का हुआ सुनहला रूप।

सब्ज़े-सब्ज़े पर सोने का पानी चढ़ा,
हुस्न और जमाल जैसे और बढ़ा।

गाँव के किनारे निकल आयीं बुआ,
बँधी जगतवाला दायें मिला कुआँ।

नीम से लगा कच्चा चबूतरा,
टिन्ना बैठा काट रहा था दोहरा।

देखकर बुआ को मुस्कराया, पूछा—
"अकेली - अकेली कहाँ चलीं बुआ ?"

गुस्सा आया, बुआ काँपने लगीं,
गालियों से गला नापने लगीं।

आगे बढ़ीं, चढ़े आबरू ख़मदार,
स्वाभिमान से पड़े पहलू दमदार।

बायीं बग़ल कुछ आगे बढ़ीं कि पड़ी
गाँव के किनारे की बड़ी गड़ही।

भरी हुई किनारे तक, उमड़ चली,
बहती हुई गाँव के नाले से मिली।

मेढक एक बोलता है जैसे सुकरात,
दूसरा फ़लातूं सुन रहा है बात।

तेज़ हवा से पछाँह को झुके
ज्वार के पौधे सिपाही जैसे दिखे।

बनबिलाव मार्लबरौ जैसा अड़ा
घोंसले के पास गूलर पर चढ़ा।

इसी वक़्त बिल से लोमड़ी निकली,
इधर - उधर देखती आगे बढ़ी।

भुजैल एक बोलती है "पण्डित जी"
मेड़ के किनारे चुगती है पिड़की।

सतभैये एक पेड़ के नीचे
दूसरी पार्टी से लड़ाते हैं पंजे।

एक डाल पर बैठी हुई रुकमिन
बुआ को याद आये पी से मिलने के दिन।

एक पेड़ पर बये के झोंझें दिखीं
अलग-अलग झूले जैसी कितनी लटकीं।

एक तरफ़ भगा हुआ मोर गया,
झाड़ी से चौगड़ा कूदता निकला।

दूर चला जाता है हिरनों का झुण्ड,
भैंसों के लेवारेवाला मिला कुण्ड।

दौड़कर बबूल पर चढ़ा गिरदान,
देखा बुआ ने भवों की तिरछी बान।

चौतरफ़ा आम के पेड़ों से घिरा,
बुआ को नहानेवाला ताल मिला।

कितना पुराना, किसका खोदाया हुआ,
गाँव के किसी को यह मालूम न था।

बाँध ताल के, बारिश से छटकर,
ढाल में अब बदल गये थे कटकर।

मिट्टी भर जाने से ताल उथला था,
डूबने से लोगों को बचाता रहा।

किनारे - किनारे लगे आम के पेड़,
दूर से उठायी ऊँची - ऊँची मेड़।

मिट्टी के सबब दूध ऐसा था पानी,
खुश होकर बुआ ने नहाने की ठानी।

उतरीं जैसे ठाकुर की विजयिनी हों,
जिसके दिल में नहीं आज-कल-परसों;

एक प्रेम हो ऐड़ी से चोटी तक,
जिसको चाहती हैं दुबली से मोटी तक।

बुआ ताल में पैठीं जैसे हथनी,
डर के मारे काँपने लगा पानी;

लहरें भगीं चढ़ने को किनारे पर,
बाँधा पानी बुआ ने बाँहों से भरकर।

नीव के खम्भे हों, पैर कीच में हैं;
जाँघ से छाती तक अङ्ग बीच में हैं।

सोचा, कभी नहाती थीं दिन-दिन भर,
लड़कियों को गाड़ती थीं गिन-गिनकर।

विजय का मद आया कि देखे भुजदण्ड,
पहले से और चढ़े हुए, और प्रचण्ड।

साँस ली बुआ ने, तेज़ चली हवा,
झोंका पुरवाई का एक आ लगा।

बुआ के ऊपर की आम की जो डाल
झोंके से पुरवाई के हिली तत्काल।

छमा माँगने को मदन जैसा बैठा
डाल पर बड़ा - सा खजोहरा था;

रोयाँ हर एक उसका तीर फूल का था
सुन्दरी की ओर को तना हुआ।

बुआ के कन्धे पर टूटकर आया,
चाँटे के पड़ते ही पिलौधा हुआ;

रोएँ आये कन्धों, हथेलियों पर,
बाँहों पर, पानी पर बहेलियों पर।

जहाँ - जहाँ गड़े, ज़ोर की खुजली
उठी, बुआ ताल के बाहर निकलीं।

निकलते, कुल अंगों में पानी के साथ,
फैली, खुजलाने लगीं वे दोनों हाथ।

एक छन में जलन सौगुनी बढ़ी,
बुआ जैसे अंगारों पर हों खड़ी;

धोती बदलनी थी, पर न बदल सकीं,
मात नील गाय को करती वे भगीं।

अँधेरा हो आया था, इतनी भलाई,
कोई उनकी न देख पाया भगाई।

चौकड़ी उठाती गाँव को आयीं,
दरवाज़े "अम्मा" की आवाज़ें लगायीं।

अम्मा ने जल्द आकर दरवाज़ा खोला,
पूछा, "अरी बिट्टो, तुमको क्या हुआ?"

बुआ ने कहा, "मुआ खजोहरा,
नहाते-नहाते मुझको लग गया।"

घी ले आयीं अम्मा, पूछा "कहाँ लगे?"
बुआ ने कहा कि नहीं बची जगह।

['हंस', मासिक, बनारस, अगस्त, 1941। पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

नूपुर के सुर मन्द रहे

नूपुर के सुर मन्द रहे,
जब न चरण स्वच्छन्द रहे।
उतरी नभ से निर्मल राका,
पहले जब तुम ने हँस ताका
बहुविध प्राणों को झंकृत कर
बजे छन्द जो बन्द रहे।

नयनों के ही साथ फिरे वे
मेरे घेरे नहीं घिरे वे,
तुमसे चल तुममें ही पहुँचे
जितने रस आनन्द रहे।

[रचनाकाल : 1941 ई. **अणिमा** में संकलित]

बादल छाये

बादल छाये,
ये मेरे अपने सपने

आँखों से निकले, मँडलाये।

बूँदें जितनी
चुनी अधखिली कलियाँ उतनी;
बूँदों की लड़ियों के इतने
हार तुम्हें मैंने पहनाये !

गरजे सावन के घन घिर घिर,
नाचे मोर बनों में फिर फिर
जितनी बार
चढ़े मेरे भी तार

छन्द से तरह तरह तिर,

तुम्हें सुनाने को मैंने भी
नहीं कहीं कम गाने गाये।

[रचनाकाल : 1941 ई.। **अणिमा** में संकलित]

उद्‌बोधन

दूर करो भ्रम-भास,
खोलो ये पलकें,
खुला सूर्य, खुला दिगाकाश ।
खुले हुए राजपथ
स्थल-जल-व्योम के,
चलते हैं अविरत
यात्री भी सोम के,
जान ले हथेली में,
धात्री तुम्हारी किन्तु
गाँव की वसुन्धरा
आज भी पहेली में
खड्ढों से भरी हुई
हो रही है प्राणहरा
यदि यान-वाहनों की
मन्द हो रही है चाल,
प्रगति में तुम्हारे यदि
बिछा काँटों का जाल,
उड़ती है सदा धूल,
हिम्मत न हारो तुम,
सुधरेगी यह भूल,
सुथरा होगा यह पथ,
उठेंगे शीघ्रगति
लक्ष्य को पद श्लथ ।
नहीं वह तुम्हारी गति
लोभ-लुण्ठन हो जहाँ
नाश जिसकी परिणति,
औद्धत्य यौवन
हो युद्ध की विघोषणा,
हार और मृत्यु के ही
उदर की पोषणा ।
कहता है इतिहास,
सत्य-ज्ञान-प्रेम का
तुम्हारा दिया है प्रकाश ।

उठी नहीं तलवार
देश की पराजय को,
वही है सहस्रधार
मुक्ति यहाँ से, क्षय को
मृत्यु के जड़त्व के;
नहीं यहाँ थे गुलाम,
देश यह वही जहाँ
जीते गये क्रोध-काम;
भाव उठा लो वही
जीवन का वार एक
और सहो तो सही।
सबल यों नीति से,
पढ़ो दान विश्व के
दिये जो ज्ञान-रीति के,
खुले हुए विश्व को
समझो तुम देखकर,
प्रतिमा विशेषकर
ध्यान में समायी हुई—
जैसे आकाश में
सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह
पृथ्वी और जड़-चेतन
बहु रूप-रेखाएँ
दिखती हैं, वैसे ही
ज्ञान में
दिखेंगे बीज विश्व के विकास के
ज्ञान-विज्ञान के,
दर्शनेतिहास गत
भिन्न-भिन्न भावों के।
सम्बद्ध क्रियाशील
देखोगे, सलील ही
बदल गये हैं रूप—
भाव, जो तुम्हारे थे,
साथ ही साथ ये
बदले हैं घर-द्वार,
जीवन के अनिवार
नियम से हैं उठे

आलोक-छाया-प्रद,
जीवनद व्यवहार,
बहता चलता हुआ
कलकल ध्वनि कर,
अर्थ परमार्थ से
मिलते खिलते हुए
प्रतिवर्ष के-से फूल,
भिन्न-भिन्न रूप के
कृषि-शिल्प-व्यापार
रक्षण के स्तम्भ-से
खड़े समारम्भ के
नगर-समाज-शास्त्र,
आज दिव्यास्त्र ज्यों
विश्वमानवता के,
राजनीति-धर्मनीति
वर्जित पाशवता से,
सभी बदले हुए—
सभी भिन्न रूप के,
जर्जरता-स्तूप से
मन्त्र निकले हुए,
साम्य रखते हुए
विश्व के जीवन से;
बदले हुए कुम्हार,
नाई-धोबी-कहार,
ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य,
पासी-भङ्गी-चमार,
परिया और कोल-भील;
नहीं आज का यह हिन्दू,
आज का यह मुसलमान,
आज का ईसाई, सिक्ख,
आज का यह मनोभाव,
आज की यह रूपरेखा।
नहीं यह कल्पना,
सत्य है मनुष्य का
मनुष्यत्व के लिए,
बन्द हैं जो दल अभी

किरण-सम्पात से
खुल गये वे सभी।

[रचनाकाल : 1941 ई. । **अणिमा** में संकलित]

अज्ञता

मन के तिनके
नहीं जले अब तक भी जिनके,
देखा नहीं उन्होंने अब तक कोना-कोना
अपने जीवन का, दुनिया की चाँदी, सोना,
लाल, जवाहर, हीरे, मोती
छिपे हुए हैं अब तक उनसे, अब तक सोती
जगती भी आकांक्षा उनकी,
अब तक धुन की
नहीं उठी लौ,
उनके आसमान की अब तक नहीं फटी पौ,
नहीं दिखा
उनके जीवन की पुस्तक में है कहाँ क्या लिखा,
मिले तार
उनके औरों से नहीं, नहीं बजती बहार।

[रचनाकाल : 1941 ई. । 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, जून, 1942 ('साक्षरता' शीर्षक से)। **अणिमा** में संकलित]

स्फटिक-शिला

स्फटिक-शिला जाना था।
रामलाल से कहा।
उमड़ पड़े रामलाल।

बोले, "कुछ रुकिए, फ़िलहाल
गाड़ी तैयार नहीं;
यार, कहीं
ठोकर खा जाइएगा।
कौन कहे, सही हाथ-पैर लौट आइएगा।
कई नाले पड़ते हैं।
चढ़ते हैं, उतरते हैं।
नौजवाँ, देहाती, पहलवाँ
थकते हैं;
तन्दुरुस्त छकते हैं।
गाड़ी से चलेंगे।
दर्द कहीं बढ़ा तो मलेंगे
पैर।
आदमी भी साथ हैं।" "ख़ैर",
मैंने कहा, "चलने की कही,
और देखे हैं पैर।
अपना भी होगा यों ग़ैर ?"
गाड़ी आयी,
ख़य्याम की जैसी हो रुबाई।
आधी रात को चढ़े
चित्रकूट को बढ़े।
मिला क़िला पेशवों का करवी में
लिखा हुआ जैसे कुछ अरबी में
रात को ऐसा दिखा
क़िस्मत में जैसे कुछ हो लिखा।
पयस्विनी नदी पड़ी
जैसे लाज से गड़ी।
पानी थोड़ा-थोड़ा-सा।
गड़ा जैसे रोड़ा-सा
मेरे मन में। पूछा
रामलाल से, "जो कुछ भी दिखता है, छूंछा,
ऐसा ही भरा है ?"
"जीता है कौन, कौन मरा है,
मुझको मालूम नहीं,
लेकिन यह है सही—
स्फटिक-शिला में नदी

वहुत काफ़ी गहरी है
और वहुत चौड़ी भी
हालाँकि जगह वह यहाँ से बहुत ऊँची है,
मगर वहाँ रहते हैं,"—
रामलाल ने कहा। (ऐसा ही कहते हैं।)
बैल दो थे, साँवलिया
और धौला। धौला गरियार था।
बायें जुता। अक्सर चलती-चलती
गाड़ी मुड़ जाती थी बुरी तरह बायें को।
पूँछ ऐंठकर धौले को फिर-फिर दायें को
हाँकता था रामलाल का भाई
ता-ता-ता-ता करता। शहनाई
सुनकर मैं हँसता था।
ढाल से उतरकर वह बैल वहाँ धँसता था
इसी समय दलदल में
बायें मुड़ा।
पानी की कलकल में
रामलाल डूबे हुए।
यानी बहुत ऊबे हुए।
बैल डालकर जुआ
भग खड़ा हुआ।
बच्चे को बड़े आदमी-जैसा
देखता था साँवलिया
जुआ डालकर वहीं खड़ा।
धौले की ओर को चुमकारता बढ़ा
रामलाल का भाई। कड़े हाथ
पकड़ ली धौले की ऐंठी नाथ।
जुए को फिर मोड़कर,
उतरे हुए लोगों की मदद से छोड़कर
राह पर,
बैलों को फिर जोता।
चला धौला अपनी ही पुरानी चाल फिर रोता।
नदी को पारकर
गाड़ी आयी राह पर।
स्यारों की जोड़ी मिली।
कहीं कोई झाड़ी खिली

रही होगी, ख़ुशबू से
जान पड़ा। लोग बैठे जैसे चूसे
दमड़ी के आम हों,
        गीले फिर भी, जैसे हों मास सावन या भादों।
        राम-राम जपते थे,
        काम से यों तपते थे।
        मिलीं और गाड़ियाँ
        करवी को जाती हुई, छोटी-छोटी झाड़ियाँ।
        पौ फटी।
        रात कटी।
धूहों से धूएँ के
वहाँ के पहाड़ दिखे।
रामलाल ने कहा,
"भरतकूप वह, अहा।
गुप्त गोदावरी वहाँ, उस पहाड़ के उधर,
वह देखो, श्रीकामदगिरि सुन्दर;
सावन में जब देखा
मोरों की बादलों से और नीली रही रेखा,
हरे उस पहाड़ पर।
पयस्विनी अरररररर
बहती चली जाती है,
त्रेता की बात जैसे कहती चली जाती है।
बड़े-बड़े हरे पेड़
करते हैं जैसे छेड़
पावस-समीर से
लहराते धीर जैसे।
वह है हनुमद्धारा, पञ्चकोसी का पहाड़,
वह वहाँ है देवाङ्गणा, यहाँ से पड़ती है आड़
स्फटिक-शिला को, आश्रम
अत्रि-अनसूया का और भी है मनोरम।
स्वच्छ मन्दाकिनी नदी झरनों से यहीं निकली,
पहाड़ों के बीच पड़ी
बादलों में जैसे बिजली।
फूट रहे हैं सस्वर
नये स्रोत, झरने नये, गिरियों को फोड़कर।"

आगे बढ़े ।
फले आम बड़े-बड़े झुके हुए देख पड़े
गौदों में या इकले ।
आदमी वहाँ से कुछ चले हुए आ निकले ।
गाड़ियाँ भी जाती थीं,
बैठी हुई देवियाँ इठलाती थीं ।
सीतापुर पास आया ।
एक जगह पेड़ की आ पड़ी घनी-घनी छाया ।
अक्कासी आती हुई देखकर
रामलाल बोले एक डण्डे से टेककर,
"सर को झुका लीजिएगा,
ज़रा ध्यान दीजिएगा,
जगह ऊँची-खाली है,
कुछ आगे नाली है ।"
सीतापुर पारकर पयस्विनी फिर उतरी
गाड़ी पकड़े गली
नये गाँव को चली ।
ऊँचा चढ़ती हुई, कहीं पर अड़ती हुई,
हवेली की बग़ल से
आगे बढ़ी गाड़ी वह । लिये हुए कुछ फल से
एक दल यात्रियों का जाता हुआ देख पड़ा ।
छोड़कर उसको आगे बढ़ा फिर हमारा लढ़ा ।
राह के किनारे खुदरो दरख़्त से बँधा हुआ
कच्चा चबूतरा मिला,
कुछ राह घेरे हुए । पत्थर एक रक्खा था
महादेवी की जगह पर । भाव मगर पक्का था ।—
दखल जैसे जमाना चाहता था कोई अपना,
सत्य को जो बनाये हुए था वहाँ कल्पना ।
बायें कुछ ही दूरी पर थी छोटी एक कुटिया,
छोटा-सा बबूल वह उसकी थी लकुटिया ।
धौले ने न जाने कैसे यहाँ ऐसा मारा ज़ोर,
दायें गयी गाड़ी, बायें मुड़ी जैसे, एक कोर
कटी चबूतरे की कि कुटिया से निकली
काली एक नारी गाली देती, खाती ढिकली
देखकर चबूतरा ।
जैसे कोई अप्सरा

नाचने लगी हो गालियों से भाव बतलाकर
दोनों हाथ फैलाकर।
मैंने देखा, बड़ा मैला
मन उसका समाज से,
चोट खायी हुई वह रामजी के राज से,
शूद्रों को मिला नहीं
जिनसे कुछ भी कहीं।
ढाढस बँधाया मैंने मीठे-मीठे शब्द कहकर,
देखती रही वह आँसुओं की आँखों रह-रहकर।
कुछ दूर बढ़े और रुकने का ठौर था,
गाड़ी खड़ी हुई, अन्त जहाँ, एक पौर था।
द्वार पर चलकर
रामलाल ने पुकारा। तरुणी ने निकलकर
गाड़ी देखी। बँधी हुई गाय के छू लिये खुर
देखा फिर स्नेहभरी चितवन से जैसे सुर-
वधू हो। फिर चली गयी भीतर को धीरे से,
भेजा लड़की को, बोल बोली जो हीरे-जैसे—
"चालपाई दाली है,
बैथ जाव, काली है।"
बैठे कुछ देर हम लड़की व' एकटक
देखती रही हमको छोड़कर बकझक।
बैलों को बाँधकर चारापानी करके
स्फटिक-शिला को कुछ तेज चाल हम चले
नये गाँव की तरफ़ से। देखा वह प्रमोद-वन
दूसरे किनारे से। हनुमद्धारा को देखकर
खिल गया हमारा मन।

वन था पहाड़ पर,
कहा कि दहाड़कर
शेर जब टूटता है,
तब काँप उठता है
जङ्गल, वे सभी पेड़
जैसे काँपते हों भेंड़।
यह बघेलखण्ड है,
बड़ा ही प्रचण्ड है,
बाघ यहाँ का। कहा,
आगे वह जानकी ही कुण्ड अब दिख रहा।

हमने नदी पार की,
एक पनचक्की मिली।
अर्जुन के बड़े-बड़े
पेड़ खड़े थे अकड़े।
बन्दर वहाँ के सब
जैसे बिना-कलरव
कोई हो गृहवास
निष्प्रभ तथा उदास।
घने पेड़, छाया-तल,
स्वच्छ और शीतल जल।
यह है जानकीकुण्ड।
मछलियों के झुण्ड-झुण्ड।
कोई नहीं मारता है।
चारा खिला-खिलाकर सिधारता है।
बड़ी-बड़ी शिलाओं से टकराता हुआ जल
करता है अविराम कलकल-कलकल।
किनारे-किनारे बने साधुओं के वरवास
जो कि हैं अनन्य-दास
सीता-रामचन्द्र के
रहते अतन्द्र-से।
रम्य यह स्थल देखते हुए किनारे से
चले हम हारे जैसे
ऊपर-ऊपर। एक अच्छा आम का बग़ीचा मिला,
छोटे-छोटे जङ्गली पेड़ों से वन वह रहा खिला।
वहाँ रामलाल ने दिखाया फिर पहाड़ वह
जहाँ बैठा था जयन्त दबा। "काढ़कर वह
कौन तीर मारा राम ने जो पहुँचा वहाँ ?
मुझे झूठ जान पड़ता है, कहता यहाँ।
साधुओं से डर के मारे मैंने नहीं पूछा।
मुझे जान पड़ता है भरा हुआ सब छूँछा।"
रामलाल ने कहा।
मैंने रामलाल को जवाब छोटा-सा दिया
"होगा जैसा भी किया।"
देखने लगा मैं कहकर उस वन को।
भूल जाता है मन को

देखता हुआ पथिक ।
चित्त हुआ समाहित ।
ऊँची-नीची गलियों की झाड़ियों में लगा तिन—
सूखा मटमैला दाग ।—बाढ़ के याद आये दिन ।
साँप बड़े ज़हरीले; टीलों पर रहते हैं,
बिच्छू, लकड़बग्घे, रीछ, चीते, यहाँ कहते हैं;
पेड़ों पर बिचखोपड़ ।
चिरौंजी, बहेड़ा, हड़
और पेड़, बड़े-बड़े,
जङ्गल-के-जङ्गल खड़े ।
बड़े बाघ और दूर रहते हैं,
पानी पीने रात को आते हैं, लोग कहते हैं,
या शिकार के लिए,
या कि भूले-भटके ।
चले कुछ और हम,
मन्दाकिनी देख पड़ी भरी हुई मनोरम ।
सचमुच ही यहाँ पानी नीचे से बहुत भरा,
देखकर जी हुआ हरा ।
जैसे एक झील हो,
काला-काला स्वच्छ जल बहता सलील हो ।
सघन द्रुमों की छाँह
शाखों से बढ़ाये बाँह ।
पानी के बीच उठे पत्थरों पर उगी झाड़ियाँ,
बैठी हुई सारस ही की जातिवाली चिड़ियाँ ।
उँची-उँची उधर हैं पहाड़ियाँ ।
किनारे पर वैसे ही आवास और गुफाएँ बनीं,
एक झाड़ी देखी घनी ।
यात्री नहाते हुए ।
इक्के-दुक्के लोग वहाँ आते और जाते हुए ।
एक बाबा ने कहा, "भौंरादहार है,
आराम यहाँ कीजिएगा ?"
खड़ा हुआ स्फटिक-शिला मैं देखता ही रहा ।
आँख पड़ी युवती पर
आयी थी जो नहाकर,
गीली धोती सटी हुई भरी देह में, सुघर

उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़कर,
आयत दृगों का मुख खुला हुआ छोड़कर।
बदन कहीं से नहीं काँपता।
कुछ भी संकोच नहीं ढाँपता।
वर्तुल उठे हुए उरोजों पर अड़ी थी निगाह
चोंच जैसे जयन्त की, नहीं जैसे कोई चाह
देखने की मुझे और,
कैसे भरे दिव्य स्तन, हैं ये कितने कठोर।
मेरा तन काँप उठा, याद आयी जानकी।
कहा, तुम राम को,
कैसे दिये हैं दर्शन !

[सम्भावित रचनाकाल : 1942 ई. का पूर्वार्ध। पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

तुम आये

तुम आये,
अमा-निशा थी,
शशधर-से नभ में छाये।
फैली दिङ्मण्डल में चाँदनी,
बँधी ज्योति जितनी थी बाँधनी,
खुली प्रीति, प्राणों से प्राणों में भाये।

करती हैं स्तवन मन्द पवन से
गन्ध-कुसुम-कलिकाएँ भवन से,
किञ्चन के रस-सिञ्चन से तुम लहराये।

आने को भी है फिर प्रात सहज,—
सजने को नवजीवन से रज-रज,
तुमको व्यञ्जित या रञ्जित कर दे जाये।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 6 दिसम्बर, 1942, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

गहन है यह अन्ध कारा

गहन है यह अन्ध कारा;
स्वार्थ के अवगुण्ठनों से
हुआ है लुण्ठन हमारा।

खड़ी है दीवार जड़ की घेरकर,
बोलते हैं लोग ज्यों मुँह फेरकर,
इस गगन में नहीं दिनकर,
नहीं शशधर, नहीं तारा।

कल्पना का ही अपार समुद्र यह,
गरजता है घेरकर तनु, रुद्र यह,
कुछ नहीं आता समझ में,
कहाँ है श्यामल किनारा।

प्रिय, मुझे वह चेतना दो देह की,
याद जिससे रहे वञ्चित देह की
खोजता-फिरता, न पाता हुआ,
मेरा हृदय हारा।

[रचनाकाल : 1942 ई. । 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 13 दिसम्बर, 1942, में प्रकाशित । **अणिमा** में संकलित]

द्रुम-दल शोभी फुल्ल नयन ये

द्रुम-दल शोभी फुल्ल नयन ये,
जीवन के मधु-गन्ध-चयन ये।

रवि के पूरक, रङ्ग रङ्ग के,
छाया-छवि कवि के अनङ्ग के,
स्नेह व्यंग्य के, सङ्ग सङ्ग के,
अङ्ग अङ्ग के शमित शयन ये।

देह-भूमि के सजल श्याम घन,
प्रणय-पवन से ज्योतिर्वर्षण,
उर के उत्पल के हर्षण-क्षण,
आन्दोलन के सृष्ट अयन ये।

प्रेम-पाठ के पृष्ठ उभय ज्यों
खुले भी न अब तलक खुले हों,
नित्य अनित्य हो रहे हैं, यों
विविध-विश्व-दर्शन-प्रणयन ये।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 27 दिसम्बर, 1942, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

खेल

जेठ की दुपहर, दिवाकर प्रखरतर,
जली है भू, चली है लू भासकर।

राह निर्जन, मन्द चितवन से खड़ा
एक लड़का, बना है छड़ का कड़ा।

उम्र नौ-दस साल की, बस, तोलता
दिल की चढ़कर पकरिये पर बोलता।

तना मोटा था, पड़ा छोटा सुकर,
बाँह से भरकर चढ़ा, आया उतर।

डाल देखी, चढ़ा ऊपर पकड़कर,
दम लिया कुछ देर बैठा अकड़कर।

शाख पर चढ़ता हुआ, ऊपर गया,
नाक बैठाकर निकाला स्वर नया,

"भूत हों जितने जहाँ जमदूत हों,
अब हमारा घर भरें वे खारुओं।"

[रचनाकाल : 1942 ई. । पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

सन्त कवि रविदासजी के प्रति

ज्ञान के आकर मुनीश्वर थे परम
धर्म के ध्वज, हुए उनमें अन्यतम,
पूज्य अग्रज भक्त कवियों के, प्रखर
कल्पना की किरण नीरज पर सुघर
पड़ी ज्यों अँगड़ाइयाँ लेकर खड़ी
हो गयी कविता कि आयी शुभ घड़ी
जाति की, देखा सभी ने मीचकर
दृग, तुम्हें श्रद्धा-सलिल से सींचकर।
रानियाँ अवरोध की घेरी हुईं
वाणियाँ ज्यों बनीं जब चेरी हुईं।
छुआ पारस भी नहीं तुम ने, रहे
कर्म के अभ्यास में, अविरत बहे
ज्ञान-गंगा में, समुज्ज्वल चर्मकार,
चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार।

[रचनाकाल : 1942 ई. । **अणिमा** में संकलित]

सहस्राब्दि
(विक्रमीय प्रथम 1000 संवत्)

विक्रम की सहस्राब्दि का स्वर
कर चुका मुखर
विभिन्न रागिनियों से अम्बर।

आ रही याद
वह उज्जयिनी, वह निरवसाद
प्रतिमा, वह इतिवृत्तात्मकथा,
वह आर्यधर्म, वह शिरोधार्य वैदिक समता,
पाटलीपुत्र की बौद्ध-श्री का अस्त रूप,
वह हुई और भू—हुए जनों के और भूप,
वह नवरत्नों की प्रभा—सभा के सुदृढ़ स्तम्भ,
वह प्रतिभा से दिङ्नाग-दलन,
लेखन में कालिदास के अमला-कला-कलन,
यह महाकाल के मन्दिर में पूजोपचार,
वह शिप्रावात, प्रिया से प्रिय ज्यों चाटुकार।
आ रही याद
वह विजय शकों से अप्रमाद,
वह महावीर विक्रमादित्य का अभिनन्दन,
वह प्रजाजनों का आवर्तित स्यन्दन-वन्दन,
वे सजी हुई कलशों से अकलुष कामिनियाँ,
करती वर्षित लाजों की अञ्जलि भामिनियाँ,
तोरण-तोरण पर
जीवन को यौवन से भर
उठता सस्वर
मालकौश हर
नश्वरता को नवस्वरता दे करता भास्वर
ताल-ताल पर
नागों का वृंहण, अश्वों की ह्रेषा
भर-भर
रथ का घर्घर,
घण्टों की घन-घन
पदातिकों का उन्मद-पद पृथ्वी-मर्दन।

आ रही याद
तूलिका नारियों के चित्रण की निरपवाद,
ब्राह्मण-प्रतिभा का अप्रतिहत गौरव-विकास,
वर्णाश्रम की नव स्फुरित ज्योति, नूतन विलास,
कामिनी-वेश नव, नवल केश, नव-नव कवरी,
नव-नव बन्धन, नव-नव तरंग, नव-नवल तरी,

नव-नव वाहन-विधि, वाहित वनिता-जन नव-नव,
नव-नव चिन्तन, रचना नव-नव, नव-नव, उत्सव,
नूतन कटाक्ष, सम्बोधन नूतन उच्चारण,
नूतन प्रियता की प्रियतमता, ममता नूतन,
संस्कृति नूतन, वस्तु-वास्तु-कौशल-कला नवल,
विज्ञान-शिल्प-साहित्य सकल नूतन-सम्बल,
पाली के प्रबल पराक्रम को संस्कृत प्रहार,
कालिदास-वररुचि के समलंकृत रुचिर तार।

कर रहा मनन
मैं शंकर का उत्थान, बौद्ध-धर्म का पतन—-
जन-बल-वर्धन के हेतु वाम-पथ का चालन,—
लोगों में भय का कारण, मारण, सम्मोहन,
उच्चाटन, वशीकरण, संकर्षण, सन्त्रासन,
दिव्य भाव के बदले अदिव्य भाव का ग्रहण,—
फिर बदला ज्यों यह रूप शक्ति के साधन से,
बौद्ध से आर्यरूपता हुई आराधन से,
उस अदिव्यता के अर्थ विरोध कुमारिल का
बौद्धों से हुआ, ताल जो बना एक तिल का,
वे शिष्य हुए शंकर के, शुद्ध भाव भरते,
दिग्विजय-अर्थ भारत में साथ भ्रमण करते।
सुविदित प्रयाग के वे प्रचण्ड पण्डित मण्डन,
वामा थीं जिनकी उभय भारती, आलोचन
शंकर से जिनका कामशास्त्र में हुआ, विजित
शंकर हो शिक्षा लेने को लौटे विचलित,
कर पूर्ण अध्ययन राजदेह में कर प्रवेश
त्यागी शरीर को रख निर्मल, आये अशेष,
व्याध को पिता कह द्रुम-पातन की शिक्षा ली,
चढ़ गये पेड़ पर, बैठे, पढ़ा मन्त्र डाली
झुक कर आयी आँगन पर, उतरे, फिर बोले—
"जो हारा पहले से क्यों दरवाजा खोले ?"
मध्यस्थ उभयभारती हुईं, शास्त्रालोचन
शंकर से हुआ प्रखर जिसमें, हारे मण्डन।
फिर चले छोड़कर गृह त्याग के विजयध्वज से,
मिल गये ज्ञान की आँखों से नभ से—रज से।

आ रहा याद वह वेदों का उद्धार, ख्यात
वह श्रुतिधरता, ज्ञान की शिखा वह अनिर्वात
निष्कम्प, भाष्य प्रस्थानत्रयी पर, संस्थापन
भारत के चारों ओर मठों का, संज्ञापन,
बौद्धों के दल का जीते ही वह दाहकरण,
जल कर तुषाग्नि में अपना प्रायश्चित्त-वरण
शंकर के शिष्यों का। मुझको आ रही याद
वह अस्थिरता जनता के जीवन की, विषाद
वह बढ़ा पण्डितों में जैसे शंकर मत से—
अद्वैत-दार्शनिकता से हुए यथा हत से—
प्रच्छन्न बौद्ध ज्यों कहने लगे, वेदविधि के
कर्मकाण्ड के लोप से दुखी जन वे निधि के
प्रत्याशी, फल के कामी, दुरित-दैन्य दल-मल
चाहते दैव से श्री, शोभा, विभूति, सम्बल।
ऐसे सांसारिक जनों के लिए ज्यों जीवन
आये रामानुज; गृही चरित का आवर्तन
श्री-सुख से भरकर किया भिन्न दर्शन देकर
रक्खा संश्लेष विशिष्ट नाम रखकर सुन्दर।

जो वैदिक ज्ञान, तथागत का निर्वाण वही,
जो धरा वही विचार धारा की रही मही,
देश काल औ' पात्र के भेद से भिन्न वेद
प्रेम जो, हुआ ज्यों वही बदलकर प्रियच्छेद।
बौद्धों के ही प्रचार का फल मिस्र में फलित—
मूसा की प्रतिभा में बदला वह धर्म कलित,
फिर ईसा में आया कुछ परिवर्तन लेकर,
फिर हुआ महम्मद में अवतरित ताल देकर
एक ही भिन्न राग का प्रबल,
फैला कलकल
ज्यों जलोच्छ्वास प्लावन का दसों दिशाएँ भर
भ्रातृभाव का उल्लास प्रखर।
टूटा भारत का वर्ण-धर्म का बाँध प्रथम
इससे, जो सम थे हुए, हुए वे आज विषम
हारे दाहिर, हर गयीं कुमारी कन्याएँ।
सूरज-परिमल, कुल की वे उत्कल धन्याएँ।

ले साथ महम्मद-बिन-कासिम अरब को चला,
है विदित चुकाया कन्याओं ने ज्यों बदला।

जब टूटा कान्यकुब्ज का वह साम्राज्य विपुल,
छोटे-छोटे राज्यों से हुआ विपत्संकुल
यह देश। उधर अदम्य होकर
बढ़ता ही चला राष्ट्र इस्लामी; वेग प्रखर
पृथ्वी सँभालने में असमर्थ हुई; निश्चय
दुर्दान्त क्षत्रियों से जो था प्राणों में भय
उन इतर प्रजाओं में, छाया उसका तुषार
जो फुल्ल-कमल-कुल पर आ पड़ा, सहस्रवार
नैसर्गिक अम्बर से ज्यों; ज्यों अधिकारि-भेद
चाहती बदलना प्रकृति यहाँ की, समुच्छेद
कर सकल प्राथमिक नियम, निपुण
चाहती सृष्टि नूतन ज्यों, औरों के गिन गुण
अधिकार चाहती हो देना, सुनकर पुकार
प्राणों की, पावन गूंथ हार
अपना पहनाने को अदृश्य प्रिय को सुन्दर,
ऊँचा करने को अपर राग से गाया स्वर।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

अखिल-भारतवर्षीय महिला-सम्मेलन की सभानेत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति

जीवन की ज्यों छुटी शक्ति आरक्ति से भरी—
नभश्चुम्बिनी उतरी क्षिति पर किरण की परी,
पार कर रही थीं प्राङ्गण विश्व का अनुर्वर
अर्जित यौवन में मार्जित जीवन भर-भरकर
मुखरा, प्रिय के सङ्ग; तीसरा प्रहर दिवस का;
मरूद्यान में यान तुम्हारा रुका विवश-सा;
उतरीं तुम, सङ्ग-सङ्ग प्रिय, उस रङ्गमञ्च पर
हरित-गुल्म-तरु-लता-लास कलि-हास मनोहर;

बढ़ी देखती पड़ी दृष्टि पाटल पर सुन्दर,
हृत रक्तोत्पल स्थल पर मन्द-गन्ध उन्मदकर;
स्निग्ध शान्त एकान्त; लोक-नयनों से ओझल;
उत्कल अपने में, केवल नैसर्गिक सम्बल;
तोड़ा तुमने; अधर-स्पर्श से कर के व्याकुल
लगा लिया उर में; प्रिय की शुभ दृष्टि गयी खुल।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

घेर लिया जीवों को…

घेर लिया जीवों को जीवन के पाश ने;
बाँधा सुन्दर को तब नर के विश्वास ने।

ज्योति अगर अम्बर से विच्युत कर दी गयी,
तो न रही ज्योति, हुई वह अलक्ष्यता नयी,
मुक्ति उसे कह सकते हैं; प्रभेद हैं कई;
किन्तु सदा बाँधा है ईश्वर को दास ने।

लोग-बाग चलते फिरते हैं, यह सही है;
उठे पैर को लगनी आड़ एक रही है;
सब कुछ टेढ़ा है जैसे सरिता बही है,
सीधा है जैसे खोला गुल को वास ने।

बाँकी भौंहें ही सुन्दर हैं, यह कहते हैं,
बाँकी चितवन से ही नयन फँसे रहते हैं,
बड़े लड़ाके बाँके ही मारें सहते हैं;
पार किया है तम से प्रभा के विनाश ने।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

स्नेह-निर्झर बह गया है

स्नेह-निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—"अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।"

"दिये हैं मैंने जगत् को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल;
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल—
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है।"

अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को, निरुपमा।
बह रही है हृदय पर केवल अमा;
मैं अलक्षित हूँ, यही
कवि कह गया है।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

मत्त हैं जो प्राण

मत्त हैं जो प्राण,
जानते हैं कब किसी का मान ?

बेलि विष की फैलकर जो खिल गयी,
गन्ध जिसकी हवा के उर मिल गयी,
वह बिना समझे हृदय में हिल गयी,
कर गयी अपमान।

राह चलते लगेंगे काँटे, सही,
धूल में उनको मिलायेगी मही,
डाल की वह बात हटकर ही रही,
फिर कहाँ उत्थान ?

है व्यथा में स्नेह निर्भर जो, सुखी;
जो नहीं कुछ चाहता, सच्चा दुखी;
एक पथ ज्यों जगत् में, है बहुमुखी,
सर्वदिक् प्रस्थान।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

मरण को जिसने वरा है

मरण को जिसने वरा है
उसी ने जीवन भरा है।
परा भी उसकी, उसी के
अङ्क सत्य यशोधरा है।
सुकृत के जल से विसिञ्चित
कल्प-किञ्चित् विश्व-उपवन,
उसी की निस्तन्द्र चितवन
चयन करने को हरा है।
गिरिपताक उपत्यका पर
हरित तृण से घिरी तन्वी
जो खड़ी है वह उसी की
पुष्पभरणा अप्सरा है।
जब हुआ वञ्चित जगत् में
स्नेह से, आमर्ष के क्षण,
स्पर्श देती है किरण जो,
उसी की कोमलकरा है।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

जननि, मोहमयी तमिस्रा…

जननि, मोहमयी तमिस्रा दूर मेरी हो गयी है।
विश्व-जीवन की विविधता एकता में खो गयी है।

देखता हूँ यहाँ, काले-लाल-पीले-श्वेत जन में।
शान्ति की रेखा खिंची है, क्रान्ति कृष्णा रो गयी है।

जग रहे हैं वे जगत् में जो तुम्हारी गोद में हैं,
दृष्टि में उनकी अपरिचयता परायी सो गयी है।

काम आये हैं, बने हैं जो किसी के भी बनाये,
बीज पानी में, जवानी में, सुखाशा बो गयी है।

चाल उलटी फिर उलटती है यही है सत्य जग का;
देखता हूँ, पल्लवों की धूल वर्षा धो गयी है।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 10 जनवरी, 1943, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

तुम्हीं हो शक्ति समुदय की

तुम्हीं हो शक्ति समुदय की,
तुम्हीं अनुरक्ति संचय की।
तुम्हारी दृष्टि ही है—
ज्ञान से जकड़ा हुआ सागर,
मथा फिर देव - असुरों ने
समझकर रत्न का आकर,
पिया विष विष्णु के ही अर्थ
शंकर ने अमरता - भर,
जहाँ से आय है निश्चित
जहाँ से बुद्धि है व्यय की।

कथा के स्रोत का उत्थान
तुमसे है, पतन तुमसे;
विषय - स्पष्टीकरण तुमसे,
प्रलम्बित आहरण तुमसे;
तरङ्गों का विताड़ित भाव,
अर्थ - न्यास - धन तुमसे,
मिलन तुमसे, विरह तुमसे,
व्यथा उत्थान की, लय की।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 24 जनवरी, 1943, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

यह है बाज़ार

यह है बाज़ार
सौदा करते हैं सब यार।

धूप बहुत तेज थी, फिर भी जाना था,
दुखिये को सुखिया के लिए तेल लाना था,
बनिये से गुड़ का रुपया पिछला पाना था,
चलने को हुआ जैसे बड़ा समझदार।

सुखिया बोली अपनी सास को सुनाकर यों,
"मास के पैसे शायद अब तक भी बाकी हों,
अच्छा है अगर करें पूरी धेली ज्यों-त्यों,
टूटा रुपया खर्च होते लगेगी न बार।"

दुखिया बोला मन में, "ठहर अरी सास की,
मास खिलाता हूँ मैं तुझे, अभी रास की
चोरी है याद मुझे, बात कौन घास की
बैठाली क्या जाने ब्याही का प्यार?"

मगर निकलकर घर से तेज कदम बढ़ा चला,
पिछली बातों का अगली बातों ने घोंटा गला,
दुखिया ने सोचा, "इसके पीछे बिना पड़े भला,
बैठा ले दूसरा तो सिंह से हूँ स्यार।"

[रचनाकाल : 1942 ई. । 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 14 फरवरी, 1943, में प्रकाशित । **अणिमा** में संकलित]

भारत ही जीवन-धन

भारत ही जीवन - धन,
ज्योतिर्मय परम - रमण,
सर-सरिता वन-उपवन।
तपः-पुञ्ज गिरि-कन्दर,
निर्झर के स्वर पुष्कर,
दिक्प्रान्तर मर्म-मुखर,
मानव मानव - जीवन।
धौत-धवल ऋतु के पल,
सञ्चारण चरण चपल,
कारण-वारण, वल्कल-
धारण, सुक्तोच्चारण।
नहीं कहीं जड़-जघन्य,
नहीं कहीं अहम्मन्य,
नहीं कहीं स्तन्य-वन्य,
चिन्मय केवल चिन्तन।

[रचनाकाल : 1942 ई. । 'विक्रम', मासिक, उज्जैन, फरवरी, 1943, में प्रकाशित । **अणिमा** में संकलित]

युग-प्रवर्तिका श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति

दिये व्यंग्य के उत्तर रचनाओं से रचकर,
विदुषी रहीं विदूषक के समक्ष तुम तत्पर,
हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणा-पाणी,
स्फूर्ति-चेतना-रचना की प्रतिमा कल्याणी,
निकला जब 'नीहार' पड़ी चञ्चलता फीकी
खुली 'रश्मि' से मुख की श्री युग की युवती की,
प्रति उर सुरभित हुआ, 'नीरजा' से, निरभ्रनभ
शत-शत स्तुतियों से गूँजा 'यह सौरभ, सौरभ'।
'सान्ध्य गीत' गाए समर्थ कवियों ने सुस्वर,
वीणा पर, वेणु पर, तन्त्र पर और यन्त्र पर।
'यामा'—दीपशिखा' के विशिखों के ज्यों मारे
अपल-चित्र हो गये लोग, 'चल चित्र' तुम्हारे
चला रहे हैं सहज शृंखला की कड़ियों से,
सजो, रँगो लेखनी-तूलिका की छड़ियों से।

[रचनाकाल : 1943 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 7 फरवरी, 1943, में प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज

आमों की मञ्जरी पर
उतर चुका है वसन्त,
मञ्जु-गुञ्ज भौंरों की
बौरों से आती हुई,
शीत-वायु ढो रही है
मन्द-गन्ध रह-रहकर।
नारियल फले हुए,
पुष्करिणी के किनारे
दोहरी कतारों में
श्रेणीबद्ध लगे हुए।

भरा हुआ है तालाब,
खेलतीं हैं मछलियाँ,
पानी की सतह पर
पूंछ पलटती हुई।
वहीं गन्धराज, बकुल,
बेला, जुही, हरसिंगार,
केतकी, कनेर, कुन्द,
चम्पा लगे हुए हैं—
पूजा के उपचार,
ऋतु-ऋतु में खिलते हुए।
अमरूद, जामुन, अनार, लीची, फ़ालसे,
कटहल लगे हुए।
कोनों में बाँसों के झाड़, कहीं कहीं इमली,
इंगुदी, कपास, नीम,
मध्यवित्त गृहियों के वासगृहों के पीछे।
सामने है पूजागृह—
भिन्न वासगृह से,
स्वच्छ स्निग्ध गन्ध से मोदित करता हुआ।
ब्राह्मण का शोभन गृह।
अन्य ओर धान का गोला, पुष्करिणी कल
एक ओर, बीचों बीच, और स्वच्छ जलवाली,
हल्की-सजी हुई; बँधा हुआ घाट सुघर।
यहाँ लगे हैं गुलाब, नारियल वैसे ही,
नहीं बाँस या इमली।
सुन्दर-सी बैठक में
गृहस्वामी बैठे हुए।
बालकों का कलरव
गूँजता हुआ अबाध।
बेर के, खजूर के,
आम और जामुन के नीचे, पकते समय,
महाभारत मचा हुआ।
दूर-दूर पास-पास गाँव के आवास हैं
ऊँचे भूखण्डों पर।
नीची-नीची ज़मीं में,
जमता है जहाँ पानी,
धान कट चुके हैं अगहन के, देर हुई,

किन्तु ऐसी ज़मीं में अभी तक कुछ नमी है।
गृहस्वामी परमहंस देव जी के भक्त हैं।
युवक-समाज बड़े चाव से पढ़ता है
स्वामी विवेकानन्दजी के लिखे हुए ग्रन्थ।
शोधन भी चाहता है करना चरित्र का
उनके प्रभाव से,
जैसे मधु-ऋतु से तरु।
ग्रामीण जनों में निश्चय बँध चुका है।
स्वामी प्रेमानन्दजी, शिष्य रामकृष्ण के,
उत्सव में आयेंगे। भेजा गया भक्त एक
स्वामीजी को लेने को, युवक एक पश्चिम के
प्रान्त का, जिसके पिता
बंगदेश गये थे,
फिर वहीं
बसे थे। तरुण वह
ले आया स्वामी को
जैसे भास को प्रभात।
साथ ब्रह्मचारी थे,
आत्मा की खोज और
लोगों की सेवा के लिए
गये हुए थे जो वहाँ।
पूर्णिमा के चन्द्र को
देखकर चढ़ा हुआ
सागर समुदाय था
स्वामीजी के दर्शनों से।
पीटकर बराबर एक खेत कर दिया गया,
बड़ा शामियाना तना।
तोरण बनाये गये।
द्वारों पर दोनों ओर
कलस रखे गये
जलपूर्ण, सेंदुर से
स्वस्तिका खींचकर,
आम्र-पल्लव, धान-भरी
परई, कच्चा छोटा
नारियल रखकर।
मञ्च सजा पुष्प और पल्लवों का शोभापूर्ण।

चित्र रामकृष्ण का
रक्खा गया तख्त पर
फूलों से आच्छादित ।
रँगे हुए कागजों की जंजीरें ।
'स्वागत' प्रवेश-द्वार पर लगा हुआ विशाल ।
बाल-वृद्ध-युवा-नर-नारी आते-जाते हुए ।
कीर्त्तन होता रहा
खोल-करताल पर ।
खिचड़ी, भाजियाँ कई,
मिष्टान्न, परिवेश
किया गया दीन नारायणों के अभ्यर्थन में ।
अन्य जन बैठते थे
प्रत्याशी प्रसाद के,
साथ, एक पंक्ति में ।
कितनी पंक्तियाँ हुईं ।
आमन्त्रित थे सभी
धनी-मानी, नगर के
राजकर्मचारि वर्ग,
जीवन की पुष्टि और
आध्यात्मिक धारणा के लिए आये हुए थे,
भक्ति के प्रतिरूप,
पवन ज्यों मुक्त हों
भली-बुरी गन्ध से ।
घेरकर आत्मा को
खड़े थे देह जैसे ।
मञ्च के सामने
कीर्त्तन होता रहा
गायकों का, भक्तों का ।
बजते हुए मृदङ्ग,
करताल, चक्राकार
भक्तजन परिक्रमा करते हुए बार-बार ।
उत्सव समाप्त हुआ ।
स्वामी को बुलाकर
श्रेष्ठ राजकर्मचारी
ले आये उपवन के अपने भवन में ।
रक्खा समादर से ।

[illegible]जानुष्ठान हुआ
पश्चिमीय तरुण ने
श्रीसुतीक्ष्ण की कथा
रामचरितमानस से
पढ़ी मधुर कण्ठ से
वन्दन रघुनन्दन का
भक्ति से ओतप्रोत।
सभ्य जन आँसू बहाते हुए सुनते रहे।
स्वामीजी ध्यानमग्न,
स्वर के स्तर से चढ़कर
सहस्रार में गये।
लोकोत्तरानन्द तभी सब की समझ में आया।
कथा परिसमाप्त हुई।
गृहस्वामी भोजन का
आयोजन करने लगे।
पत्तलें पड़ीं नयी।
आसन बिछाये गये,
जल-पात्र रक्खे गये।
घृतपक्व गन्ध से
महकने लगा गृह।
दूर आवास तक
हवा खबर भेजती है।
आमन्त्रित हैं सभी
राजकर्मचारिवर्ग।
आवाहन होने पर
स्वामी उठकर चले।
क्षालित हुए उनके पद,
हाथ-मुंह धुलाकर
आसन दिखाया गया,
सबसे अधिक मर्यादित।
उनके बैठने ही पर
बैठे आमन्त्रित जन,
एक ही पंक्ति में
ब्राह्मण-कायस्थ सब !
श्रेष्ठ राजकर्मचारी
जाति के कायस्थ थे।

स्वामीजी का पूर्वाश्रम कायस्थ कुल में था
जैसे विवेकानन्दजी का ।
राजकर्मचारी को गर्व इससे हुआ
खुलकर वह बोले भी—
"एक दिन ब्राह्मणों ने
हमें पतित किया था—
शूद्र कहलाये हम,
किन्तु श्रीविवेक और
आप-ऐसे कृतियों ने
धन्य हमें कर दिया ।
ब्राह्मणों की ही तरह
हम भी सिर उठाकर
रहते हैं समाज में,
एक ही फल के भागी—
भोगी स्वाच्छन्द्य के ।"
स्वामीजी मौन थे
स्तुति को दबाते हुए
जो थी एकाङ्गिणी ।
सजग हुए ब्रह्म वर्ग,
स्पर्धा से उद्धत-सिर,
देखते ही स्वामीजी
समझे वह मनोभाव
क्षोभ भरनेवाला,
बोले स्नेह-कण्ठ से—
"संन्यासी होने पर
देश-काल-पात्रता से
दूर हम हुए हैं,
रामकृष्णमय जीवन,
सर्व जनों के लिए ।
ब्राह्मण के गृह जिनका
शुभ जन्म हुआ था,
उनके दर्शनों को
हम या विवेकानन्द
नहीं गये थे वहाँ;
जो थे परमात्मालीन
त्यागी-योगी सिद्धेश्वर,

उन्हीं प्रवर से सीखें
ली हैं हम लोगों ने
विगत जाति-कुल से ।"
यद्यपि उन मधुपुष्प शब्दों पर बैठकर
शान्त हुए द्विज-भ्रमर,
फिर भी बर्र जैसे एक गूँजते ही रह गये—
"राजा हैं ब्राह्मण, मैं
ब्राह्मण-विद्वेष की कथा उनसे कहूँगा,
उन्हीं के साथ यह श्रेष्ठ राजकर्मचारी
बैठकर जेयेंगे—
देखेंगे हमलोग ।"
कहकर वह उठने लगे ।
एक दूसरे ने कहा,
"रसगुल्ले आ रहे हैं,
अभी कहाँ जाते हैं ?
कटु हुई है जिह्वा, मीठी कर लीजिए ।"
वह पश्चिमीय भी बैठा था चुपचाप ।
उठने को काँपकर बैठे रहे द्विजदेव ।
भोजन अधूरा ही छोड़कर स्वामीजी
उठकर खड़े हुए ।
बढ़ते हुए कहा यह, "होगा हमारा भी कोई
अपना समझदार, समझायेगा वही
ऐसे विद्वानों को ।"
द्विज भी खड़े हुए,
पश्चिमीय की तरफ उँगली उठायी, कहा,
"ऐसा भी आदमी पंक्ति में बैठाला गया
जिसके माँ-बाप का पता आज तक न लगा,
घोर कलिकाल है !"
स्वामीजी ने कहा,
"ऐसे कलिकाल में
रामकृष्ण आये हैं, स्वामी श्री विवेकानन्द
ऐसे ही जनों के परमबन्धु हो गये ।
पता उन्हीं का रहा, कुछ पता नहीं था जिनका,
म्लेच्छ और दुराचारी जो लोग कहलाते रहे ।"
राजकर्मचारी ने
हाथ जोड़कर कहा,

"आपके बैठे बिना
लोग उठ जायँगे,
यज्ञ अधूरा होगा।"
स्वामीजी ने कहा, "इसी युवक को पहले
लाकर परोसो अन्न-मिष्टान्न जो कुछ हो
भोजन-समाप्ति का,
यहीं से प्रारम्भ इस भोजन का होता है,
पायेंगे प्रसाद सभी।"
मेघमन्द्र कण्ठ से स्तम्भित सब हो गये।
बैठ गये स्वामीजी।
मिष्टान्न लाया गया,
पहले परोसा गया युवक को विनय से।
दबे हुए चुपचाप
समय के प्रभाव से
आमन्त्रित बैठे रहे,
मिष्टान्न खाया स्वाद साधुता का लेते हुए।
खुल गये प्राण सब,
गगन में जैसे तारे।
चमके आमन्त्रित जन।
साधुभोज पूर्ण हुआ।
प्रातःकाल सभा हुई।
स्थानीय जन समवेत हुए प्रेम से
रामकृष्ण और श्री विवेकानन्द की बातें
स्वामी प्रेमानन्दजी के मुख से सुनने के लिए।
राजकर्मचारीजी सबसे विद्वान् थे—
आदरणीय, राज्य के प्रधानामात्य-पद पर;
उन्हीं ने सभापति का आसन सुशोभित किया।
बगल में श्री स्वामीजी की कुरसी रक्खी गयी।
समागत सभ्य विद्वानों के व्याख्यान हुए
श्रीमद्रामकृष्ण परमहंस देव पर, कोई
स्वामी श्रीविवेकानन्दजी के विषय पर बोले,
आधुनिक धर्म, त्याग,
जाति का उत्थान, प्रेम,
सेवा, देश-नायकता,
भारत और विश्व जैसी गहन समस्या लेकर।

एक ब्रह्मचारी ने
स्वामी श्री विवेकानन्दजी की 'वीरवाणी' से
'सखा के प्रति' विशिष्ट पद्य की आवृत्ति की।
स्वामीजी से बोलने के लिए प्रार्थना हुई।
जनता उद्ग्रीव देखती थी वह पवित्र मुख।
स्वामीजी खड़े हुए,
कहा, "हम सेवक हैं,
आप लोग आमुख हैं सब विद्या के,
बोलेंगे; हममें जो श्रेष्ठ श्रुतिधर थे—विवेकानन्द
जानता है विश्व उन्हें—
जनता के अर्थ वे
सब कुछ कह गये हैं,
सिर्फ़ काम करना है;
फिर भी हम बोलते हैं लोगों के आग्रह से
सांसारिक धर्म पर
सर्वश्रेष्ठ जो है जैसा ऋषिमुनियों ने कहा है।
एक दिन विष्णुजी के पास गये नारदजी,
पूछा, मृत्युलोक में वह कौन है पुण्यश्लोक
भक्त तुम्हारा प्रधान ?
विष्णुजी ने कहा, 'एक सज्जन किसान है,
प्राणों से प्रियतम।'
नारद ने कहा, 'मैं
उसकी परीक्षा लूंगा।' हँसे विष्णु—सुनकर यह,
कहा कि ले सकते हो।
नारदजी चल दिये,
पहुँचे भक्त के यहाँ,
देखा हल जोतकर आया वह दुपहर को;
दरवाजे पहुँचकर रामजी का नाम लिया;
स्नान-भोजन करके
फिर चला गया काम पर।
शाम को आया दरवाजे, फिर नाम लिया
प्रातःकाल चलते समय
एक बार फिर उसने
मधुर नाम स्मरण किया।
बस केवल तीन बार;
नारद चकरा गये।—

दिवारात्र जपते हैं नाम ऋषि-मुनि लोग
किन्तु भगवान् को किसान ही यह याद आया।
गये वह विष्णुलोक;
बोले भगवान् से,
'देखा किसान को,
दिन-भर में तीन बार
नाम उसने लिया है।'
बोले विष्णु, "नारदजी,
आवश्यक दूसरा
काम एक आया है,
तुम्हें छोड़कर कोई
और नहीं कर सकता।
साधारण विषय यह।
बाद को विवाद होगा;
तब तक यह आवश्यक कार्य पूरा कीजिए।
तैल-पूर्ण पात्र यह,
लेकर प्रदक्षिण कर आइए भूमण्डल की,
ध्यान रहे सविशेष,
एक बूंद भी इससे
तेल न गिरने पाये।'
लेकर चले नारदजी,
आज्ञा पर धृतलक्ष्य—
एक बूंद तेल उस पात्र से गिरे नहीं।
योगिराज जल्द ही
विश्व-पर्यटन करके
लौटे बैकुण्ठ को,
तेल एक बूंद भी उस पात्र से गिरा नहीं।
उल्लास मन में भरा था
यह सोचकर, तैल का रहस्य एक
अवगत होगा नया।
नारद को देखकर
विष्णु भगवान् ने
बैठाला स्नेह से,
कहा, 'यह उत्तर तुम्हारा यहाँ आ गया।
बतलाओ, पात्र लेकर जाते समय कितने बार
नाम इष्ट का लिया?'

'एक बार भी नहीं',
शङ्कित हृदय से कहा नारद ने विष्णु से,
'काम तुम्हारा ही था,
ध्यान उसी से लगा,
नाम फिर क्या लेता और ?'
विष्णु ने कहा, 'नारद,
उस किसान का भी काम
मेरा दिया हुआ है,
उत्तरदायित्व कई लादे हैं एक साथ,
सब को निभाता और
काम करता हुआ
नाम भी वह लेता है,
इसी से है प्रियतम।'
नारद लज्जित हुए,
कहा, 'यह सत्य है।'
व्याख्यान पूरा हुआ,
स्वामीजी बैठे, स्तब्ध
सभा रञ्जित हुई,
धार्मिक आभास मिला।
स्वामीजी ने कहा चीफ़ मैनेजर साहब से,
'कोई दर्शनीय स्थान हो तो हमें दिखा दो।'
'राजा के गढ़ मध्य
मन्दिर है कृष्णजी का,
बहुत ही सुन्दर स्थल,
सन्ध्या की आरती के समय साथ चलेंगे,'
मैनेजर ने कहा,
'यों तो प्रासाद तथा और दृश्य हैं,
किन्तु व्यर्थ आप के लिए है यह देखना।'
स्नान, ध्यान, भोजन, आराम के अनन्तर
सब लोग तैयार हुए
कृष्णजी के दर्शन को,
राजगढ़ के अभ्यन्तर।
स्वामीजी, तीन ब्रह्मचारी, मैनेजर साहब
चले, पश्चिमीय वह युवक भी साथ हुआ।
तीन मील घेरकर गहरी एक नहर-सी
परिखा है चारों ओर से गढ़ को डालकर
अपने में वेष्टनी-सी।

पश्चिम में सिंहद्वार,
परिखा के पुल के बाद ।
सीधा रास्ता गया । दोनों ओर बड़े-बड़े
स्वच्छ जलाशय हैं ।
समतल किये हुए
सरोवर तटोद्यान के । दूब जमायी हुई ।
थालियाँ ऋतुपुष्पों की, लाल पीले ज़र्द
मिश्र रङ्गों की बहार तृप्त करती हुई नयन,
बेंचें पड़ी हुई,
सरोवर-जल-स्पृष्ट हवा स्निग्ध आती हुई,
रास्ते के दोनों ओर बटम-पाम की क़तारें,
दोनों ओर सरोवर काफी भूमि छोड़कर,
दो-दो, चार; दायीं ओर मध्य से गयी है राह
कृष्णजी के मन्दिर को, बीच से दो सरों के ।
हरियाली दूब की, जल की लघु नीलिमा,
बटम-पामों की छाया छत्राकृति दूर तक,
ऋतुपुष्पों की शोभा, देवदार, हींग और
इलायची-अशोक जैसे
क़ीमती वृक्षों की छटा
मुग्ध कर लेती है मन को क्षण मात्र में
जल की लहरियों से खेलता है समीरण ।
एक राह और राज-भवन से गयी हुई ।
बीच में, तालाबों के खत्म होते एक ओर
ड्योढ़ी पड़ती है बड़ी,
बाद को प्रासाद है,—
ड्योढ़ी से दिखता हुआ,
शोभन विशालकाय,
उद्यानों में बना,
चीफ़ मैनेजर साहब उसी से लेकर चले ।
ड्योढ़ी पर सन्तरी खड़ा हुआ,
सिंहद्वार पर जैसा,
जिसको ये पार कर यहाँ आकर पहुँचे हैं,
राजप्रासाद का सन्तरी दिख रहा है
दीर्घ इस ड्योढ़ी के बहुत ऊँचे फाटक से;
संगमारवर के सोपान उसके प्रायः बीस,
बहुत लम्बे-लम्बे, एक-मंज़िले तक ऊँचा-चढ़े;

दोनों ओर तोपें लगीं, बैठे, सिंह भीमकाय
सोने के पानी के चढ़े, दोनों ओर पत्थरों पर;
दोनों ओर बटम-पाम, एक-एक, बड़े-बड़े;
खुला बड़ा बरामदा, संगमारवर और
संग मूसे का बना, पत्थर चौकोर क्रम
क्रम से लगे हुए,
ऊँची-ऊँची रेलिंग और बड़े-बड़े दरवाजे
दुहरे; एक, शीशे का; भवन विशालकाय;
मन्द पवन बहता हुआ;
रातरानी की सुगन्ध आती हुई भीनी-भीनी ।
सन्तरी ने चीफ़ मैनेजर को सलाम किया
और विनय से कहा,
"महाराज का है हुक्म,
आप ही अकेले इस मार्ग से जा सकते हैं;
दूसरों के लिए जब तक
कोई हुक्म नहीं होगा,
छोड़ नहीं सकता मैं ।
दूसरों के लिए मार्ग उधर से है जाने का ।"
अब तक वह ब्राह्मण
जो भोज में गरमाये थे,
बाहर आये, कहा,
"महाराज उतर आये हैं,
इतना सम्मान परमहंस देवजी के लिए
उनके हृदय में है,
लेकिन अपमानकारी इस स्वामीजी के लिए
जो कि उस आश्रम के
एक कायस्थ हैं,
उचित व्यवस्था वह मन्दिर में करेंगे
दर्शन दिलाते समय ।"
एक साधारण कर्मचारी की बात सुनकर
मैनेजर साहब सन्नाटे में आ गये,
कहा, "यह आये हैं
इतना ही बहुत है,
और तुम्हें कौन समझायेगा यह कौन हैं,
कौन हैं विवेकानन्द ।"
संवाददाता ने कहा,

"महाराज का कहना जैसा था, मैंने किया,
आप जैसा कहेंगे,
चलकर उनसे कहूँगा;
फिर उत्तर ला दूंगा।
खड़े रहिए जरा देर,
क्योंकि वह खड़े हैं।"
कहकर चले गये,
कुछ देर बाद आये,
कहा, "महाराज की
आज्ञा नहीं ली गयी;
आपको मालूम है,
सिंहद्वार से इधर
कोई अजनबी कभी
पैर नहीं रख सकता;
आप यहाँ आ गये,
फिर भी ख़ामोश हैं,
राजा के सिपाही लोग।"
इससे बड़ा अपमान
दूसरा नहीं होता।
जैसे शिव गरल को
पीकर, स्वामीजी बोले
"देव-दर्शन के लिए
हुक्म लिया जाता है!
हमें नहीं ज्ञात था।"
ब्रह्मदेव ने कहा,
"देवता राजा के हैं, नहीं किसी प्रजा के।"
तमतमा उठे स्वामी,
किन्तु धैर्य से रहे, पूरी बात सुनने को।
ब्राह्मणजी कहते गये,
"चीफ़ मैनेजर साहब,
राजा यहाँ वही हैं
जिनके दर्शन के लिए जा रहे हैं आप लोग;
यह तो बतलायें, अपमान किसका किया था?"
मैनेजर स्वामीजी को बात समझाने लगे—
"कृष्णजी ही राज्य के राजा कहे जाते हैं
मुहर में उन्हीं की छाप चलती है यहाँ,
उत्तराधिकारी ये लोग कहे जाते हैं।"

स्वामीजी मुस्कराये,
सीधे स्वर से कहा,
"क्या वह भी ब्राह्मण थे,
जिसका इन्हें गर्व था।"
झेंप गये ब्रह्मदेव,
कहा, "महाराज ने और यह कहा—
नंगेपन के उत्तर में अपने गुरुदेव को
नंगे बाबाजी को हम पेश यहाँ करते हैं।"
स्वामीजी ने कहा,
"परमहंसदेव भी नंगे हो जाते थे।
गुरु सब एक हैं,
साधु अपमान नहीं करता, सह लेता है।"
चीफ़ मैनेजर को गहरा धक्का लगा।
ब्रह्मदेव कहने लगे--
"आप हैं सर्वश्रेष्ठ राजकर्मचारी, तभी
हल्की-हल्की सजा का विधान किया गया है
आप हों या स्वामीजी, एक ही महज्जन
इस मार्ग से जायेंगे, अन्य जन घूमकर।
पश्चिमीय के लिए सदा का निषेध रहा
मन्दिर-प्रवेश में।"
काँप उठे स्वामीजी,
"इसलिए नहीं आये"
कहा, "कभी दर्शन भी
किये नहीं जैसे, हम
साधु हैं।" शरीर से
ज्वाला-सी निकली, ज्यों
ग्रास ही कर जाने को,
ब्रह्मदेव तड़ित से स्तम्भित-से हो गये
देखा, श्रीकृष्णजी स्वामीजी में आ गये
ब्राह्मण को अपने नेत्रों पर हुआ अविश्वास।
रगड़कर फिर से देखा, कृष्णजी की नीलकान्ति
ज्योतिर्मयी घनीभूत स्वामीजी की देह में।
आनन्द के परमाणुओं का फ़व्वारा छुटा।
जितने जन थे जैसे उमड़े आनन्द हों।
देखा ब्रह्मदेव ने, ज्योति की-सी रेखा से
स्वामीजी के साथ पश्चिमीय का शरीर बँधा
पागल-सा हुआ वह भागा यह कहता हुआ।

"वाह वाह, ऐसा अच्छा आज तक नहीं देखा।"
कहता दौड़ता हुआ राजा के समीप गया
सुनते ही महाराज अभिभूत हो गये।
फिर भेजा ब्राह्मण को
सादर ले चलने के लिए कृष्ण-मन्दिर में
उसी राह स्वामी को।
स्वामीजी ने कहा,
"साधारण के ही हैं हम
घूमकर जायँगे,
हमें यही खुशी है।"
अस्तु घूमकर गये।
दोनों ओर नौबतखाने।
चत्वर संगमारवर का।
दोनों ओर दिव्य मन्दिर।
सामने विशालकाय मन्दिर में कृष्णजी
स्वर्ण-भूषणों से सजे।
देखकर द्वारकाधीश कृष्ण याद आ गये।
पश्चिमीय जन वह मन्दिर के बाहर रहा
स्वामीजी ने चलते समय कहा कि "मैं वही हूँ
बाहर खड़ा है जो।"
लौटे जब स्वामीजी
साथ युवक हो गया मन्त्र-मुग्ध प्रेम से।
वासना से मुँह फेरा, सदा को चला गया।

[रचनाकाल : 1943 ई. का पूर्वार्ध। **अणिमा** में संकलित]

जवाहरलाल !

वह था किशोरकाल।
दैव के चक्र से वक्रगति आ मिले,
मैं था सत्रह का, चौबीस के
जवाहरलाल !

किरण तारुण्य की
तिलक ललाट पर,
ब्याह नहीं हुआ शुभ्र
कमला से उस काल।

गीता की आवृत्ति करके
सुनायी मैंने,
मैं हूँ कवि आज, धन्य
नेता हैं जवाहरलाल।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 21 नवम्बर, 1943। **असंकलित कविताएँ में** संकलित]

गया अँधेरा

गया अँधेरा
देख, हृदय, हुआ है सवेरा।

चलना है बहुत दूर रे,
नहीं वहाँ परी, नहीं हूर,
मूसा का जैसा, कुछ देने के लिए है,
निर्जीवन जीवनदहन तूर;
और कहीं डाल अपना डेरा—
गया अँधेरा !

कोई नहीं पूछता, न पूछे,
भरे रह गये हैं वे, इसलिए
तेरी नजरों में हैं छूँछे;
ढलकाता चल उनका जल रे,
भर जैसे मिलना है तेरा—
गया अँधेरा।

[रचनाकाल : 1943 ई.। **अणिमा में संकलित**]

स्नेह-मन तुम्हारे नयन बसे

स्नेह-मन तुम्हारे नयन बसे,
जीवन-यौवन के पाश कसे ।

पल्लवित प्रणय के, निरावरण,
खिल गये लता-द्रुम नभस्तरण,
चुम्बित समीर-कुंकुम क्षण-क्षण,
सिहरे, बिहरे; फिर हँसे, फँसे ।

रँग गया प्रेम का अन्तराल,
खुल गया हेम का जगज्जाल,
तुल गयी किरण, धुल गयी झाल,
जीवन-सकाल से सकल गसे ।

[रचनाकाल : 1943 ई. । **अणिमा** में संकलित]

नाम था प्रभात ज्ञान का साथी

नाम था प्रभात ज्ञान का साथी,
एक पाठशाले में पढ़ा हुआ,
बातचीत करता था हँस-हँसकर,
बढ़ा मेलजोल में कढ़ा हुआ,
गोरा छरहरा बदन, बड़ी फाँकें
आँखें, पलकों से उभारती चितवन;
राह बचाता चला, गठी फिर भी
चड्ढी, हो गयी उछाह से अनबन;
खेलता खाता हुआ वह पल रहा था,
कभी दिल को नहीं लगी चोट सख्त,
कहा, "ज्ञान, तेरा साथ मिलने पर,
नहीं चाहिए कुछ भी, किसी वक्त ।"

कहा ज्ञान ने, "फिर तू कैसा प्रभात,
अगर हटायी न हटी वैसी रात ?"

[रचनाकाल : 1943 ई. । **अणिमा** में संकलित]

मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है

मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है
बड़ी-बड़ी आँखों वाली वह युवती,
सारी कथा खुल-खुल कर कहती है
चितवन उसकी और चाल-ढाल उसकी ।
पैदा हुई है गरीब के घर, पर
कोई जैसे जेवरों से सजता हो,
उभरते जोबन की मीड़ खाता हुआ
राग साज पर जैसे बजता हो ।
आसमाँ को छूती हुई वह आवाज़
दिल के तार-तार से मिलाई हुई,
चढ़ाती है गिरने का जहाँ नहीं डर
कली की सुगन्ध जैसे छाई हुई ।
चढ़ी हुई है वह किसी देवता पर
जहाँ से लगता है सारा जग सुन्दर ।

[रचनाकाल : 1943 ई. । **अणिमा** में संकलित]

सड़क के किनारे दूकान है

सड़क के किनारे दूकान है
पान की, दूर एक्कावान है
घोडे की पीठ ठोंकता हुआ,
पीरबख्श एक बच्चे को दुआ

दे रहा है, पीपल की डाल पर
कूक रही है कोयल, माल पर
बैलगाड़ी चली ही जा रही है।
नीम फूली है, खुशबू आ रही है,
डालों से छन-छनकर राह पर
किरनें पड़ रही हैं, बाह पर
बाह किये जा रहा है खेत में
दाहिनी तरफ किसान, रेत में
बाईं तरफ चिड़ियाँ कुछ बैठी हैं,
खुली जड़ें सिरसे की ऐंठी हैं।

[रचनाकाल : 1943 ई. । **अणिमा** में संकलित]

निशा का यह स्पर्श शीतल

निशा का यह स्पर्श शीतल
भर रहा है हर्ष उत्कल।
तारिकाओं की विभा से स्नात
आलियों की कुन्द-कलिका-गात;
हिल रहा है श्वेत अञ्चल शान्त
पवन से अज्ञात प्रतिपल।
चन्द्र-प्रिय-मुख से लगे हैं नयन,
शिखर-शेखर भवनपर है शयन,
वायु व्याकुल कर रही है चयन
अलक-उपवन-गन्ध अन्ध-चपल।
शिखर के पद पर प्रखर जल-धार
बह रही है सरित,—सुस्त विचार
प्रणयियों के, हैं हृदय पर हार
शब्द-सुमनों के, अमल छल-दल।

[रचनाकाल : 1943 ई. । **अणिमा** में संकलित]

तुम चले ही गये प्रियतम

तुम चले ही गये प्रियतम
हृदय में प्रियछबि नहीं ली।
व्यर्थ ऋतु के दृश्य-दर्शन,
व्यर्थ यह रचना रसीली।
खुले उर की प्रेमिका की
गन्ध का वाहक नहीं अब,
मुक्त-नयना सङ्गिनी का
पथिक परिचायक नहीं अब;
खुली जो मुरझा चली कलि,
बँधी छबि हो गयी ढीली।
बरसने को गरजते थे
वे न जाने किस हवा से
उड़ गये हैं गगन में घन,
रह गये हैं नयन प्यासे,
उड़ रही है धूल, धाराधर,
धरा होगी न गीली।

[रचनाकाल : 1943 ई. । **अणिमा** में संकलित]

चूँकि यहाँ दाना है

चूँकि यहाँ दाना है
इसीलिए दीन है, दीवाना है।

लोग हैं, महफ़िल है,
नग़मे हैं, साज़ है, दिलदार है और दिल है,
शम्मा है, परवाना है,
चूँकि यहाँ दाना है।

आँख है, लगी हुई;
जान है, जीवट भी है भगी हुई,
दोनों आँखोंवाला है, काना है,
चूँकि यहाँ दाना है।

अम्मा है, बप्पा है,
झापड़ है और गोलगप्पा है,
नौजवान मामा है और बुड्ढा नाना है,
चूँकि यहाँ दाना है।

[रचनाकाल : 1943 ई.। **अणिमा** में संकलित]

जलाशय के किनारे कुहरी थी

जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे-नीले पत्तों का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आयी हुई;
गहरे अँधेरे का डेरा था,
किनारे सुनसान थे, जुगनू के
दल दमके—यहाँ-वहाँ चमके,
वन का परिमल लिये मलय बहा,
नारियल के पेड़ हिले क्रम से,
ताड़ खड़े ताक रहे थे सब को,
पपीहा पुकार रहा था छिपा,
स्यार बिचरते थे आराम से,
उजाला हो गया और—तारा दिपा,
लहरें उठती थीं सरोवर में,
तारा चमकता था अन्तर में।

[रचनाकाल : 1943 ई.। **अणिमा** में संकलित]

दूसरा दौर

तिलांजलि

धूसर सान्ध्य समय विषमय
भरता है क्रन्दन;
अन्तरीक्ष से झरता है
निस्तल अभिनन्दन
नैसर्गिक आत्माओं का
प्रशमित नारी - नर
चले आ रहे हैं
अरथी के साथ मार्ग पर
चरण - मन्द; भाषा के जैसे
अश्रु - भार रथ,
स्रस्त-वेश, दिग्देश-ज्ञान-गत,
शिरश्चरण - श्लथ,
मुक्ति - वर्ग नागरिक,
सर्ग देश के भाव के,
मुदे हुए आश्वासन,
श्वसन विसर्ग - स्राव के,
हृदयोच्छ्वसित वाष्प से
होकर प्रहत निरन्तर
ऊर्ध्व और अध प्रशमन
और क्षोभ के हैं स्वर।
कांग्रेस के सेनानी—
वीर सेवकों का दल
नारे लगा रहा है
बढ़ता हुआ धैर्य - बल।
घने बरगदों की कतार,
पर - फड़काते खग,
आँख मूद लेने के लिए
विकल सारा जग,

यात्री गङ्गास्नान के लिए
दूर ज़िले के
निकले हैं मजदूर
काम से छुटे क़िले के;
सुनकर नेहरू जी के
बहनोई की अरथी,
हाथ मले, आह की
और टकटकी बाँध दी।
पुल के पार रास्ता
बायें कटा दूसरा
स्टेशन से लगकर
गङ्गा के बाँध को गया;
चले उसी से, फिर
रेते से होकर, तट पर;
रची चिता भव्यतर,
बत्तियाँ जलीं तिमिरहर।
माघ, मकर - संक्रान्ति,
रात्रि का प्रथम प्रहर जब
सविध कृत्य पूरे करके
लौटे सत्वर सब।
जलती हुई चिता तब भी
उठती लपटों को
और स्पष्टतर करती हुई
रहस्य - तटों को
लहक रही है अपराजेय
वीर को लेकर—
बहुभाषाविद्, गायक, कवि,
तेजस्वी, तत्पर,
भारत का गर्वित उत्तर,
जनता का नेता,
मानवता का शिरोरत्न
बहु - ग्रन्थ - प्रणेता।
आयी याद विजयलक्ष्मी,
स्वरूप - जीवन का
नवोन्मेष, बैरिस्टर
आर. एस. पण्डित, जिनका

स्पर्धित जीवन रहा
समर्थित वचन दे दिया
गान्धीजी को, (असहयोग में
भाग फिर लिया,)
मोतीलाल राष्ट्रपति,
वह ब्याह से प्रथम ही
देखा जब स्वरूप को
कवि - श्री रवीन्द्र को भी।
वीर जवाहर, टण्डन
और शेरवानी से
एक दर्प जैसे जीवन के
घिरे हुए थे।
वह 'स्वातन्त्र्य - दिवस',
'विजया - लक्ष्मी'-निर्वाचन,
वह 'राजर्षि', 'महात्मा' की
उपाधियाँ, वितरण।
कहे कौन, वह सत्य
कहाँ से कहाँ गया, क्या,
और जवाहर का रिश्ता,
दृढ़ कहाँ रहा, क्या ?
की प्रदक्षिणा मैंने,
सबसे पीछे चलकर,
नमन किया करबद्ध
राष्ट्र का श्रेष्ठ विजय-वर।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 20 जनवरी, 1944 ('श्रद्धांजलि' शीर्षक से)। **नये पत्ते** में संकलित]

पाँचक

दीठ बँधी, अँधेरा उजाला हुआ,
सेंधों का ढेला, शकरपाला हुआ ॥ 1 ॥
अपनी राह लगे, नेता काम आया,
हाथ मुहर है, मगर छदाम आया ॥ 2 ॥

आदमी हमारा तभी हारा है,
दूसरे के हाथ जब उतारा है ।। 3 ।।
राह का लगान ग़ैर ने दिया,
यानी रास्ता हमारा बन्द किया ।। 4 ।।
माल हाट में है और भाव नहीं,
जैसे लड़ने को खड़े, दाव नहीं ।। 5 ।।

['हंस', मासिक, बनारस, जनवरी-फरवरी (संयुक्तांक) 1944 । **नये पत्ते** में संकलित]

आँख आँख का काँटा हो गयी

मुहोमुह रहे
एक पेड़ पर दो डालों के काँटे जैसे
अपनी - अपनी कली तोलते हुए ।
हर्फ़ न आया;
हवा, पानी और रौशनी के लिए पहले हुए;
साथियों को हाथ मारा;
रस खींचा ।
सर उठाये बढ़े चले ।
हवा में गिरह लगायी,
बहुत झेला; बहुत झूमे ।
एक तने से कटे,
एक डाल से छँटे ।
पत्तियों की हथेलियाँ हिलायीं,
राहियों को बुलाया,
छाँह में बैठालकर तंग नसें ढीली कीं;
फिर बुखार उतारा;
राही जगा,
अपना रास्ता लिया ।
गुल खिला
आँख आँख का काँटा हो गयी ।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 13 फरवरी, 1944 ('काँटा' शीर्षक से) । **नये पत्ते** में संकलित]

खुश-खबरी

तबला दोनों हाथ आया हथियार,
दरबारी वीर-राग छाया रहा।
सुब्होशाम किरन जैसे तार पर
जीवन-संग्राम हमारा छिड़ा।
सत्य सिनेमा की नटी से नाचा,
पूरब का पाया हिला पश्चिम से,
दुश्मन की जान आयी आफ़त में,
गली-गली गले के गोले दगे।
क़ैद पासपोर्ट की नहीं तो कभी
देश आधा खाली हो गया होता;
देविकारानी और उदयशङ्कर के
पीछे लगे लोग चले गये होते।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 27 फरवरी, 1944 ('सत्य' शीर्षक से)। **नये पत्ते** में संकलित]

शशी वे थे, शश-लांछन

शशी वे थे, शश-लांछन
किसी की जान हुई;
सुकेश, जैसे अधिक
कुञ्चित आनबान हुई।

विशेषता के गले नीच की
छुरी जो चली,
गुलाब जैसा खिला,
रक्तिमाभ शान हुई।

कलेजा डोला, कली की
जो पीली रेणु उड़ी,
मगर हवा सुब्ह की
भैरवी की तान हुई।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जून, 1944। **बेला** में संकलित]

जीवन-प्रदीप चेतन तुमसे हुआ हमारा

जीवन - प्रदीप चेतन तुमसे हुआ हमारा,
ज्योतिष्क का उजाला ज्योतिष्क से उतारा।

बाँधी थी मूठ मैंने सञ्चय की चिन्तना से,
मुद्रा दरिद्र की है, तुमने किया इशारा।

तन्द्रा से जागरण पर क्षण - क्षण सँवारते हो,
आओ, तुरीय में प्रिय मृदु कण्ठ से पुकारा।

वीणा-विनिन्दित स्वर सुनकर प्रखर-प्रखरतर,
तोड़ी प्रसक्ति मैंने, छोड़ी विराम-धारा।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 2 जुलाई, 1944। **बेला** में संकलित]

उनके बाग़ में बहार

उनके बाग़ में बहार,
देखता चला गया।
कैसा फूलों का उभार,
देखता चला गया।

प्रेम का विकास वह,
आँखें चार हो गयीं,
पड़ा रश्मियों का हार,
देखता चला गया।

मैंने उन्हें दिल दिया,
उनका दिल मिला मुझे,
दोनों दिलों का सिंगार,
देखता चला गया।

असर ऐसा कि शिला
पानी - पानी हो गयी,
जवानी का पानीदार
देखता चला गया।

अमृत के घूँट वे
दुनिया ने जो पिये,
टूटी भेद की दीवार,
देखता चला गया।

['वीणा', मासिक, इन्दौर, जुलाई, 1944। **बेला** में संकलित]

टूटी बाँह जवाहर की

टूटी बाँह जवाहर की,
रनजित-लट छूटी पण्डित की।
लोगों की निधि विधि ने लूटी,
क़िस्मत फूटी पण्डित की।

विद्या का गया सहारा,
गीत का गला भी मारा,
कोई भी न ला सका रन
लछमन की बूटी पण्डित की।

कब से ये दल-बादल घेरे,
यह बिजली आँख तरेरे,
झण्डे ले-लेकर निकलीं
धी और बहूटी पण्डित की।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 13 अगस्त, 1944 ('कजली' शीर्षक से)। **बेला** में संकलित]

महालक्ष्मी के प्रति

रक्तांगे, विश्व के सदन में,
रक्त - कोकनद के ऊपर,
राजीं तुम राजीव-चरण
रखकर, राजीव-नखर सुन्दर;
रक्ताम्बर, शस्य के शीर्ष कर
और शंख आरक्त अधर,
वसुन्धरा की मधुर धारणा,
अंश-विष्णु की प्रिया सुघर;
युगल श्वेत-द्विरदों के शुण्डों
बने हुए तोरण के तल
जगद्विधात्री सोह रही हो,
चढ़े किरीटों के शतदल।
सदोलोक की छायालग्ना,
गृह की हुई सदा प्रतिमा,
धन्या माता और प्रेयसी
पत्नी, गरिमा, फिरलघिमा;
कन्या, पुत्रवधू, रक्षा की
एक समीक्षा जैसी तुम,
सभी ओर से पोषण की प्रिय
एक प्रतीक्षा जैसी तुम;
किन्तु वही आसुरिक क्रियाएँ
भिन्न रूप की होती हैं,
छिनते धन से माताएँ—
जायाएँ खुलकर रोती हैं;
जैसे हिम की ठण्डक से
सित शतदल मुरझा जाता है,
एक स्वार्थ से अर्थ दूसरा
दबता है, कुम्हलाता है;
राज्य टूटकर ढह जाते हैं
चढ़ते हैं जब भिन्न विचार,
बदल रहे हैं देह-देह को
एक देह के भिन्न विकार;

यह परिवर्तन, ऐसे होकर
मरण, सुघरतर, जीवन है,
यही तुम्हारा विश्वरूप है,
यही अधनता में धन है।
यही भाव्र जो मथा गया है
सागर देवासुर के कर,
रज्जु शेष की थामी, बनी
मथानी गुल्महीन मन्दर,
निकले चौदह रत्न, श्रेष्ठ तुम,
श्री, विष्णु के अर्थ अर्पित,
बटवारे में न आ सका जो
शिव को मिला गरल सर्पित,
सेनापति को धनुष, कल्पतरु,
पारिजात नन्दनवन को,
अश्व, उर्वशी, ऐरावत, शशि
देवराज को, जीवन को;
अमृत देवताओं को, आये
सभी रत्न विष के बदले,
क्योंकि असुर मरने से काँपे,
जगजीवन के साथ चले;
सोचा विष से मर जाना
होगा, रत्नों से क्या लेंगे ?
जीकर, लड़कर, इन्हें खेदकर
हमीं रत्न ये छीनेंगे।
तुम मणि लिये खड़ी, छाया की
बनी मोहिनी विष्णु हरित,
मोहे असुरों को छल के बल
मिली वारुणी ही संचित।
मदोन्मत्त होकर सब लड़ने
लगे, मोहिनी को लपके,
जैसे भोजन के उपरान्त
उनींदे दुपहर को झपके,
अपलक महिमामयी दिव्यश्री
देख रही थी खड़ी हुई,
हरि के कर विमान पर चढ़कर
चली गयी फिर बढ़ी हुई।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 29 अक्तूबर, 1944। **असंकलित कविताएँ में** संकलित]

शुभ्र आनन्द आकाश पर छा गया

शुभ्र आनन्द आकाश पर छा गया,
रवि गा गया किरणगीत।
श्वेत शतदल कमल के अमल खुल गये,
विहग - कुल -कण्ठ उपवीत।

चरण की ध्वनि सुनी, सहज शङ्का गुनी,
छिप गये जन्तु भयभीत।
बालुका की चुनी पुरलगी सुरधुनी;
हो गये नहाकर प्रीत।

किरण की मालिका पड़ी तनुपालिका,
समीरण बहा समधीत।
कण्ठ रत पाठ में, हाट में, बाट में;
खुल गया ग्रीष्म या शीत।

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध। **बेला** में संकलित]

रूप की धारा के उस पार

रूप की धारा के उस पार
कभी धँसने भी दोगे मुझे?
विश्व की श्यामल स्नेह-सँवार
हँसी हँसने भी दोगे मुझे?

निखिल के कान बसे जो गान
टूटते हैं जिस ध्वनि से ध्यान,
देह की वीणा का वह मान
कभी कसने भी दोगे मुझे?

शत्रुता से विश्व है उदास;
करों के दल की छाँह, सुवास
कली का मधु जैसा निस्त्रास
कभी फँसने भी दोगे मुझे ?

वैर यह ! बाधाओं से अन्ध !
प्रगति में दुर्गति का प्रतिबन्ध !
मधुर, उर से उर, जैसे गन्ध
कभी बसने भी दोगे मुझे ?

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध । **बेला** में संकलित]

बीन की झङ्कार…

बीन की झङ्कार कैसी बस गयी मन में हमारे।
धुल गयीं आँखें जगत की, खुल गये रवि-चन्द्र तारे।

शरत के पङ्कज सरोवर के हृदय के भाव जैसे
खिल गये हैं पङ्क से उठकर विमल विश्राव जैसे,
गन्धस्वर पीकर दिगन्तों से भ्रमर उन्मद पधारे।

पवन के उर में भरा कम्पन प्रणय का मन्द गतिक्रम
कर रहा है समम जग को सुप्ति से जो हुआ निर्मम,
हारकर जन सकल जीते जीतकर जन सकल हारे।

भर गयी विज्ञान माया, कर गयी आलोक छाया,
छुट गयी मिलकर हृदयधन से प्रिया की प्रकृत काया,
दिग्वधू ने दन्तियों के मलिनता-मद यथा झारे।

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध । **बेला** में संकलित]

नाथ, तुमने गहा हाथ

नाथ, तुमने गहा हाथ, वीणा बजी;
विश्व यह हो गया साथ, द्विविधा लजी।

खुल गये डाल के फूल, रँग गये मुख
विहग के, धूल मग की हुई विमल सुख;
शरण में मरण का मिट गया महादुख;
मिला आनन्द पथ पाथ; संसृति सजी।

जलभरे जलद जैसे गगन में चले,
अनिल अनुकूल होकर लगी है गले;
नमित जैसे पनस - आम - जामुन - फले,
स्नेह के सुने गुण - गाथ, माया तजी।

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध। **बेला** में संकलित]

बातें चलीं सारी रात तुम्हारी

बातें चलीं सारी रात तुम्हारी;
आँखें नहीं खुलीं प्रात तुम्हारी।

पुरवाई के झोंके लगे हैं,
जादू के जीवन में आ जगे हैं,
पारस पास कि राग रँगे हैं,
काँपी सुकोमल गात तुम्हारी।

अनजाने जग को बढ़ने की
अनपढ़ - पड़े पाठ पढ़ने की
जगी सुरति चोटी चढ़ने की;
यौवन की बरसात तुम्हारी।

[सम्भावित रचनाकाल . 1944 ई. का उत्तरार्ध। **बेला** में संकलित]

साथ न होना। गाँठ खुलेगी…

साथ न होना। गाँठ खुलेगी, छूटेगा उर का सोना।
आँख पर चढ़े, कि लड़े, फिर लड़े;
जीवन के हुए और कोस कड़े;

प्राणों से हुआ हाथ धोना। साथ न होना।
गाँठ पड़ेगी, बरछी की तरह गड़ेगी;
मुरझाकर कली झड़ेगी।

पाना ही होगा खोना। साथ न होना।
हाथ बचा जा, कटने से माथ बचा जा,
अपने को सदा लचा जा;
सोच न कर मिला अगर कोना। साथ न होना।

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध। **बेला में संकलित**]

आये पलक पर प्राण कि

आये पलक पर प्राण कि
बन्दनवार बने तुम।
उमड़े हो कण्ठ के गान,
गले के हार बने तुम।

देह की माया की जोत,
जीभ की सीप के मोती,
छन - छन और उदोत,
वसन्त - बहार बने तुम।

दुपहर की घनी छाँह,
धनी इक मेरे बानिक,
हाथ की पकड़ी बाँह,
सुरों के तार बने तुम।

भीख के दिन - दूने दान,
कमल जल-कुल की कान के,
मेरे जिये के मान,
हिये के प्यार बने तुम।

[‘देशदूत’, साप्ताहिक, प्रयाग, 26 नवम्बर, 1944। **बेला** में संकलित]

भीख माँगता है अब राह पर

भीख माँगता है अब राह पर
मुट्ठी-भर हड्डी का यह नर।

एक आँख आज के बानिज की
पराधीन होकर उस पर पड़ी;
कहा कला ने, कल का यह वर।

एक आँख शिक्षा की हेठी से
देखने लगी उसे अमेठी से,
कहा, खुबलकर छोटा भूधर।

एक आँख कारीगर की गड़ी,
कहा, आदमी को यह है छड़ी,
खेदे कोई इसको लेकर।

एक आँख पड़ी महाराज की,
कहा, देख ली है स्तुति व्याज की,
मानव का सच्चा है यह घर।

एक आँख तरुणी की जो अड़ी,
कहा, यहाँ नहीं कामना सड़ी,
इससे मैं हूँ कितनी सुन्दर।

[‘हंस’, मासिक, बनारस, नवम्बर, 1944। **बेला** में संकलित]

जिसको तुमने चाहा…

जिसको तुमने चाहा, आँख से मिला।
धूल से छुटा, उठकर फूल से खिला।

ओस लाज की भरी, आकाश की परी,
उड़ी हुई थककर पृथ्वी पर उतरी,
रात फूल से जो की बात, उर हिला।

रवि के कर गही बाँह, वह चढ़ी गगन,
जहाँ तक बिचरने को विचरी सनयन,
निस्तरङ्ग एक रूपरङ्ग से झिला।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 3 दिसम्बर, 1944। **बेला** में संकलित]

चलते पथ, चरण वितत

चलते पथ, चरण वितत,
दीप निभा, हवा लगी,
कहाँ रहे छिपे हुए ?
बाँह गही, भाग जगी।

नभ के अङ्गण में शशि,
ज्योत्स्ना की मायामसि
उड़ी, तमिस्रा की रक्षा की
राखी जो बँधी।

पहला उद्देश गया,
तुम्हारा ही रहा नया,
चलना किस देश कहाँ,
पीछे लगी सहज सगी।

बिजली की जोत राग
गाये हैं, भरे झाग,
टूटे मन्दिर में आ रहे,
प्रात किरण रँगी।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 31 दिसम्बर, 1944। **बेला** में संकलित]

आरे, गङ्गा के किनारे

आरे, गङ्गा के किनारे
झाऊ के वन से पगडण्डी पकड़े हुए
रेती की खेती को छोड़कर; फूँस की कुटी;
बाबा बैठे झारे-बहारे।

हवाबाज ऊपर घहराते हैं,
डाक सैनिक आते-जाते हैं,
नीचे के लोग देखते हैं मन मारे।

रेलवे का पुल बँधा हुआ है,
अपना दिल है जहाँ कुआ है,
उठने को आँख झपी, बैठे बेचारे।

पण्डों के सुघर-सुघर घाट हैं,
तिनके की टट्टी के ठाट हैं,
यात्री जाते हैं, श्राद्ध करते हैं,
कहते हैं, कितने तारे!

बाब साधक हैं और कढ़े भी हैं,
खारुए की पोथियाँ पढ़े भी हैं,
आँखों में तेज है, छाया है,
उस छबि की गेह सिधारे।

['हंस', मासिक, बनारस, दिसम्बर, 1944। **बेला** में संकलित]

वेश-रूखे, अधर-सूखे

वेश - रूखे, अधर - सूखे,
पेट - भूखे, आज आये।
हीन - जीवन, दीन-चितवन,
क्षीण आलम्बन बनाये।

तिमिर ने जब घेरकर
तुमको प्रकाश हरा तुम्हारा,
इस धरा के पार खोला द्वार
कृति ने, विश्व हारा;
जग गयी जनता, हुए लुण्ठित
मुकुट, जीवन सुहाये।

प्यास पानी से बुझाने को
बुझायी रक्त से जब,
आँख से आया लहू,
लोहा बजाया शक्त से जब,
रुण्डमुण्डों से भरे हैं खेत
गोलों से बिछाये।

[‘देशदूत’, साप्ताहिक, प्रयाग, 14 जनवरी, 1945। **बेला में संकलित**]

लू के झोंकों…

लू के झोंकों झुलसे हुए थे जो,
भरा दौंगरा उन्हीं पर गिरा।
उन्हीं बीजों के नये पर लगे,
उन्हीं पौधों से नया रस झिरा।

उन्हीं खेतों पर नये हल चले,
उन्हीं माथों पर नये बल पड़े,
उन्हीं पेड़ों पर नये फल फले,
जवानी फिरी जो पानी फिरा।

पुरवा हवा की नमी बढ़ी,
जुही के जहाँ की लड़ी कढ़ी,
सविता ने क्या कविता पढ़ी,
बदला है बादल से सिरा।

जग के अपावन धुल गये,
ढेले गड़नेवाले थे घुल गये,
समता के दृग दोनों तुल गये,
तपता गगन घन से घिरा।

[सम्भावित रचनाकाल : 1945 ई. का पूर्वार्ध। **बेला** में संकलित]

बदलीं जो उनकी आँखें...

बदलीं जो उनकी आँखें, इरादा बदल गया।
गुल जैसे चमचमाया कि बुलबुल मसल गया।

यह टहनी से हवा की छेड़छाड़ थी, मगर
खिलकर सुगन्ध से किसी का दिल बहल गया।

ख़ामोश फ़तह पाने को रोका नहीं रुका,
मुश्किल मुकाम, ज़िन्दगी का जब सहल गया।

मैंने कला की पाटी ली है शेर के लिए,
दुनियाँ के गोलन्दाजों को देखा, दहल गया।

[सम्भावित रचनाकाल : 1945 ई. का पूर्वार्ध। **बेला** में संकलित]

दोनों लताएँ...

दोनों लताएँ आपके बाजू-बाजू खिलीं;
ख़ुशबू की सैकड़ों 'बाहों' गले-गले मिलीं।

दिल को तमाशाई बनाया दोनों जहाँ में
जिसने उसी की आँखों के इशारे से हिलीं।

फूलों ने पत्तों के जो मारे पर, आयी बहार;
चिड़ियों की छिड़ीं तानें, हवा की पेंगें झिलीं।

[सम्भावित रचनाकाल : 1945 ई. का पूर्वार्ध । **बेला** में संकलित]

सङ्कोच को विस्तार…

सङ्कोच को विस्तार दिये जा रहा हूँ मैं;
छन्दों को विनिस्तार दिये जा रहा हूँ मैं।

प्रस्तार को प्रस्तार दिये जा रहा हूँ मैं,
जैसे विजय को हार दिये जा रहा हूँ मैं।

उड़ जाने को हवा के साथ खेला - खेलाया
हलका जो उसको वार दिये जा रहा हूँ मैं।

क्या छोरों पर कला की साड़ी के, लगाये हंस,
हस्ती को गुल हज़ार दिये जा रहा हूँ मैं।

उपवन में शायरी के मेरे शब्द यों आये,
जैसे फूलों को भार दिये जा रहा हूँ मैं।

दुनिया के शायरों की किताबों में जो आयी
उस युवती को सिंगार दिये जा रहा हूँ मैं।

उतरी हैं आपसे जो कलाएँ यहाँ, कहा,
उन किरणों को निखार दिये जा रहा हूँ मैं।

युग को किया सुरूप दुनियाँ की आँखों में,
गोया मदन को प्यार दिये जा रहा हूँ मैं।

[सम्भावित रचनाकाल : 1945 ई. का पूर्वार्ध । **बेला** में संकलित]

काले-काले बादल छाये···

काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल।
कैसे-कैसे नाग मँडलाये, न आये वीर जवाहरलाल,

बिजली फन के मन की कौंधी, कर दी सीधी खोपड़ी औंधी,
सर पर सरसर करते धाये, न आये वीर जवाहरलाल।

पुरवाई की हैं फुफकारें, छन-छन ये बिस की बौछारें,
हम हैं जैसे गुफा में समाये, न आये वीर जवाहरलाल।

मँहगाई की बाढ़ बढ़ आयी, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई,
भूखे-नङ्गे खड़े शरमाये, न आये वीर जवाहरलाल।

कैसे हम बच पायें निहत्थे, बहते गये हमारे जत्थे,
राह देखते हैं भरमाये, न आये वीर जवाहरलाल।

[सम्भावित रचनाकाल : 18 जून, 1945। बेला में संकलित]

मिट्टी की माया छोड़ चुके

मिट्टी की माया छोड़ चुके
जो, वे अपना घट फोड़ चुके।

नभ की सुदूरता से ऊँचे
जीवन के क्षण अब हैं छूंछे,
आकर्षण के अभियानी के
गतिक्रम को जब वे तोड़ चुके।

देशों की पुण्यवीथिका की
जिन लोगों ने बाँधी राखी,
वे उस सुख से हटकर, रुककर
निश्छल अपने मुख मोड़ चुके।

जो रूप-मोह से हुआ दूर,
जो युद्ध जीतकर हुआ शूर,
उनकी मानवता से दानव
अपना जीवन-क्रम जोड़ चुके।

हँसते-हँसते वे चले गये,
उनके विरोध के छले गये,
संसृति की रक्षा के न रहे,
वे अपनी रेखा गोड़ चुके।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1945। **बेला में संकलित**]

गिराया है ज़मीं होकर···

गिराया है ज़मीं होकर, छुटाया आसमाँ होकर।
निकाला, दुश्मनेजाँ; और बुलाया, मेहरबाँ होकर।

चमकती धूप जैसे हाथवाला दबदबा आया,
जलाया गरमियाँ होकर, खिलाया गुलसिताँ होकर।

उजाड़ा है कसर होकर, बसाया है असर होकर,
उखाड़ा है रवाँ होकर, लगाया बाग़बाँ होकर।

घटा है भाप होकर जो, जमा है रङ्गोबू होकर,
अधर होकर जो निकला है, समाया है समा होकर।

चढ़ाया है निडर होकर, उतारा है सुघर होकर,
रमा होकर रमाया है, सताया है अमा होकर।

बड़ों को गिरने से रोका, ऐसी आँखें लड़ाई हैं,
सभी उपमाएँ ले ली हैं, न होकर, निरुपमा होकर।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 16 दिसम्बर, 1945। **बेला में संकलित**]

चढ़ी हैं आँखें जहाँ की...

चढ़ी हैं आँखें जहाँ की; उतार लायेंगी।
बढ़े हुओं को गिराकर सँवार लायेंगी।

समाज ने सर उठाया है, राज़ बदला है,
सलास वे पतझर से बहार लायेंगी।

लड़ी हैं जब समझौता नहीं हुआ उनका,
बदलती लोगों को सुख का सिंगार लायेंगी।

युगों का ज़ोर उन्हीं का रहा, वही जीतीं,
निदाघ से बरखा की फुहार लायेंगी!

उगी खेती लहरायी, हवा और बदली है,
मिले बढ़े चलें, ऐसा विचार लायेंगी।

['हंस', मासिक, बनारस, दिसम्बर, 1945। **बेला** में संकलित]

किनारा वह हमसे...

किनारा वह हमसे किये जा रहे हैं।
दिखाने को दर्शन दिये जा रहे हैं।

जुड़े थे सुहागिन के मोती के दाने,
वही सूत तोड़े लिये जा रहे हैं।

छिपी चोट की बात पूछी तो बोले
निराशा के डोरे सिये जा रहे हैं।

जमाने की रफ़्तार में कैसा तूफ़ाँ,
मरे जा रहे हैं, जिये जा रहे हैं।

खुला भेद, विजयी कहाये हुए जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।

['हंस', मासिक, बनारस, दिसम्बर, 1945। **बेला** में संकलित]

विनोद प्राण भरे

विनोद प्राण भरे,
आनबान रहने दे।
मिटा न दे जबतक तीर,
शान रहने दे।

कहीं की खूबियों से
नाज़ का पड़ा पाला,
सितार रहने दे,
आलाप-तान रहने दे।

मिला गला, जनगीतों का
राग जो बदला,
धुली वितान-मुकुल-सुकुल
कान रहने दे।

बुराई छोड़, किसी की
भलाई कर या न कर,
ज़मीं रहने दे, जा रहने दे।
जान रहने दे।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 20 जनवरी, 1946। **बेला में संकलित**]

पड़े थे नींद में…

पड़े थे नींद में उनको प्रभाकर ने जगाया है।
किरन ने खोल दीं आँखे, गले फिर-फिर लगाया है।

हवा ने हल्के झोकों से प्रसूनों की महँक भर दी,
विहङ्गों ने द्रुमों पर स्वर मिलाकर राग गाया है।

तितलियाँ नाचती उड़ती रँगों से मुग्ध कर-करके,
प्रसूनों पर लचककर बैठती हैं, मन लुभाया है।

प्रवासी दूर के परिचित किसी से मिलने को आतुर
प्रकृति ने स्वर्ण-केशर से वसन जैसे रंगाया है।

कलोलों से भरे, देखा, सकल जलचर बराती हैं,
नदी का सिन्धु ने संवेद से गौना कराया है।

['हंस', मासिक, बनारस, जनवरी, 1946। **बेला** में संकलित]

शान्ति चाहूँ मैं···

शान्ति चाहूँ मैं, तुम्हारा दुःख-कारागार है जग।
हार झूला, नील-नभ तरु, सृष्टि झूली, सहज जगमग।

हुआ सूना हृदय दूना, याद आया चरण-छूना,
कामना की रही बाक़ी माल-पूंजी ले गये ठग।

अँखड़ियों की सजी काया कुछ नहीं, विज्ञान आया,
ओस के आँसुओं रोये, दरस करने चल पड़े पग।

['पारिजात', त्रैमासिक, पटना, फरवरी, 1946। **बेला** में संकलित]

पग आँगन पर रखकर आयी

पग आँगन पर रखकर आयी।

पल्लव-पल्लव पर हरियाली फूटी, लहरी डाली-डाली,
बोली कोयल, कलि की प्याली मधु भरकर तरु पर उफनायी।

झोंके पुरवाई के लगते, बादल के दल नभ पर भगते,
कितने मन सो-सोकर जगते, नयनों में भावुकता छायी।

लहरें सरसी पर उठ-उठकर गिरती हैं सुन्दर से सुन्दर,
हिलते हैं सुख से इन्दीवर, घाटों पर बढ़ आयी काई।

घर के जन हुए प्रसन्न-वदन, अतिशय सुख से छलके लोचन,
प्रिय की वाणी का आमन्त्रण लेकर जैसे ध्वनि सरसाई।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 3 मार्च, 1946। **बेला** में संकलित]

समर करो जीवन में

समर करो जीवन में,
जन के लिए कभी
पीछे न रहो गण के मन हे विदेश को न वरो।

बढ़े हाथ रोको न लुटो
रोटी के कारण
मारण तक लो अमर सदा स्मरगरल हे हरो।

मरो सत्य पर अविकल
शर की तरह मारकर,
छल छाया से तरो, न भय से तुम विदेश विचरो।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 10 मार्च, 1946। **बेला** में संकलित]

खुल गया दिन खुली रात

खुल गया दिन खुली रात,
विरह की बात गयी अब।
रूप खिले मिले अधर क़ली के,
नयनों की बरसात गयी अब।

सागर की उठती हैं हिलोरें,
नयनों की बढ़ जाती हैं कोरें,
भवरों-भरी छूटती हैं मरोरें,
पहले की पीली गात गयी अब।

उनके नयनों से जो लुटे हैं,
आज उन्हीं के हाथ उठे हैं;
कैसे नये - नये तीर छुटे हैं,
मौत की गोंठिल घात गयी अब।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 17 मार्च, 1946। **बेला** में संकलित]

रहे चुपचाप मन मारकर हाथ पर

रहे चुपचाप मन मारकर हाथ पर
हाथ रखकर; गयी अपनी सही नाप।

विश्व की विकलता अनुपम शकुन्तला
रह गयी, दिग्देश ऋषि का लगा शाप।

साहस गया, बदलते रहे दिवस - छन,
लग गया ग्रीष्म यह युग का बढ़ा ताप।

प्रशमन जहाँ अखिल चेतन सुरसराशि
पहुँची अकाल तक मन की उड़ी भाप।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 24 मार्च, 1946। **बेला** में संकलित]

राह पर बैठे...

राह पर बैठे, उन्हें आबाद तू जब तक न कर।
चैन मत ले, ग़ैर को बरबाद तू जब तक न कर।

पैर उखाड़े रह क़ज़ा के, हाथ जब तक चलता है,
बैठने मत दे किसी को, याद तू जब तक न कर।

रोक रहज़न को प्रगति का, फेर से, बाधक जो है
दर-बदर भटका उसे, मर्याद तू जब तक न कर।

अडिग डग से भूमि जल-नभ पर फिरे जीवन नहीं,
दुर्दशा को सिंहिनी की माद तू जब तक न कर।

बदल शिक्षा-क्रम, बना इतिहास सच्चा, दम न ले,
सज्जनों को प्रगति-पद प्रह्लाद तू जब तक न कर।

सेठ होने को किसी की गठरियाँ लेकर न चल,
मान है अपमान को मनुजाद तू जब तक न कर।

स्वर विवादी ही लगा, गाना सुनाना हो जहाँ,
साथ से हर वाद का उन्माद तू जब तक न कर।

सूत सुलझा मत विदेशी देश के खातिरजमा,
हाथ धो ले, वयन को अपवाद तू जब तक न कर।

उलट तख्ता उपज की ताक़त बढ़ाने के लिए,
डाल मत खेतों में अपनी खाद तू जब तक न कर।

बेबुलाये आ बिराजे, आज तक सबने कहा,
बीन मत छू ज्ञान की, उस्ताद तू जब तक न कर।

घर बसाने को, समझ तू, अपनों ने चरक़े दिये;
नभ बना रह, रहन की बुनियाद तू जब तक न कर।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 19 मई, 1946। बेला में संकलित]

आँखें वे देखी हैं जब से

आँखें वे देखी हैं जब से,
और नहीं देखा कुछ तब से।

देखे हैं कितने तारादल
सलिल-पलक के चञ्चल-चञ्चल,
निविड़ निशा में वन-कुन्तल-तल
फूलों की गन्ध से बसे।

उषःकाल सागर के कूल से
उगता रवि देखा है भूल से;
सन्ध्या को गिरि के पदमूल से
देखा भी क्या दबके-दबके!

सभाएँ सहस्रों अब तक कीं;
वैसी आँखें न कहीं देखीं;
उपमाओं की उपमाएँ दीं,
एक सही न हो सकी सबसे!

[बेला में संकलित]

स्वर के सुमेरु से झरझरकर

स्वर के सुमेरु से झरझरकर
आये हैं शब्दों के शीकर।

कर फैलाये थी डाल-डाल
मञ्जरित हो गयी लता-माल,
वन-जीवन में फैला सुकाल,
बढ़ता जाता है तरु-मर्मर।

कानों में बतलायी चम्पा,
कमलों से खिली हुई पम्पा,
तट पर कामिनी कनक-कम्पा
भरती है रँगी हुई गागर।

कलरव के गीत सरल शतशत
बहते हैं जिस नद में अविरत,
नाद की उसी वीणा से हत
होकर झङ्कृत हो जीवन-वर।

[**बेला** में संकलित]

कैसे गाते हो ?...

कैसे गाते हो ? मेरे प्राणों में
आते हो, जाते हो।

स्वर के छा जाते हैं बादल,
गरज - गरज उठते हैं प्रतिपल;
तानों की बिजली के मण्डल
जगतीतल को दिखलाते हो।

ढह जाते हैं शिखर, शिखरतल;
बह जाते हैं तरु, तृण, वल्कल;
भर जाते हैं जल के कलकल;
ऐसे भी तुम बल खाते हो।

लोग - बाग बैठे ही रह गये,
अपने में अपना सब कह गये,
सही छोर उनके जो गह गये,
बार बार उन्हें गहाते हो।

[**बेला में संकलित**]

खिला कमल, किरण पड़ी

खिला कमल, किरण पड़ी।
निखर - निखर गयी घड़ी।

चुने डली में सुथरे
बड़े - बड़े भरे - भरे,
गन्ध के गले सँवरे;
जादू की आँख लड़ी।

तारों में जीवन के
हार सुघर उपवन के,
फूल रश्मि के तन के,
यौवन की अमर कड़ी।

विरह की भरी चितवन
करुण मधुर ज्योति - पतन,
क्षीण उर, अलख - लेखन
आँखें हैं बड़ी - बड़ी।

[**बेला** में संकलित]

कुन्द-हास में अमन्द

कुन्द - हास में अमन्द
श्वेत गन्ध छायी।
तान - तरल तारक - तनु
की अति सुघराई।

तिमिर गहे हुए छोर
खिंची हुई तुहिन - कोर,
बन्दी है भानु भोर,
किरण मुस्करायी।

पथिक की थकी चितवन
थिर होती है कुछ छन,
चलता है गहे गहन
पथ, फिर दुखदाई।

आते हैं पूजक - दल,
चुनते हैं फूल सजल,
भरती है ध्वनि से
कल वीथी, अमराई।

[**बेला** में संकलित]

फूलों के कुल काँटे...

फूलों के कुल काँटे, दल, बल।
कवलित जीवन की कला अकल।

विप, असगुन, चिन्ता और सोच,
उकसाये, खाये बुरे लोच,
कर गये पोच से और पोच;
मुरझे तरु - जीवन के सम्बल।

नीरस फल, मुरझायी डाली,
जलहीन, सजल लोचन माली;
पल्लव - ज्वाला उर की पाली,
सुर की वाणी फूटी उत्कल।

[**बेला** में संकलित]

उठकर छवि से आता है पल

उठकर छवि से आता है पल
जीवन के उत्पल का उत्कल।

वर्षा की छाया की मर्मर,
गूँजी गणिका; ध्वनि, भाव सुघर;
आशा की लम्बी पलकों पर
पुरवाई के झोंके प्रतिपल।

पङ्कज के ईक्षण शरद हँसी;
भू-भाल शालि की बाल फँसी;
बह चला सलिल, खुल चली नसी;
सीझे दल इधर पसीजे फल।

कुन्द के दुग्ध के नयन लुब्ध;
विपरीत, शीत के त्रास क्षुब्ध;
व्यय के, अर्जन के, अर्थ मुग्ध;
फूलों से फल, तरु से वल्कल।

नैष्पत्र्य गया, पल्लव - वसन्त
आया कि मुस्कराया दिगन्त;
यौवन की लाली भरी, हन्त,
किसलय की कल चितवन चलदल।

खेती का, खलिहानों का, सुख
ग्रीष्म का खुला ज्योति से सुमुख,
आकांक्षा का कुसुमित किंशुक,
निर्मल मणिजलसलिला निस्तल।

[**बेला** में संकलित]

हँसी के तार के होते हैं ये…

हंसी के तार के होते हैं ये बहार के दिन।
हृदय के हार के होते हैं ये बहार के दिन।

निगह रुकी कि केशरों की वेशिनी ने कहा,
सुगन्ध - भार के होते हैं ये बहार के दिन।

कहीं की बैठी हुई तितली पर जो आँख गयी
कहा, सिंगार के होते हैं ये बहार के दिन।

हवा चली, गले ख़ुशबू लगी कि वे बोले,
समीर - सार के होते हैं ये बहार के दिन।

नवीनता की आँखें चार जो हुईं उनसे,
कहा कि प्यार के होते हैं ये बहार के दिन।

[**बेला** में संकलित]

हँसी के झूले के झूले हैं वे…

हँसी के झूले के झूले हैं वे बहार के दिन।
सलास वृन्तों के फूले हैं वे बहार के दिन।

जगे हैं सपनों में किरणों की आँखें मल-मलकर,
मधुर हवाओं के, भूले हैं वे बहार के दिन।

क़दम के उठते कहा प्रियतमा ने फूलों से,
उरों में तीरों के हूले हैं वे बहार के दिन।

पुटों में होठों के कलियों का राज़ दब न सका,
सुगन्ध से खुला, सूले हैं वे बहार के दिन।

[**बेला** में संकलित]

अशब्द हो गयी वीणा

अशब्द हो गयी वीणा,
विभास बजता था।
अमिय-क्षरण नव-जीवन-
समास बजता था।

कलुष मिला, मनसिज की
विदग्धता फैली,
चल उँगलियाँ रुकीं डरकर
विलास बजता था।

उठी निगह कि कहाँ से
कहाँ हुए हम भी,
दिखा कि ज्योति की छाया
में ह्रास बजता था।

[बेला में संकलित]

तुम्हें देखा…

तुम्हें देखा, तुम्हारे स्नेह के नयन देखे;
देखी सलिला, नलिनी के सलिल-शयन देखे।

प्रेम की आग बुझी, आग देह की जो लगी,
सुख के हाथ जले, दुःख के अयन देखे।

सत्य की आँख बँधी आँखमिचौनी के लिए,
सुब्हो-शाम ऐसे कामनाओं के चयन देखे।

[बेला में संकलित]

निगह तुम्हारी थी

निगह तुम्हारी थी,
दिल जिससे बेक़रार हुआ;
मगर मैं ग़ैर से मिलकर
निगह के पार हुआ।

अँधेरा छाया रहा,
रौशनी की माया में,
कहीं भी छाया का आँचल
न तार-तार हुआ।

वहीं नवीना सजी और
वहीं बजी वीणा,
शराबो-प्याले का अब तक
न बहिष्कार हुआ।

निगह लड़ी, उठी शमशीर,
बाँके - तिरछे कटे,
गले लगे छुटे,
संसार कारागार हुआ।

[बेला में संकलित]

छाये आकाश में…

छाये आकाश में काले-काले बादल देखे,
झोंके खाते हवा में सरसी के कमल देखे।

कानों में बातें बेला और जुही करती थीं,
नाचते मोर, झूमते हुए पीपल देखे।

दिल की बुझने के लिए नर्म-नर्म मिट्टी पर,
टूटते बाज जैसे लावों के दङ्गल देखे।

किसान खेतों में लड़के अखाड़ों में आये,
बारहमासी गाती हुई लड़कियों के दल देखे।

[बेला में संकलित]

स्नेह की रागिनी बजी

स्नेह की रागिनी बजी
देह की सुर-बहार पर,
वर विलासिनी सजी
प्रिय के अश्रुहार पर।

नयन हो गये हैं वे
अयन जिनका खो गया,
सुख के शयन के लिए
आये हैं असि की धार पर।

ओस से धुल गयी कली,
रवि की आँख खुल गयी,
तरुण मूर्छना जगी
विश्व के तार-तार पर।

[बेला में संकलित]

अपने को दूसरा न देख

अपने को दूसरा न देख,
दूसरे को अपना न कह।
सपने को कल्पना न मान,
कल्पना को सपना न कह।

आँख की आन के लिए
आन की आँख से गुजर,
तपने को बैठना सही,
बैठने को तपना न कह।

जैसे हुबाब गाँठ बाँध,
जैसे गुलाब गाँठ खोल,
आँख के लगने से सुघर
आँख का तू झपना न कह।

[बेला में संकलित]

किरणें कैसी-कैसी फूटीं

किरणें कैसी - कैसी फूटीं,
आँखें कैसी - कैसी तुलीं।
चिड़ियाँ कैसी - कैसी उड़ीं,
पाँखें कैसी - कैसी खुलीं।

रङ्ग कैसे - कैसे बदले,
छाये कैसे - कैसे बादल,
बूँदें कैसी - कैसी पड़ीं,
कलियाँ कैसी- कैसी धुलीं।

भाई - भतीजों के सङ्ग,
नैहर को आयी हुई,
सहेलियाँ कैसी - कैसी
बग़ीचों में मिली - जुलीं।

कैसे - कैसे गोल बाँधे,
कैसे - कैसे गाने गाये
छड़ियों ऐसी कैसी - कैसी
कड़ियों में हिली - डुलीं।

[बेला में संकलित]

कहाँ की मित्रता…

कहाँ की मित्रता, वे हँसके बोले,
न कोई जब कि दिल की गाँठ खोले।

बुरा दुश्मन से है जो जी को भाया,
खरा काँटा कली की आँख तोले।

सफाई कट गयी है चाँद की भी,
जुही के उसने जो जोबन टटोले।

गयी पत देवतापति की कि उसने
प्रिया मीरा को विष के घूँट घोले।

[बेला में संकलित]

नये विचार के संसार में…

नये विचार के संसार में आया है समी।
सही, चढ़ाव को उतार से लाया है समी।

पड़े थे पैरों-तले जो उन्हें किया है खड़ा,
शरीर कैसा कि रग-रग में समाया है समी।

शराब लोहे की ऐसी पिलायी है उसने,
कि चाँदी-सोने की भी आँखों को भाया है समी।

तरङ्गें और बढ़ीं और उमङ्गें और आयीं,
जवानो, आज बुड्ढे - बुड्ढे पर छाया है समी।

[बेला में संकलित]

प्रभु के नयनों से निकले कर

प्रभु के नयनों से निकले कर
ज्योति के सहस्त्रों कोमल शर।

हर गये धरा के व्याध - शत्रु,
बह चली अमृत - जल की शतद्रु,
जीवन के मरु का छाया - तरु
लहराया, उत्कल - जल निर्झर।

पड़ती हैं किरणें मस्तक पर,
जग का सुख जैसे व्याकुलतर;
सामने दूर विस्तृत सागर
स्थिर है शान्ति का स्पर्श निर्जर।

चूमते कृपा का कर चलते,
नर बातें करते हैं छलते,
जग के जीवन से न सँभलते
इस तरु - पत्रों की पृथ्वी पर।

[बेला में संकलित]

आये हो आस के…

आये हो आस के, देखते हो भरकर;
रङ्ग के रूप के, रहते हो हरकर।

सामने बैठे हो, दीपक जलता है;
प्रिया की जोत से जीवन चलता है;
छाये हो ऐ किसलय पतझर से झरकर।

जलधि में तरी चली है वेग से,
पवन मन्द - मन्द मिला है नेग से;
जीवन पाते हो जीवन से तरकर।

[बेला में संकलित]

फूल से चुन लिया…

फूल से चुन लिया ज्योति का वर अमर;
घात से सुन लिया जीवन है नश्वर।

व्यर्थ उधेड़बुन, लक्ष्य पर आँखें हैं;
चलती है हवा, अचल पाँखें हैं;
खोल दिया हृदय, बहता है निर्झर।

गुनगुनाये जा, धुन सुनाये जा,
कल जो है मरना, तू कलपाये जा;
ताल से जो तुला, रहेगा स्वर सुघर।

आँखों में आ गये, नभ पे छा गये;
सबको भा गये, खोया जो पा गये;
पाठ पुराना है, रहा सुनाना-भर।

[बेला में संकलित]

बन्दीगृह वरण किया…

बन्दीगृह वरण किया; जनता के हृदय जिया।

वहिर्जगत के निर्मम हरने के लिए नियम
साधन कितना उत्तम किया, जला दिया दिया।

उसका निर्मल प्रकाश करता है तिमिरनाश,
नारी-नर ने सहास ज्योतिर्मय अमृत पिया।

गीत से ध्वनित अन्तर, फैला फेनिल कल स्वर,
सत्य का तरङ्ग-मुखर रहा सुघर वही जिया।

प्राणों में परम स्पन्द, भाषा में सुषम छन्द,
भरा चरण-गमन-मन्द जीवन विष-विषम-लिया।

[बेला में संकलित]

मन में आये संचित होकर…

मन में आये संचित होकर,
हम जग के जीवन से रोकर।

भव के सागर के स्रोत प्रखर,
होते हैं नीचे से ऊपर,
कितनी भूमि के नेमि-प्रस्तर,
बेबस घबराये धो-धोकर।

मेघों से मँडलाये ऊपर,
छाये दिग्-देश-काल प्रान्तर;
गाये वज्र के घोरतर स्वर,
हो गये शून्य में लय खोकर।

बह गया युगों का अन्तराल,
ऋतुपुष्पों की शोभा सनाल,
ग्रह-उपग्रह के उन्मन विकाल
मग में हम जागे हैं सोकर।

हटकर छटकटकर जो उत्कल
होती है भूमि, उपल - केवल,
जग के उर्वर मरु का कृषिफल
जीवन में काटेंगे बोकर।

[बेला में संकलित]

बाहर मैं कर दिया गया हूँ।…

बाहर मैं कर दिया गया हूँ। भीतर, पर, भर दिया गया हूँ।

ऊपर वह बर्फ गली है, नीचे यह नदी चली है;
सख्त तने के ऊपर नर्म कली है;
इसी तरह हर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ।

आँखों पर पानी है लाज का, राग बजा अलग - अलग साज़ का;
भेद खुला सविता के किरण - व्याज का;
तभी सहज वर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ।

भीतर, बाहर; बाहर भीतर; देखा जब से, हुआ अनश्वर;
माया का साधन यह सस्वर;
ऐसे ही घर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ।

[बेला में संकलित]

आने-जाने से पहले…

आने-जाने से पहले, कैसे तुम दहले?

शायद अपमान किया किसी ने,
या तुमको जान लिया किसी ने,
अथवा आने न दिया किसी ने,
कैसे इस पर कोई रह ले?

हाथ मारते फिरें, कहाँ के हैं?
ग़फ़लत से वे घिरें, जहाँ के हैं;
अपनी तरणी तिरें, यहाँ के हैं;
इनसे जैसी चाहे, कह ले।

हमारा उसूल सभी को पसन्द,
हमारी गली न खुला कोई बन्द,
हमारी किताब का न टूटा छन्द,
कैसे फिर कोई यह सह ले?

[बेला में संकलित]

सबसे तुम छुटे और…

सबसे तुम छुटे और आँखों पर आये,
फूलों के, सुघर-सुघर शाख़ों पर छाये।

तुम्हें न खो दे, मन में शङ्का की रेखा
उठती है आलस के बल, तुमने देखा;
बंसी के रजनी-दिन राग अलापे अनगिन;
छाया के मलिन-मलिन छल पर मडलाये।

पापों के शुद्धिकरण चारुचरण धोये,
तुम्हीं अखिलवेश-वरण विश्व-शरण रोये,
रथ के पथ पर पैदल, अपनी अञ्जलि का जल
भिक्षा से ईश - कमल गन्ध - भरे भाये।

[**बेला** में संकलित]

मृत्यु है जहाँ…

मृत्यु है जहाँ, क्या वहाँ विजय ?
करती है क्षिति जीवन का क्षय।

सुख के उत्सव का चटुल रङ्ग,
जैसे जल पर पङ्कज विभङ्ग,
नभ के चरणों के तल मर्दित,
आलय से हो जाते हैं लय।

केशर शर, यह कलिका निषङ्ग,
भोग के नहीं साधन - प्रसङ्ग,
तरु की तरुणी के तीर तीक्ष्ण,
छूते चुभते हैं निःसंशय।

माया का सुन्दर बिछा जाल,
जो सरल वही देखा अराल,
जग की मिथ्या से छुटने को
सत्य भी सदा भ्रम है परिचय।

[**बेला** में संकलित]

क्या दुःख, दूर कर दे बन्धन

क्या दुःख, दूर कर दे बन्धन,
यह पाशव पाश और क्रन्दन।

विष से जर्जर कर विषय, अनल
त्याग की जला निःशिख अचपल,
हों भस्म स्वार्थ के दुष्प्रसङ्ग,
देख ले विश्व यह अभिनन्दन।

यह देख दाव में छिपी आग,
साधन घर्षण कर, जाग जाग,
मोह के तिमिर में मिहिरसदृश
तू ज्योतिर्मय जन, कर वन्दन।

दीर्घता देहदेश की छोड़,
मिथ्या अपनापन, मुँह मरोड़,
केवल चेतन तू जहाँ, वहीं
मेरा-तेरा तन-मन धन-जन।

[बेला में संकलित]

तू कभी न ले दूसरी आड़

तू कभी न ले दूसरी आड़,
शत्रु को समर जीते पछाड़।

सैकड़ों फलेंगे फूलेंगे,
जीवन ही जीवन भर देंगे,
झरने फूटेंगे उबलेंगे,
नर अगर कहीं तू बन पहाड़।

तेरी ही चोटी पर चढ़कर
देखेंगे लोग दृश्य सुन्दर,
उतरेंगे रवि-शशि के शुचि कर,
नीचे से ऊँचा सर उभाड़।

हिम का किरीट होगा उज्वल,
बदलेंगे रङ्ग - पीठ प्रतिफल,
जल होगा जीवन का सम्बल,
पदतल शत सिंहों की दहाड़।

[**बेला** में संकलित]

छला गया, किरनों का…

छला गया, किरनों का प्रकाश कैसे करे?
विरज नहीं, रज से रजत-हास कैसे करे?

सरोरुहों के उरोजों की चाल बल खाया
धवल - पुरी - पुर - परिसर विलास कैसे करे?

अबल दशा, दबकर, रूप देखते रहते,
गिरते - गिरते गिरकर अट्टहास कैसे करे?

रहे प्रभास, मगर उच्छला कला, खरतर,
तरुण - नयन वय में शर - निवास कैसे करे?

[**बेला** में संकलित]

वह चलने से तेरे…

वह चलने से तेरे छुटा जा रहा है।
इसी सोच से दम घुटा जा रहा है।

तेरे दिल की क़ीमत चुकाने से पहले,
तरह पानी की वह फुटा जा रहा है।

पता उसकी दुनिया का कैसे लगायें,
सितारे - सितारे टुटा जा रहा है।

यह क्या मौज है रूप से, रंग से भी,
लिये जा रहा है, लुटा जा रहा है।

ललककर किसी से कभी जो न लिपटा,
भरा धान जैसा कुटा जा रहा है।

[बेला में संकलित]

मुसीबत में कटे हैं दिन

मुसीबत में कटे हैं दिन,
मुसीबत में कटीं रातें।
लगी हैं चाँद - सूरज से
निरन्तर राहु की घातें।

जो हस्ती से हुए हैं पस्त,
समझे हैं वही क्या है,
गुज़रती ज़िन्दगी के साथ
हरकत से भरी बातें।

कड़ाई से दबी है कोमला,
यह माजरा, सच है—
झपटने के लिए बलि पर
सिकुड़ती हैं बली आँतें।

सुखों की सोयी दुनियाँ में
जगी जो वह भी ग़फ़लत है,

कहाँ हैं गेह की बातें,
कहाँ हैं स्नेह की मातें।

[बेला में संकलित]

नहीं देखे हैं पर केवल...

नहीं देखे हैं पर केवल, कवल से छुटते शर देखे।
अँधेरे में जगे हैं रात, दिन को कर-निकर देखे।

उतरती धूप से खुलकर कली की ओस से चमके
न चूमे बिम्ब विहगों के सुकेशा के अधर देखे।

जिन्होंने ठोकरें खायीं ग़रीबी में पड़े, उनके
हज़ारों-हा हज़ारों हाथ के उठते समर देखे।

गगन की ताक़तें सोयीं, जहाँ की हसरतें रोयीं,
निकलते प्राण बुलबुल के बगीचे में अगर देखे।

अलख किरनें अँधेरे के उपद्रव से निकलती हैं,
कृपा के जैसे कोमल कर नहीं देखे, मगर देखे।

नहीं झेली झिली ऋतु की प्रगति, हम देखते आये,
विजन देखे, विपिन देखे, बसे हँसते नगर देखे।

जमाते रह गये लेकिन ज़माने को नहीं भाये
यहाँ कितने अजर देखे, वहाँ कितने अमर देखे।

पुराने घाट पर चढ़ता नया पानी बदलता है
निकलते शब्द जैसे निस्तला के सरबसर देखे।

[बेला में संकलित]

अगर तू डर से पीछे…

अगर तू डर से पीछे हट गया तो काम रहने दे।
अगर बढ़ना है अरि की ओर तो आराम रहने दे।

बिगड़कर बनते और बनकर बिगड़ते एक युग बीता,
परी और शाम रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

अगर ज़र्रे को ज़र कर तू, बड़े मूज़ी को सर कर तू,
ज़माने से बिगड़कर चलता हो वह नाम रहने दे।

न पड़ जाये तो क्या परदा; न गड़ जायें तो क्या आँखें,
धनी से वाम होने को धनी का धाम रहने दे।

नज़ीरें क्या पुरानी दे रहा है, फ़ैसला किसका?
पुराने दाम रहने दे, पुराने याम रहने दे।

[बेला में संकलित]

आँख के आँसू न शोले…

आँख के आँसू न शोले बन गये तो क्या हुआ?
काम के अवसर न गोले बन गये तो क्या हुआ?

जान लेने को ज़मीं से आसमाँ जैसे बना,
काठ के ठोंके न पोले बन गये तो क्या हुआ?

पेच खाते रह गये ग़ैरों के हाथों आज तक,
पेच में डालें, न चोले बन गये तो क्या हुआ?

नींद से जगकर बला की आफ़तों के सामने
जी से घबराये, न तोले बन गये तो क्या हुआ?

धार से निखरे हुए ऋतु के सुहाये बाग़ में
आम भरने के न झोले बन गये तो क्या हुआ ?

[बेला में संकलित]

भेद कुल खुल जाय वह

भेद कुल खुल जाय वह
सूरत हमारे दिल में है।
देश को मिल जाय जो
पूंजी तुम्हारी मिल में है।

हार होंगे हृदय के
खुलकर सभी गाने नये,
हाथ में आ जायगा
वह राज़ जो महफ़िल में है।

तर्स है यह, देर से
आँखें गड़ीं श्रृङ्गार में,
और दिखलायी पड़ेगी
जो गुराई तिल में है।

पेड़ टूटेंगे, हिलेंगे,
ज़ोर की आँधी चली,
हाथ मत डालो, हटाओ
पैर, बिच्छू बिल में है।

ताक़ पर है नमक-मिर्चा,
लोग बिगड़े या बने,
सीख क्या होगी परायी
जब पिसाई सिल में है।

[बेला में संकलित]

विजयी तुम्हारे दिशामुक्ति से प्राण

विजयी तुम्हारे दिशामुक्ति से प्राण।
मौन में सुघरतर फूटे अमर गान।

ताप से तरुण आकाश घहरा गया,
घनों में घुमड़कर भरा फिर स्वर नया,
विद्युत्-प्रभा कौंधती रही निर्भया,
सृष्टि ने सानन्द किया नव-जल-स्नान।

कार्य पर शक्ति पाकर सभी जन बढ़े,
अर्थ के गर्त में सर्प जैसे पड़े
धनिक जन सजग होकर हुए हैं खड़े,
देश को दे रहे हैं देह - धन - मान।

[बेला में संकलित]

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ…

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ।

आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अँधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।

यहाँ जहाँ सेठ जी बैठे थे
बनिये की आँख दिखाते हुए,
उनके ऐंठाये ऐंठे थे
धोखे पर धोखा खाते हुए,
बैंक किसानों का खुलाओ।

सारी सम्पत्ति देश की हो,
सारी आपत्ति देश की बने,
जनता जातीय वेश की हो,
वाद से विवाद यह ठने,
काँटा काँटे से कढ़ाओ।

[बेला में संकलित]

राजे दिनकर जैसे

राजे दिनकर जैसे,
विचरे नर पृथ्वी पर,
सकल-सुकृत-भार-भरण
हुए, वरण लाजे।

ऋतु के सहकार तरुण
किसलय-दल-मञ्जरि-फल,
सुषमा-सुख - शील - नील
जल - कुवलय छाजे।

अनिला के छूते पल
हुए सकल सुमन चपल,
शुक - सारिक - पारावत
भ्रमरावलि गाजे।

वधू मधुर-गति यमुना-
जल लेकर चली, मिली
ललित अप्सरा अपरा-
जिता नयन राँजे।

[बेला में संकलित]

जग के, जय के, जीवन

जग के, जय के, जीवन,
शोभा के प्रतनु, प्रमन,
करुणायन, कोटि - मयन,
दीनों के दुरित - शमन।

गुञ्जित-कलि-माल-मधुर
शत-छबि-निन्दक - हरिदुर
गन्ध-मन्द - मोदित - पुर,
नन्दन - आनन्द - गमन।

शायित जन जगे सकल,
कला के खुले उत्पल,
निरत हुए विरत अकल,
विश्व के तरण - तारण।

[बेला में संकलित]

प्रतिजन को करो सफल

प्रतिजन को करो सफल।
जीर्ण हुए जो यौवन,
जीवन से भरो सकल।

नहीं राजसिक तन - मन,
करो मुक्ति के बन्धन,
नन्दन के कुसुम - नयन
खोलो मृदु - गन्ध विमल।

जागरूक कलरव से
भरें दिशाएँ स्तव से,
सरसी के नव, नव से,
मुदे हुए खुलें कमल।

रँगे गगन, अन्तराल,
मनुजोचित उठे भाल,
छल का छुट जाय जाल,
देश मनाये मङ्गल।

[**बेला** में संकलित]

साधना आसन हुई संसार के व्यापार में

साधना आसन हुई संसार के व्यापार में।
सत्य की अनवद्यता से आ गये विस्तार में।

बात की आयी, उठीं आँखें, न कोई सम दिखा,
तुल गये पथ पार करने पर नुकीले वार में।

कामना की किरन की तेज़ी मलिन पड़ती गयी,
सृष्टि का धन खुल गया, भूला अखिल के प्यार में।

सिन्धु उमड़ा पूर्णिमा के चन्द्र से जैसे, बढ़े,
स्रोत से सब धो गये आये हुए प्रस्तार में।

[**बेला** में संकलित]

तुमसे (मिले) मेरे प्राण गान के

तुमसे (मिले) मेरे प्राण गान के;
रचना के दल, रञ्जन - गीले,
गन्ध - भाव - फैले,
अमन्द छन्दों रखते डग,
तरलतर तान।

प्रिया साथ;
वीथियाँ विविध बातों से कटतीं,
खिले गुलाब-मिले,
कलि - कलि के अधर - सजे,
केशर के वेशों के वर वितान।

[बेला में संकलित]

अन्तस्तल से यदि की पुकार

अन्तस्तल से यदि की पुकार,
सब - सहते साहस से बढ़कर
आयेंगे, लेंगे भी उबार।

विज्ञान झुकायेगा आँखें;
वायुयान की पीछे पाँखें;
सुलझेंगी मन - मन की माखें;
ज्योतिर्जग का होगा सुधार।

सादा भोजन, ऊँचा जीवन
होगा चेतन का आश्वासन;
हिंसा को जीतेंगे, सज्जन;
सीधी कपिला होगी दुधार।

अपने ही पैरों ठहरेंगे;
अपनी ही गरजों घहरेंगे;
अपनी ही बूंदों छहरगे;
अपनी ही रिमझिम तू-तुकार।

छूटेगी जग की ठग-लीला;
होंगी आँखें अन्तःशीला;
होगा न किसी का मुँह पीला;
मिट जायेगा लेना उधार।

[बेला में संकलित]

ऐंड़ ली···

ऐंड़ ली, तिरछी छबि की मान।
तम के अपर पार सजधजकर
आया ज्योतिर्यान।

हाथ मिलाकर साथ खिलाकर
देह हिलाकर स्नेह दिलाकर
बँध रहने के खुले हृदय से
उतरे सहज अजान।

छिपकर चलते - पग कपकपकर
जगते लोग रहे झपझपकर;
व्यर्थ गये अबतक के उनके
जितने भरे उठान।

[**बेला** में संकलित]

आये नतवदन शरण

आये नतवदन शरण
जग के उद्धत जनगण।
कठिन समर के कारण
शत - शत वारण - वारण

गृह के खुल गये काज;
अपनों से मिटी लाज;
मङ्गल के साजे साज;
धुला, हुआ निर्मल मन।

अपने बाज़ार चले;
अपने अधिकार जले;
देश - विश्व मिले गले;
हुए परस्पर पावन।

[**बेला** में संकलित]

अति सुकृत भरे

अति सुकृत भरे
जो सहज करे,
जल-स्थल-नभ पर
निर्भय विचरे।

शशि से उतरे,
रस पर छहरे,
पत्तों में ध्वज-
पताक फहरे,
आँखों में हरियाली
लहरे,
जीवन रस की
प्याली ठहरे।

तरुणाई की
लपटें फूटें,
पापों के बढ़ते
दिल टूटें,
इल्लत की सहज
लतें छूटें,
पहले की नम
धरती हहरे।

[बेला में संकलित]

सहज चाल चलो उधर

सहज चाल चलो उधर।
छिपा हुआ जाय उघर।

चाँदी की हँसी हँसे जो, अपने आप फँसे;
बन्द-बन्द खुले, गँसे बन्धन के छन्द सुघर।

खुली हवा में जीवन बहे सदा निर्वेदन;
भरें सुमन-फल वन-वन; देश और हो सुन्दर।

एक - एक प्राण चलें जहाँ चराचर न मलें,
हाथ, आँख से न छलें मिले अनाकामित वर।

[बेला में संकलित]

आँख से आँख मिलाओ

आँख से आँख मिलाओ,
उनका डर छोड़ो।
पार करके नयी दुनिया
अपना घर छोड़ो।

नोक से काँटा निकाला है
जहाँ भी देखा;
काँटे से नोक निकल जाय,
काम कर छोड़ो।

आँसू की धार बहाते रहे;
अच्छा ही किया;
धार के आँसू बहाकर
अपने पर छोड़ो।

[बेला में संकलित]

वही राह देखता हूँ…

वही राह देखता हूँ, हँस - हँसकर;
आती है धूप, छाँह लस - लसकर।

किनने आते हैं, सुघराई छहराते हैं;
खुले हुए भावों के झण्डे फहराते हैं;
गली - गली गीत उन्हीं के लहरे खाते हैं;
अपने बन जाते हैं बस - बसकर।

जड़ता तामस, संशय, भय, बाधा, अन्धकार,
दूर हुए दुर्दिन के दुःख; खुले बन्द द्वार,
जीवन के उतरे कर; आँखों को दिखा सार;
छुई बीन नये तार कस - कसकर।

त्याग तप, व्रत की शिक्षा ली, सँभले जनगण;
पीठ न दी अरि को, निःशरण किया मृत्यु-वरण;
इसी भाव से आया जीवन का सिन्धु - तरण;
निकले मानव गृह से फँस - फँसकर।

[बेला में संकलित]

बिना अमर हुए यहाँ काम न होगा

बिना अमर हुए यहाँ काम न होगा।
बिना पसीना आये नाम न होगा।

मुक्ति के गुलाब न चटकेंगे;
बढ़ - बढ़कर छन-छन अटकेंगे—
लोग सचाई को भटकेंगे,
धन के धारण का जब धाम न होगा।

चढ़ा राग पिनपिन होगा जब,
तार क्षीण अनुदिन होगा तब;
मलिन मान अमलिन होगा जब
जनने को जनता का वाम न होगा।

[बेला में संकलित]

साहस कभी न छोड़ा···

साहस कभी न छोड़ा, आगे क़दम बढ़ाये।
पट्टी पढ़ी कब उनकी, झाँसे में हम कब आये ?
पानी पड़ा समय पर, पल्लव नवीन लहरे,
मौसम में पेड़ जितने फूले नहीं समाये।
महकें तरह - तरह की, भौंरे तरह - तरह के,
बौरे हुए विटप से लिपटे, वसन्त गाये।
कलरव - भरे खगों के आवास - नीड़ सोहे;
मन साधिकार मोहे, कितने वितान छाये।
जिनसे फला हुआ है यह बाग़ क़ौम का, हम;
हमसे मिले हुए वे आये बसे, बसाये।
जो झुर्रियाँ पड़ी थीं गालों पर आफ़तों की
उनको मिटा दिया है, रस के अधर हँसाये।

[बेला में संकलित]

किसकी तलाश में हो···

किसकी तलाश में हो इतने उतावले - से ?
दुनियाँ ने मुँह चुराया सायास बावले से।

खींचे बग़ैर नभ से झरता नहीं शिशिर - कण;
तेल आँच जब न खाया निकला कब आँवले से ?

बहुतों ने राह तै की, संभले न पैर फिर भी;
जैसा दिखा था पहले, देखा न काँवले से।

आया मज़ा कि लाखों आँखों से दम घुटा है,
पटली है बैठने को गोरे की साँवले से।

[बेला में संकलित]

सारे दावपेच खुले···

सारे दावपेच खुले पेचीदगी आने पर।
यार गिरफ़्तार हुआ ख़ून के बहाने पर।

छिपी हुई बात खुली, जो न गये, जान गये,
आये, पीटा किये सिर, लाख-लाख पाने पर।

बेबसी के परदे पे खुला ज़माने का रङ्ग,
लोगों में प्रसिद्ध वही लापता है थाने पर।

भाप से जो पानी उड़ा, बादलों में बरसा है,
आदमी का खोया हुआ रखा मालख़ाने पर।

इतना ही रहे अयाँ, कहाँ तक हो और बयाँ,
शाप को भी आना पड़ा पाप के न जाने पर

[बेला में संकलित]

अगर समस्त-पदों का···

अगर समस्त-पदों का किसी को डर होता,
तो हाथ-पैरोंवाला भी न कहीं सर होता।

कहाँ रहा है कौन ख़ब्र ले आने के लिए
न घर होता, न नभ होता, न कबूतर होता।

कली न खिलती समीरण से खेलने के लिए,
न मन्द गन्ध में कलेजा ताज़ा-तर होता।

चढ़े हुए जन ऐसे जग से न रूठे होते,
न हाथ बढ़ते, न गिरते, न आया वर होता।

होती अनहोनी एक बिगड़ी बात बन जाती,
जवानी चढ़ती, आँखों से उतरता कर होता।

[बेला में संकलित]

माया की गोद…

माया की गोद, खेलता है चराचर तेरा;
न लगा हाथ, कैसा भर गया सागर तेरा।

रच गये तलवे, हथेलियाँ और नाख़ून कैसे,
आप लाली सुहायी ऐसा महावर तेरा।

भटके दर-दर, जिन्होंने सीधा रास्ता छोड़ा;
बल से पकड़ा है, तभी छलका है सागर तेरा।

उल्टे पैरों लौटे द्वैत छोड़ने के लिए,
देखी नगरी तेरी, रम गया नागर तेरा।

[**बेला** में संकलित]

यह जीने का संग्राम…

यह जीने का संग्राम करते हुए चले।
पहले के रहे दाम जो भरते हुए चले।

दम लेता कौन वार होते ही रहे जहाँ,
जीते हुए भी लोभ से हरते हुए चले।

आया यही विचार कि यह कौन सज़ा है,
जो अमर हैं संसार में मरते हुए चले।

क़िस्सा सुनाने को हुए तो बोले, दरकिनार;
हम डूबे पारावार में तरते हुए चले।

ऐसा मिला है शाप कि ये बड़े आदमी
कहलाते हुए, आपसे डरते हुए चले।

[**बेला** में संकलित]

मन हमारा मग्न दुख को

मन हमारा मग्न दुख की
दुर्धरा में हो गया।
कुछ न था तब लग्न वह
विश्वम्भरा में हो गया।

इन्द्र के अनुचर घनों ने,
प्रलय की, तो डूबकर
जन्म पाया जलधि में,
फिर अप्सरा में हो गया।

गीत गाये घुमड़कर
घन में मगर घातक बना
प्रथम अपना, मोह जब
मेघाम्बरा में हो गया।

कष्ट पाये बहुत यों
गमनागमन से, तब कहीं
ऋषि अगस्त्य बना, अलौकिक
निष्करा में हो गया।

विश्व को वैषयिकता से
सीख देने के लिए
देह छोड़ी स्नेह से
ज्योतिस्सरा में हो गया।

[बेला में संकलित]

तुम हो गतिवान जहाँ

तुम हो गतिवान जहाँ,
तुमको पृथ्वी पर जल,
फलदल, गोदुग्ध धवल,
मिले खेत, खान, धान।

तापस के वेश रहे
कहे कौन क्या देखे
योग से वही यमुना
अथवा गङ्गा, महान।

उगा दूसरा ही रवि
अब के कवि ने देखा,
बचने से चले हाथ,
साथ पड़ी छुटी बान।

[बेला में संकलित]

उन्हें न देखूँगा जीवन में

उन्हें न देखूंगा जीवन में।
तुम्हीं मिले, भरा रहे मन में।

जग के कामों में,
राहों में, ग्रामों में,
झोंपड़ियों में या धवल धामों में
तुम्हीं बँधी-मूठोंवाले जन में।

गली-गली हाथ पसारे
फिरते हैं जो मारे-मारे
भिन्न-भिन्न भाव के किनारे,
तुम्हारे न हुए कभी धन में।

धूल जहाँ सोने की,
गयी बात रोने की,
खुली ज़िन्दगी सुख होने की,
तनुता बढ़कर आयी तन में।

[बेला में संकलित]

अहरह तुम्हारे न जो प्राण, हारे

अहरह तुम्हारे न जो प्राण, हारे।

धूल उन पर पड़ी,
गयी सुख की घड़ी,
टूटी सजी कड़ी, छूटे सहारे।

रंग उनका उड़ा,
कलुष आकार जुड़ा,
सत्य से जो मुड़ा, मन रहे मारे।

रह गये वे दास
निष्फल निराश्वास
रुक गया उच्छ्वास तट के किनारे।

[बेला में संकलित]

कैसी यह हवा चली···

कैसी यह हवा चली। तरु-तरु की खिली कली।

लगने को कामों में जगे लोग धामों में,
ग्रामों ग्रामों में चल पड़े बड़े-बड़े बली।

जान गये जान गयी, खुली जो लगी क़लई,
उठे मसुरिया, बलई भगे बड़े - बड़े छली।

अपना जीवन आया, गयी परायी छाया,
फूटी काया - काया, गूँज उठी गली - गली।

[बेला में संकलित]

थोड़ों के पेटे में बहुतों को आना पड़ा

धूहों और गुफाओं और पत्थरों के घरों से
आजकल के शहरों तक, दुनियाँ ने चोली बदली।
बिजली और तार और भाप और वायुयान
उसके वाहन हुए।
जान खींची खानों से
कल और कारखानों से।
रामराज के पहले के दिन आये।
वानिज के राज ने लक्ष्मी को हर लिया।
टापू में ले चलकर रखा और क़ैद किया।
एक का डंका बजा,
बहुतों की आँख झपी।
लहलही धरती पर रेगिस्तान जैसा तपा।
जोत में जल छिपा,
धोखा छिपा, छल छिपा।
बदले दिमाग़ बढ़े,
ग़ोल बाँधे, घेरे डाले,
अपना मतलब गाँठा,
फिर आँखें फेर लीं।
जाल भी ऐसा चला।
कि थोड़ों के पेटे में बहुतों को आना पड़ा।

[नये पत्ते में संकलित]

राजे ने अपनी रखवाली की

राजे ने अपनी रखवाली की;
क़िला बनाकर रहा;
बड़ी - बड़ी फ़ौजें रखीं।
चापलूस कितने सामन्त आये।
मतलब की लकड़ी पकड़े हुए।

कितने ब्राह्मण आये
पोथियों में जनता को बाँधे हुए।
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गाये,
लेखकों ने लेख लिखे,
ऐतिहासिकों ने इतिहासों के पन्ने भरे,
नाट्यकलाकारों ने कितने नाटक रचे,
रङ्गमञ्च पर खेले।
जनता पर जादू चला राजे के समाज का।
लोक-नारियों के लिए रानियाँ आदर्श हुईं।
धर्म का बढ़ावा रहा धोखे से भरा हुआ।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर।
ख़ून की नदी बही।
आँख-कान मूदकर जनता ने डुबकियाँ लीं।
आँख खुली—राजे ने अपनी रखवाली की।

[**नये पत्ते** में संकलित]

दग़ा की

चेहरा पीला पड़ा।
रीढ़ झुकी। हाथ जोड़े।
आँख का अँधेरा बढ़ा।
सैकड़ों सदियाँ गुज़रीं।
बड़े-बड़े ऋषि आये, मुनि आये, कवि आये,
तरह-तरह की वाणी जनता को दे गये।
किसी ने कहा कि एक तीन हैं,
किसी ने कहा कि तीन तीन हैं।
किसी ने नसें टोईं, किसी ने कमल देखे।
किसी ने विहार किया, किसी ने अँगूठे चूमे।
लोगों ने कहा कि धन्य हो गये।
मगर खँजड़ी न गयी।
मृदङ्ग तबला हुआ,
वीणा सुर - बहार हुई।
आज पियानो के गीत सुनते हैं।

पौ फटी।
किरनों का जाल फैला।
दिशाओं के होंठ रँगे
दिन में, वेश्याएँ जैसे रात में।
दग़ा की इस सभ्यता ने दग़ा की।

[**नये पत्ते** में संकलित]

चर्ख़ा चला

वेदों का चर्ख़ा चला,
सदियाँ गुज़रीं।
लोग-बाग बसने लगे,
फिर भी चलते रहे।
गुफ़ाओं से घर उठाये।
ऊँचे से नीचे उतरे।
भेड़ों से गायें रखीं।
जंगल से बाग़ और उपवन तैयार किये।
खुली ज़बाँ बँधने लगी।
वैदिक से सँवर-दी भाषा संस्कृत हुई।
नियम बने, शुद्ध रूप लाये गये,
अथवा जंगली सभ्य हुए वेशवास से।
कड़े कोस ऐसे कटे।
खोज हुई, सुख के साधन बढ़े—
जैसे उबटन से साबुन।

वेदों के बाद जाति चार भागों में बँटी,
यही रामराज है।
वाल्मीकि ने पहले वेदों की लीक छोड़ी,
छन्दों में गीत रचे, मन्त्रों को छोड़कर,
मानव को मान दिया,
धरती की प्यारी लड़की सीता के गाने गाये।

कली ज्योति में खिली
मिट्टी से चढ़ती हुई।
"वर्जिन स्वैल", "गूड अर्थ", अब के परिणाम हैं।
कृष्ण ने भी ज़मीं पकड़ी,
इन्द्र की पूजा की जगह
गोवर्धन को पुजाया;
मानवों को, गायों और बैलों को मान दिया।

हल को बलदेव ने हथियार बनाया,
कन्धे पर डाले फिरे।
खेती हरी - भरी हुई।
यहाँ तक पहुँचते अभी दुनियाँ को देर है।

[**नये पत्ते** में संकलित]

तारे गिनते रहे

राज-चेतना की राह रोककर
लोग खड़े हुए, कामयाब हुए।
दुश्मनों के पैर न जमने दिये।
आपस में मिले रहे, ज़बाँदराज़ी न की।
लोक की, समाज की लाज रखी,
बढ़े चले।
राज में बेकारों की आखिरी साँसें रहीं।
ज़मींदार चाँद-जैसे कर के लिए लगे रहे
देश के आकाश पर,
कपड़े की ज़मीं पर।
दूसरे प्रकाश के लिए जैसे चोला पाया।
मेह जैसे तने रहे,
टपके भी, बरसे भी।
बालों के नीचे पड़ी जनता बलतोड़ हुई।
माल के दलाल ये वैश्य हुए देश के।
सागर भरा हुआ,
लहरों से बहले रहे;

बानिज की राह खोयी।
किरनें समन्दर पर कैसी पड़ती दिखीं!
लहरों के झूले झूले,
कितना विहार किया क़ानूनी पानी पर;
बँधे भी खुले रहे।
रात आकाश के तारे गिनते रहे!

[नये पत्ते में संकलित]

कुत्ता भौंकने लगा

आज ठण्ढक अधिक है।
बाहर ओले पड़ चुके हैं,
एक हफ्ते पहले पाला पड़ा था—
अरहर कुल-की-कुल मर चुकी थी,
हवा हाड़ तक बेध जाती है,
गेहूँ के पेड़ ऐंठे खड़े हैं,
खेतिहरों में जान नहीं,
मन मारे दरवाज़े कौड़े ताप रहे हैं
एक दूसरे से गिरे गले बातें करते हुए,
कुहरा छाया हुआ।
ऊपर से हवाबाज़ उड़ गया।
ज़मींदार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले
आया और लोगों की ओर देखकर कहा,
"डेरे पर थानेदार आये हैं;
डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है,
एक हफ्ते के अन्दर देना है।
चलो, बात दे आओ।"
कौड़े से कुछ हटकर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था,
चलते सिपाही को देखकर खड़ा हुआ,
और भौंकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देख-देखकर।

[नये पत्ते में संकलित]

झींगुर डटकर बोला

गान्धीवादी आये,
कांग्रेसमैन टेढ़े के;
देर तक, गान्धीवाद क्या है, समझाते रहे।
देश की भक्ति से,
निर्विरोध शक्ति से,
राज अपना होगा;
ज़मींदार, साहूकार अपने कहलायेंगे
शासन की सत्ता हिल जायगी;
हिन्दू और मुसलमान
वैरभाव भूलकर जल्द गले लगेंगे,
जितने उत्पात हैं,
        नौकरों के लिए हुए;
        जब तक इनका कोई
        एक आदमी भी होगा,
        चूल नहीं बैठने की।
इस प्रकार जब बघार चलती थी,
ज़मींदार का गोड़इत
दोनाली लिये हुए
एक खेत फ़ासले से
गोली चलाने लगा।
भीड़ भगने लगी।
कान्स्टेब्ल खड़ा हुआ ललकारता रहा।
        झींगुर ने कहा,
        "चूंकि हम किसान-सभा के,
        भाईजी के मददगार
        ज़मींदार ने गोली चलवायी
        पुलिस के हुक्म की तामीली को।
        ऐसा यह पेच है।"

[नये पत्ते में संकलित]

देवी सरस्वती

मानव का मन विश्वजलधि,
आत्मा सित शतदल,
विकच दलों पर अधर
सुहाये सुघर चरणतल;
वीणा दो हाथों में,
दो में पुस्तक, नीरज;
जादू के जीवन के
शोभन स्वर, जैसे स्रज्।
नील वसन, शुभ्रतर
ज्योति से खिला हुआ तन,
एक तार से मिला
चराचर से शाश्वत मन।
हंस चरणतल तैर रहा है
लघूर्मियों पर,
सुनता हुआ तीव्र - मृदु
झंकृत वीणा के स्वर।
सामगीत गाये आर्यों ने
तुम्हें मानकर,
किया समाहित चित्त
ज्ञान - धन तुम्हें जानकर।
एक तुम्हारी अर्चा
सहज ऋचाओं से की,
चरणों पर पुष्पों की
माला की अञ्जलि दी।
सरल, निरङ्कुश देवी तुम
आर्यों की, विमले,
कौन विश्व में जो
सकाम जीवन में कम ले?
शुभ्रे, कुल रङ्गों की,
रागों की, शब्दों की,
नित्यनवीना हो
वन्दित यद्यपि अब्दों की।

ऋतु के पुष्प
भिन्न गन्धों से बसा दिये हैं
जग के दुख के मुरझाये मुख
हँसा दिये हैं।

तुम वर्षा हो,
हार बलाकाओं की पाँतें;
वन की शाखा की
पत्रों से टपकी आँखें;
उतराई सरिताएँ;
मोर तटों पर नाचे;
गुञ्जित-अलि-कलि-गन्ध छोर
अवनी के आँचे;
झूले हँसी - हिंडोले,
सावन के, भादों के;
बालाओं ने स्रोत
बहाये सङ्गीतों के;
घन - मृदङ्ग - वादन
विद्युत के करों निपुणतर;
नृत्य परी का जैसे
अर्जुन के अर्जन पर;
जल तरङ्ग; खग-कुल-कलरव
बोल के मधुर स्वर;
दृश्यावली सुघर;
दर्शक - दर्शिका मनोहर;
जग के सर से
सरस्वती शत-शत रूपों की
निकली क्षिप्र - मन्द - गति,
रङ्गों की, भूपों की।
बीजों से जैसे अङ्कुर,
अङ्कुर से पल्लव,
पल्लव से शाखा, शाखा से,
द्रुम, द्रुम से नव
पुष्प और फल
ऐसे बढ़े धान खेतों में

जल पर हरे रेत जैसे,
ज्वारी नेतों में।
अरहर, काकुन, सावाँ,
उड़द और कोदों की
खेती लहरायी।
बन आयी है आमों की।
निकले कमल सरों में
और करँवुए लहरे;
आये खग; ऊँचे-ऊँचे
पेड़ों पर ठहरे।
खेत निराती हैं बालाएँ
लिये खुरपियाँ
गाती बारहमासी
सावन और कजलियाँ।
जुही मुस्करायी। नागन
बलखायी आयी
मन्द गन्ध से पुरवाई
डस गयी सुहायी।

शरत् पङ्कजों से,
खञ्जन - नयनों से प्रेक्षण,
हरसिंगार के हार
विश्व के द्वार प्रतीक्षण,
नमित शालि से भरी हुई,
सुन्दर - वन - वसना,
श्वेत - शशि - मुखी,
जगती पर मधुराधर-हसना।
कृषकों की आशा से,
श्रम से जीवन - सम्बल,
धन से, धारा से, धान्य से,
धरा का कृषि - फल।
सिमटा पानी खेतों का;
ओठ पर चले हल;
पाँसे खेत, किये जो गये
जोतकर मखमल।

डाले बीज चने के, जौ के
और मटर के,
गेहूँ के, अलसी - राई -
सरसों के, कर से।
ऐसे वाह - वाह की वीणा
बजी सुहायी,
पौधों की रागिनी सजीव
सजी सुखदाई।
सुख के आँसू दुखी
किसानों की जाया के
भर आये आँखों में
खेती की माया से।
हरीभरी खेतों की
सरस्वती लहरायी,
मग्न किसानों के घर
उन्मद बजी बधाई।
खुली चाँदनी में डफ
और मजीरे लेकर
बैठे गोल बाँधकर
लोग बिछे खेसों पर,
गाने लगे भजन कबीर के,
तुलसिदास के
धनुषभङ्ग के और राम के
बनोबास के।
कतकी में गङ्गा-नहान की
बढ़ी उमङ्गें,
सजीं गाड़ियाँ, चले लोग,
मन चढ़ती चङ्गें।
मेले में, खेती के
कुछ सामान खरीदे,
देखे हाथी - घोड़े - रब्बे,
लौटे सीधे।

कुन्दों के विकास के
शुभ्र हास पर उतरीं

ओस - विन्दुओं से शीतल
हेमन्त की परी,
भू की तुम्हीं हरित नभ पर
हो श्वेत मञ्जरी,
मन्द - गन्ध - सञ्चरिता
शीता, ऋता, किन्नरी।
बाग़-बाग़, वन-वन रन की
सुगन्ध - मद पीकर
झूम रही हो हिम - शीकर
पल्लव - पल्लव पर
स्निग्ध पवन में;
शस्य-शीर्ष से उठी हुई तुम
मटर-पुष्प के सौरभ-धन से,
लुटी हुई तुम,
सरसों के पीले पुष्पों की
साड़ी पहने,
अलसी के नीले फूलों की
रेखा जिसमें।

प्रखर शीत के शर से
जग को बेधा तुमने,
हरीतिमा के पत्र - पत्र को
छेदा तुमने।
शीर्ण हुईं सरिताएँ;
साधारण जन ठिठुरे;
रहे घरों में जैसे हों,
बाग़ों में गिठुरे।
छिना हुआ धन, जिससे
आधे नहीं वसन तन,
आग तापकर
पार कर रहे हैं गृह-जीवन।
उनको दिखा रही हो,
तारे टूट रहे हैं।
पत्तों के, डाल के
सहारे छूट रहे हैं।

जीवन फिर दूसरा
उन्हें पल्लवित करेगा,
किसी अस्त्र से
अन्न-वस्त्र के दुःख हरेगा।
ज़मींदार की बनी,
महाजन धनी हुए हैं,
जग के मूर्त पिशाच
धूर्तगण ग़नी हुए हैं।
विश्वरूपिणी तुम हो,
तुम्हें मूर्ति में रचकर
पूजा की वसन्त के दिन
दीनता - विकच - कर,
गीत और वाद्य से
बड़ी सामाजिकता की,
फूलों की अञ्जलि दी,
गङ्गा की सिकता की
वेदी रची; मन्त्र पढ़कर
घृत - यव लेकर कर
किया स्वस्त्ययन, हवन,
विसर्जन अन्तिम सुन्दर।

नव पल्लवित वसन्त
धरा पर आया सुखकर।
फूटी तुम नव-किसलय-दल से
वृन्त - वृन्त पर।
कूजित पिक-उर-मधुर कण्ठ;
कुण्ठा सब टूटी;
मुक्त समीरण से धीरता
धरा की छूटी।
पके खेत, सोने के
जैसे अञ्चल लहरे,
नव मनोज के मनोभाव
लोगों में घहरे।
प्रतिसन्ध्या समवेत हुए
ग्रामीण सभ्यजन

ढोलक और मजीरे पर
करते हैं गायन;
फाग हो रहा, उठा रहे हैं
धुन धमार की
होली, चैती, लेज,
गा रहे हैं सवांर की।
बौरे आमों की सुगन्ध
धरती पर छायी,
नये वर्ष का हर्ष भरा,
चाँदनी सुहायी।
रबी कटी आम के तले
खलिहान लगाया,
चना, मटर, जौ, गेहूँ, सरसों
कटकर आया।
पड़ी चारपाई, जिस पर
बैठा तकवाहा
चूल्हा वहीं कहीं लगवाया
जिसने चाहा
ज़रा दूर मेड़ के किनारे,
जैसे बस्ती
बसी, लगे खलिहान,
सुवेशा जैसे मस्ती।

ग्रीष्म तापमय, लू की
लपटों की दोपहरी
झुलसाती किरणों की,
वर्षों की आ ठहरी,
तुम हो शीतल कूप-सलिल,
जामुन - छाया - तल,
लदे आम के बागों से
जीवन का सम्बल।
गेहूँ, चने, मटर, मड़कर
घर आये अतिशय
दिखा ग्राम में जहाँ नहीं
साधन या सञ्चय;

नहीं दीक्षा जन-समाज की,
नहीं प्रीतिकर
शासन, समाराधना
वहीं और भी दुस्तर।
शहरों की बिजली से
झुलसी जनता की रट,
उठते क़दमों की,
भगती तेज़ी से सरपट,
रुद्र ताल की, भैरव जैसी,
रण की छाया,
नाच रही हो भिन्न जगत् की,
जैसे काया।
हर चक्र के विवर्तन से
वर्ष का जन्म कल
उगा रहा है गति के
क्रम - उपक्रम का शतदल;
ऊपर तुम नीलाम्बर-
आभा में सित तन्वी
सायक चढ़ी हुई हो
जनता का जी धन्वी।
वाल्मीकि का क्रौञ्च-मिथुन;
व्यास का जन्म - फल;
कालिदास की दशा;
हर्ष का मर्षण उत्कल;
नवालोक मञ्जुलतर;
बकुलों से जैसे तुम
टूटीं शब्द - शब्द पर
छन्द - छन्द पर, कुंकुम
उड़ते हैं पराग,
झङ्कारी अन्तस्तल से,
जीवन की वीणा के
तारों के मङ्गल से।
राग - रङ्ग की रामायण
दुख की गाथा से
पूरी हुई; सँभाले
जैसे स्वर भाषा के

अधिक मनोहर, वीरजाति के
चित्र सुघरतर
बृहद्रूप से खिले हुए,
मृदु-मृदु वल्कल पर
खिली सभ्यता।
महाभारतीया कुछ बदली,
जैसे भिन्न रूप की,
भिन्न गन्ध की कदली,
सीता और द्रौपदी,
अर्जुन और राम से,
एक और बहु पतियों के
व्रत और काम से।
भारत की प्रान्तीय
सभ्यता का आलेखन,
राजनीति का जीवन,
जगती का सम्मोहन।
श्री-समृद्धि का कालिदास में
अमृतास्वादन,
साहित्यिकता में
धार्मिकता का सम्वादन।
हर्ष प्रौढ़ता की पीढ़ी,
कविकम्बु स्वयम्भू,
रामायण के मौलिक,
प्राकृत - शम्भु - स्वयम्भू—
भिन्न रूप की राम-कथा के
कविर्मनीषी,
श्रीतुलसी तक सहस्राब्दि के
रविर्मनीषी।
उसी छन्द में उसी प्रकार
किया है अन्तर
तुलसिदास ने महाकाव्य
लिखकर मन्वन्तर,
भक्ति - भावना से रचना
आलोक - समन्वित
हुई उसी स्वाधीन
चेतना से उत्कल - चित।

सूरदास के गीत,
रसों के स्रोत निरन्तर,
फूटीं सरिताएँ,
उमड़ा शशधर से सागर।
मीरा की मानसी
गीतिका सहृदयता की
छवि से भरी हुई
निरवधि कलियों की राखी।
ज्ञानालोक विकीर्ण हुआ
कबीर से, निर्झर
फूटे कितने, ज्ञानदास के,
दादू के स्वर।
तुम्हीं चिरन्तन जीवन की
उन्नायक, भविता,
छवि विश्व की मोहिनी,
कवि की सनयन कविता।

[नये पत्ते में संकलित]

युगावतार परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के प्रति

पराधीन भारत की प्रज्ञा
क्षीण हुई जब,
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, वर्णत्रय
पश्चिम में गत,
जागे पराशक्ति के वैभव
स्वप्रकाश तब,
आरपार के, बिना तार के
नाद अनाहत।
हे समृद्ध, बहुविध साधन से
सिद्ध हुए तुम,
अक्षर विविध रूप के, एक
विन्दु में अवसित;

अनायास हे, स्नेह - पाश से
विद्ध हुए तुम,
अरचित, रुचि की रचनाओं में
हुए समाहित।
अभिनन्दन के नूतन
बन्दनवार बने तुम,
तरुणों के उच्छ्वास करों से
उत्थित होकर,
जैसे बादल में विद्युत्,
व्यञ्जना घने तुम,
खोयी सृष्टि सकल
नव - जल - धारा में रोकर।
फिर नूतन प्रभात में
नूतन कर से आये,
ज्योतिर्मय, फिर हँसकर
दिङ्मण्डल पर छाये।

[नये पत्ते में संकलित]

छलाँग मारता चला गया

ज़मींदार के सिपाही की
लाठी का गूला, लोहाबँधा,
दरवाज़े गढ़ा कर जाता है।
लोगों के सर
जैसे ढाल देखती आँखों के नीचे गड़े हों।
निगह कभी भले-भले
उठने न देनेवाली।
हाथ-पैर किसी तरह मानकर नहीं चले।
अगर किसी जोत या बाग़ की मेड़ को
छूता भी पेड़ हो,
बढ़ा हो किसान भी अधिकार के लिए

गूला उस पेड़ के
तने पर रखकर वह
डट-डटकर देखता है।
आँखों में उस अवसर पर,
धुन्धी छा जाती है,
आदमी जैसे कमान,
बन जाता है किसान।
सामाजिक और राजनीतिक सहारे कुल
छुटकर भग जाते हैं।
धर्म-कर्म, लोग-जन
जान पर खेलते हैं।
राक्षस विशालकाय
आध्यात्मिक नसों का
खून चूसता हुआ।
पास का मेढ़क थाले के पानी से उठकर
मूत-मूतकर छलाँग मारता चला गया।

[नये पत्ते में संकलित]

डिप्टी साहब आये

बदलू अहिर के दरवाज़े भीड़ है।
गोड़इत कह रहा है,
"ऐसे-वैसे नहीं हैं,
डिप्टी साहब बहादुर तशरीफ ले आये हैं।"
डरकर दबकर बदलू गोड़इत को देखता है।
फिर खँखारकर सारे गाँव को गुंजाता हुआ
गोड़इत कह रहा है,
"अहिर के मूसर, ये दई के दूसर हैं,
इनसे एक घाट में भेड़ और भेड़िये
बिना वैरभाव के पानी पी रहे हैं।
इनके साथ और अफ़सरान हैं,
जैसे दारोग़ाजी,
बीस सेर दूध दोनों घड़ों में जल्द भर।"

"अरे भाई, सुन तो लो," बदलू कह रहा है,
"हम भी देख रहे हैं, लछमिन का बाग़ है,
ज़मींदार अमले हैं, बनजर कह रहे हैं,
लछमिन को कहते हैं,
दोगली लड़की है,
सारा गाँव जानता है,
रघुवर की कोई नहीं।
इसीलिए आये हैं।
तुम भी कुछ कहोगे ?"
"जानता नहीं है वे,"
गोड़इत ने पैर रोपा,
"ज़मींदार के हैं हम,
मालिक का भला जहाँ वहाँ है हमारा भला।"
जमकर बदलू ने बदमाश को देखा, फिर
उठा क्रोध से भरकर
और एक घूँसा तानकर नाक पर दिया।
गोड़इत प्रेमीजन था,
ज़मीं चूमने लगा।
तब तक बदलू के कुल तरफ़दार आ गये—
मन्नी कुम्हार, कुल्ली तेली, भकुआ चमार,
लुच्छू नाई, बली कहार, कुल टूट पड़े,
कुछ नहीं हुआ, कुछ नहीं हुआ, होने लगा।
बदल गया रावरङ्ग,
सब लोग सत्य कहने के लिए तुल गये।
तब तक सिपाही थानेदार के भेजे हुए
आये और दाम दे-देकर माल ले गये।
सारा गाँव बाग़ की गवाही में बदल गया,
सही-सही बात कही।

[**नये पत्ते** में संकलित]

वर्षा

घने-घने बादल हैं,
एक ओर गड़गड़ाते;
पुरवाई चलती है;
जुही फूलों से भरी;
दूर तक हरियाली ज्वार की, अरहर की,
सन, मूग, उड़द और
धानों के हरे खेत;
दूर के पहाड़ों की और घनी नीलिमा;
तालों में करँबुए;
कोकनद खिले हुए;
ढोर चरते हुए;
कहीं हिरनों का झुण्ड;
आम पकते हुए;
बागों में लगी भीड़
मर्दों की औरतों की,
बच्चों की, बुड्ढों की;
आम बीन-बीनकर
पंजों बाँटते हुए
आमों के हिस्सेदार
गाँव-गाँव के किसान।
खाने को एक-एक हिस्सा लिये हुए
जमींदार लोगों से।
नाले बहते हुए,
नदियाँ तराई लिये।
घने कास उगे हुए।
युवक अखाड़ों में और ज़ोर करते हुए।
देश के प्रतीक सभी,
देश की भलाई की बातें सोचकर करते।

['नया साहित्य', बम्बई, अंक 4, 1946 ई. (पूर्वार्ध)। **नये पत्ते में संकलित**]

महगू महगा रहा

आजकल पण्डितजी देश में बिराजते हैं।
माताजी को स्वीज़रलैण्ड के अस्पताल,
तपेदिक़ के इलाज के लिए छोड़ा है।
बड़े भारी नेता हैं।
कुइरीपुर गाँव में व्याख्यान देने को
आये हैं मोटर पर
लण्डन के ग्रैज्युएट,
एम. ए. और बैरिस्टर,
बड़े बाप के बेटे,
बीसियों भी पर्तों के अन्दर, खुले हुए।
एक-एक पर्त बड़े-बड़े विलायती लोग।
देश की भी बड़ी-बड़ी थातियाँ लिये हुए।
राजों के बाजू पकड़, बाप की वकालत से;
कुर्सी रखनेवाले अनुल्लंघ्य विद्या से
देशी जनों के बीच;
लेंड़ी ज़मींदारों को आँखों तले रक्खे हुए;
मिलों के मुनाफ़े खानेवालों के अभिन्न मित्र;
देश के किसानों, मज़दूरों के भी अपने सगे
विलायती राष्ट्र से समझौते के लिए।
गले का चढ़ाव बोर्झुआज़ी का नहीं गया।
धाक, रूस के बल से ढीली भी, जमी हुई;
आँख पर वही पानी;
स्वर पर वही सँवार।
गाँव के अधिक जन कुली या किसान हैं;
कुछ पुराने परजे जैसे धोबी, तेली, बढ़ई,
नाई, लोहार, बारी, तरकिहार, चुड़िहार,
बेहना, कुम्हार, डोम, कुइरी, पासी, चमार,
गङ्गापुत्र, पुरोहित, महाब्राह्मण, चौकीदार;
कामकाज, दीवाली-जैसे परबों के दिन
मनों ले जानेवाले पिछली परिपाटी से;
हुए, मरे, ब्याह में दीवाला लाते हुए
ज़मींदार के वाहन।

बाक़ी परदेश में कौड़ियों के नौकर हैं
महाजनों के दबैल,
स्वत्व बेचकर विदेशी माल बेचनेवाले;
शहरों के सभासद।
ऐसे ही प्रकार के प्राकार से घिरे
लोगों में भाषण है।
जब भी अफ़ीम, भाँग, गाँजा, चरस, चण्डू, चाय,
देशी और विलायती तरह-तरह की शराब
चलती है मुल्क में,
फिर भी आज़ादी की हाँक का नशा बड़ा;
लोगों पर चढ़ता है।
विपत्तियाँ कई हैं घूस और डण्डे की;
उनसे बचने के लिए
रास्ता निकाला है, सभाओं में आते हैं
गाँवों के लोग कुल।
एक-एक आ गये।
पण्डितजी कांग्रेस के चुनाव पर बोले:
आज़ादी लेते हैं, एक साल और है;
आततायियों से देश पिस-पिसकर मिट गया;
हमको बढ़ जाना है;
चैन नहीं लेना है जब तक विजयी न हों।
जनता मन्त्रमुग्ध हुई।
ज़मींदार भी बोले जेल हो-आनेवाले,
कांग्रेस-उम्मीदवार। सभा विसर्जित हुई।
महगू सुनता रहा।
कम्पू को लादता है लकड़ी, कोयला, चपड़ा।
लुकुआ ने महगू से पूछा, 'क्यों हो महगू, कुछ
अपनी तो राय दो?
आजकल, कहते हैं, ये भी अपने नहीं?"
"महगू ने कहा, हाँ, कम्पू में किरिया के
गोली जो लगी थी,
उसका कारण पण्डितजी का शागिर्द है;
रामदास को कांग्रेसमैन बनानेवाला,
जो मिल का मालिक है।
यहाँ भी वह ज़मींदार, बाजू से लगा ही है।
कहते हैं, इनके रुपये से ये चलते हैं,

कभी-कभी लाखों पर हाथ साफ़ करते हैं।"
लुकुआ घबरा गया। "भला फिर हम कहाँ जायँ ?"
महगू से प्रश्न किया।
महगू ने कहा, "एक उड़ी खबर सुनी है,
हमारे अपने हैं यहाँ बहुत छिपे हुए लोग,
मगर चूँकि अभी ढीला-पोली है देश में,
अख़बार व्यापारियों ही की सम्पत्ति हैं,
राजनीति कड़ी से भी कड़ी चल रही है,
वे सब जन मौन हैं इन्हें देखते हुए;
जब ये कुछ उठेंगे,
और बड़े त्याग के निमित्त कमर बाँधेंगे,
आयेंगे वे जन भी देश के धरातल पर,
अभी अखबार उनके नाम नहीं छापते।
ऐसा ही पहरा है।"
"तो फिर कैसा होगा ?" लुकुआ ने प्रश्न किया।
"जैसा तू लुकुआ है, वैसा ही होना है,
बड़े-बड़े आदमी धन मान छोड़ेंगे,
तभी देश मुक्त है,
कवि जी ने पढ़ा था, जब तुम बदले नहीं;
अपने मन में कहा मैंने, मैं महगू हूँ,
पैरों की धरती आकाश को भी चली जाय,
मैं कभी न बदलूँगा, इतना महगा हूँगा।"

['नया साहित्य', बम्बई, अंक 4, 1946 ई. (पूर्वार्ध)। नये पत्ते में संकलित]

ख़ून की होली जो खेली*

युवकजनों की है जान;
ख़ून की होली जो खेली।
पाया है लोगों में मान,
ख़ून की होली जो खेली।

* '46 के विद्यार्थियों के देशप्रेम के सम्मान में।

रँग गये जैसे पलाश;
कुसुम किंशुक के, सुहाये,
कोकनद के पाये प्राण;
ख़ून की होली जो खेली।
निकले क्या कोंपल लाल,
फाग की आग लगी है,
फागुन की टेढ़ी तान,
ख़ून की होली जो खेली।
खुल गयी गीतों की रात,
किरन उतरी है प्रात की;—
हाथ कुसुम - वरदान,
ख़ून की होली जो खेली।
आयी सुवेश बहार,
आम - लीची की मञ्जरी;
कटहल की अरघान,
ख़ून की होली जो खेली।
विकच हुए कचनार;
हार पड़े अमलतास के;
पाटल - होंठों मुसकान,
ख़ून की होली जो खेली।

['ऊषा', साप्ताहिक, गया, मार्च, 1946 (होलिकांक)। **नये पत्ते** में संकलित]

कैलाश में शरत्

चले हम घोड़े पर।
संन्यासिश्रेष्ठ श्रीविवेकानन्दजी भी हैं,
श्रीमती श्रीमाताजी और शिष्यशिष्यावर्ग।
साथ श्रेष्ठ राजपुरुष, नागरिक भारत के।
अफ़गानिस्तान की सीमा को पार करके
घोड़ों को छोड़ दिया।
क्योंकि पथ दुर्गम वह, घोड़ों के योग्य नहीं।
चढ़े बड़े बकरों पर।

पथदर्शक साथ हैं, शासक भी वहाँ के।
तातारी वीरों को देखा, मुग्ध हो गये।
वहाँ का इतिहास विश्वविख्यात है,
कुछ दूर आगे चलो, मंगोलिया देश है।
यहाँ बाद को गये।
यहीं के वीर अटीला के घोड़ों की तेज़ टाप
रोम तक बजी थी, नष्ट हो गया था साम्राज्य;
पददलित गान्धार, भारत, पारस्य आदि
सभ्यतम देश सब, वशवेश हुए थे;
यहीं का चङ्गेज़, यहीं का था तैमूर लङ्ग,
बाबर यहीं का, आविष्कार तोपों का किया।
हवा में स्वभाव ही से वीरदर्प भरा हुआ।
पर्वत के शीश पर ऊँची समतल-भूमि
घोड़ों की टापों से आग उगलती हुई।
अस्तु, हम आगे के लिए सब छोड़कर
कैलाश को मुड़े।
आये उस स्थान पर।
तातारी दर्शक ने केवल "कैला" कहा।
पर्वतों के ऊँचे कई शृङ्ग एक साथ हैं,
हिमाच्छादित "कैला" है सबसे विशालकाय।
सबसे ऊँचा उठा, अति-शोभन, मनोरम।
पर्वतों की श्रेणी यह औरों से भिन्न है।
जितने ऊँचे हैं ये, उतने मोटे नहीं।
देखा है एवरेस्ट,
काञ्चनजङ्घा, गौरीशङ्कर पर्वत समूह;
आल्प्स, ककेसस, अराल;
किन्तु ऐसा समाँ, ऐसा दृश्य कहीं भी नहीं;
संसृति में मूर्तिमान जैसे समाधि हो;
दुर्गा की रूपरेखा यहीं से ली गयी हो।
मन अपने आप स्थिर होकर मिट जाता है।
जिस स्थल के लिए कहा,
काम नाश पाता है,
जैसे यह वही हो।
पदतल राक्षस-ताल,
महिषासुर का प्रतीक,
आगे मानसरोवर,
इससे मिला हुआ।

चोटियों की बर्फ़ पर
किरनें जब पड़ती हैं,
सप्तवर्णी रश्मियाँ
पड़ती हैं तालों पर;
प्रतिक्षण रेशमी रङ्ग बदलता हुआ,
कभी पीला, कभी नीला,
कभी इन्द्रधनुषी है,
छायापात जैसा हुआ;
जैसे किरीटिनी
प्रकृति क्षण-क्षण बाद
साड़ी बदलती हो;
उसके शरीर के
भीतर हमलोग हों।
गिरि के पदमूल में
कोटि-कोटि फूल खिले;
रश्मि के रङ्गों के,
मुख्यत: पीत-नील,
अतिशय सौरभ उनमें।
आगे काश्मीर पड़ा,
होकर हम आये थे,
वह बहुत फीका पड़ा।
ऐसा वायुमण्डल संसार में न फिर मिला।
सारे देशों की हम लोगों ने यात्रा की।
किश्तियाँ डाली गयीं,
उन पर चढ़-चढ़कर हम
मानसर पर चले।
सर्वोत्तम स्थान यह।
इन्दीवर करोड़ों,
करोड़ों अन्य कमल, कोकनद, शतदल,
ऐसी सुगन्ध की मदिरा न फिर मिली।
उन्मद विहार किया।
एक ओर सिन्धु, एक ओर ब्रह्मपुत्र का
उद्गम सुहावना।
एक नदी और है
यहाँ से निकली हुई।

दिव्यता के भीतर हम
दिव्य बने ही रहे ।
सान्ध्य समय पार हुआ,
मनोहर रात आयी ।
नाव पर वहीं का
भोजन, जो मेष-मांस,
करके शुचि चन्द्र का
स्वागत करने लगे ।
गीत-वाद्य होता रहा ।
सब जन प्रसन्न हैं ।
ऐसा दृश्य जीवन में
और कभी नहीं दिखा ।
शरत्-काल; कमलों पर
आया विरोधाभास,
उतरी है चाँदनी,
मुद चले इन्दीवर,
कोकनद, शतदल;
पर अति-विकसित जो
ज्यों-के-त्यों रह गये ।
मदिरा सुगन्ध की
ज्यों-की-त्यों ढलती हुई ।
चन्द्र आकाश पर पूरी तरह निकल आया ।
स्निग्ध वह चन्द्रिका
उतरी सरोवर पर
स्वर्ग की अप्सरा
स्नान करने के लिए
लोक-लोचनों से परे
जिसकी छवि देखकर
कमल वे मुद गये ।
सब कुछ स्वर्गीय है,
लोग-जन कहा किये ।

['हंस', मासिक, बनारस, अप्रैल, 1946 । **नये पत्ते में संकलित**]

गीत

रचना की ऋजु बीन बनीं तुम।
ऋतु के नयन, नवीन बनीं तुम।
पल्लव के उर कुसुम-हार सित,
गन्ध, पवन-पावन विहार नित,
मिलित अन्त नभ नील विकल्पित,
एक-एक से तीन बनीं तुम।
रचना की ऋजु बीन बनीं तुम।

चपल बाल-क्रीड़ा अब अवसित,
यौवन के वन मदन नहीं श्रित,
प्रौढ़ प्राण से शाश्वत विगलित,
तुम जानो, कब लीन बनीं तुम।
रचना की ऋतु बीन बनीं तुम।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 31 जुलाई, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गीत

कमरख की आँखें भर आयीं।
बन वर का सौदा कर आयीं।

नयनों की नाव चढ़ा कोई,
यह खाली पाँव बढ़ा कोई,
मोती के माल कढ़ा कोई,
सागर से भँवर उतर आयीं।

ये भय या परिणय के फूटे
आँखों से जो आँसू टूटे ?
पूछें किससे संशय छूटे—
ये हर लायीं या हर आयीं ?

[सम्भावित रचनाकाल : जुलाई-अगस्त, 1949। 'साधना', मासिक, कलकत्ता, आषाढ़-कार्तिक, संवत् 2006 वि. (जून-नवम्बर, 1949) में प्रकाशित। **गीत-गुंज** में संकलित]

मेघ मल्लार (1)

अयि सजल - जलद - वदने !
सुख - सदने, सुख - सदने !

तुम हहर-हहरकर हर-हरकर
बहती हो सर - सर पहर - पहर
भरती हो जीवन अजर - अमर
सित हंसपंक्ति - रदने !

सहज सरोरुह के वन विकसित
मानसरोवर पर जब सुहसित,
सिन्धु - ब्रह्मपुत्रादि उल्लसित,
नदि - नद मद - मदने !

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 7 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

मेघ मल्लार (2)

श्याम घटा घन घिर आयी।
पुरवाई फिर फिर आयी।

बिजली कौंध रही है छन - छन,
काँप रहा है उपवन - उपवन,
चिड़ियाँ नीड़ - नीड़ में निःस्वन,
सरित - सजलता तिर आयी।

गृहमुख बूँदों के दल टूटे,
जल के विपुल स्रोत थल छूटे,
नव - नव सौरभ के दव फूटे,
श्री जग - तरु के सिर आयी।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 7 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गीत

उमड़ - घुमड़ - घन
सावन आये।
मन - मन के
मनभावन आये।

मोर शोर करते हैं वन में,
नाच रहे हैं फिर निर्जन में,
दादुर की रट भी छन - छन में,
विपुल - बलाक कि धावन आये।

बूंदों की रिमझिम फुहार है,
पवन-अवनि, फिर-फिर बुहार है,
खगकुल की पुलकित गुहार है,
पुर के पाहुन पावन आये।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 7 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गीत

छाये बादल काले काले।
मँडलाये, आये, मतवाले।

फुफकारें फुहार विष की हैं,
सन-सन धुन सुनिए रिस की हैं,
रैन विरहिनी की सिसकी हैं,
दिन आँसू के नाले नाले।

लहरों की बहरें भगती हैं,
उर - उर छबि - छबि से जगती हैं,
दिन को सपने - सी लगती हैं,
कितने सुख के पाले पाले।

['भारत', दैनिक, इलाहाबाद, 7 अगस्त, 1949। असंकलित]

गीत

रस की बूंदें बरसो,
नव घन !
पावन सावन सरसो,
नव घन !

कमलों के वन वारि - विमोचन,
छा लो गगन बलाहक - वाहन,
धान - जुवार - उड़द, अरहर - धन
धारण कर कर हरसो, नव घन !

खेत निराती ग्राम - कामिनी
नभ - नयनों दमकती दामिनी
लखकर लौटी वास भामिनी,
सुख - समीर तन परसो, नव घन !

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 14 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

यह गाढ़ तन, आषाढ़ आया…

यह गाढ़ तन, आषाढ़ आया, दाह दमक लगी, जगी री,—
रैन चैन नहीं कि बैरिन नयन नीर - नदी बही।
अति स्नेह करके गेह छोड़ा, स्नेह के दिन गिन रही;
कह कौन मेरी पीर जाने, हरे हरि के बिना भी !

फिर लगा सावन सुमन भावन, झूलने घर-घर पड़े;
सखि, चीर सारी की सँवारी झूलती, झोंके बड़े।
बन मोर चारो ओर बोले, पपीहे पी - पी रटे,
ये बोल सुनकर प्राण डोले, ज्ञान भी मेरे हटे।

फिर भरा भादों, धरा भीगी, नदी उफनायी हुई,
री, पड़ी जी की; प्राण-पी की सुधि न जो आयी हुई !
कर फूल-माला - थाल, सखियाँ तीज-पूजन को चलीं,
वर बजे बाजे, द्वार साजे, भक्ति से पति की गलीं !

खर कार कन्त विदेश छाये, कनक ही के वश हुए,
कह कौन-सी परतीति जो की शपथ, कर मेरे छुए;
शुभ रामलीला, सुकरशीला नगर - नगर जगी हुई,
दो - पितर - देवी - पाख बीते, नयन मुहर लगी हुई।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 21 अगस्त, 1949 ('चौमासी' शीर्षक से]। **आराधना** में संकलित]

बिजली का जीवन

जावक चरणों से जब शिंजन
होता है गृह के रुचिरांगन
कँपते हैं तरु तरुणों के तन।

छुटकर सम्पुट से कोटि सुमन
भर देते हैं केशर के कण
आर्द्रा के छा जाते हैं घन,
ढक जाता है नैदाघ तपन।

स्वर से होता है सन्दीपन,
बनता है बिजली का जीवन,
बुझ-बुझकर होता है चेतन,
तम से जैसे रज, संवेदन।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 21 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गीत

सौरभ के रभस बसो, जीवन !
वारिद की बूंद खसो, जीवन !

केशर के शर स्वप्निल उपशम
बेधो ऊषा के प्रस्फुट क्रम;
सोओ मलयानिल के विभ्रम,
दल के कर कमल कसो, जीवन !

भौंरों के मदगंजित गुंजन
गाओ वन-वन उपवन-उपवन
छाओ नभ सुमन-सुमन कण-कण
भरकर तट सुघट गसो, जीवन !

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 28 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गीत

क्यों निर्जन में हो ?
नवजीवन, अविकच तन;
भ्रमितानन से ओ !

नयन तुम्हारे नये नये,
छोर छोड़कर चले गये,
किसे खोजते ये उनए ?
एक बार देखो !

अब न किसी के तुम होगे ?
साथ किसे अब तुम दोगे ?
हाथ किसी का न गहोगे ?
बात भी हमें दो !

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 28 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

वन्दना

वन्दन करूँ चरण,
जननि, हो भाव की
भूमि पर अवतरण !

विमल पलकें खुलें
मोह के पटल से,
कमल जैसे नयन
तुलें ज्योतिर्हंसे,
देश दश दिशावधि
कटे कारावरण !

स्तव के स्तबक, वर्ण-
रेणु के, शरण के,
स्रोत पर बह चलें
जन्म के, मरण के;
पृथा पर अमृत का
क्षार से हो क्षरण !

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 18 सितम्बर, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गगन बीणा बजी

गगन बीणा बजी;
किरण के तार पर
रागिनी जो सजी।

बह चले नदी-नद
छन्द बदलते हुए,
तुहिन के कमल जल
उठे गलते हुए;
कली के हार के
भार डाली लजी।

कामियों ने कनक,
वासना छोड़ दी,
ऊँचा उठे, निम्न
उतर कर, होड़ की
कामिनी तत्व की
चारुता से मजी।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 25 सितम्बर, 1949। **आराधना में संकलित**]

शरत् पंकजलक्षणा

सखी री, खंजन वन आये;
सरसीरुह छाये।

हरसिंगार के हार पडे हैं;
शशि के मुख असि-नयन गड़े हैं;
पहरे शाल रसाल खड़े हैं;
तारक मुसकाये।

धान पके, सोने की बाली;
पानी भरी अगहनी आली;
छई बाजरे की नभ लाली;
कास-कुसुम भाये।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 2 अक्तूबर, 1949। **असंकलित कविताएँ में** संकलित]

मन मधु बन, आली !

मन मधु बन, आली !
ईरण तन की ज्योति तपन की
गगनघटा काली . काली।

दमकी सौदामिनी ग्राम में
नूपुर - उर सुरधुनी धाम में,
रसरशना जो बजी नाम में,
यौवनवन वाली बाली।

सजी सुतनु तिर्यक तप - रेखा,
पंक्ति पंक्ति पर अविजित लेखा,
झुका दृगों से जिसने देखा,
तन - मन - धन पा - ली ताली।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 16 अक्तूबर, 1949। **अर्चना** में संकलित]

गीत

शंकाकुल निशा गयी,
पुलकित ऊषा उनई।
छूते पद ज्योतिस्तल,
काँपे सुमनों के दल,
खुले केश दिङ्मण्डल;
जव-अभिनव सुरभि छई।

छुटे पाश से पशुगण,
चले चरी को चारण,
रव के शत अवतारण
हुए धरा पर विजयी।

[सम्भावित रचनाकाल : 1949 ई. का उत्तरार्ध। 'राका—1', मुजफ्फरपुर, 1950, में प्रकाशित। असंकलित]

ज्ञान की तेरी तुरी है

ज्ञान की तेरी तुरी है,
आसुरी माया दुरी है।

किरण की राखी प्रकृति ने
हरित कर बाँधी विभव के—
चरण कमलों के चढ़ाये
भार खग-कुल कण्ठ रव से
कमल के खोले कटोरे
मधु भरे; फेरी धुरी है।

ध्यान में मुनि-मन मने हैं
वेद, विधि, वाणी, नियन्त्रण,
सर्व के कर सिमटकर वे
कर रहे हैं समाहित मन
बीज में वट-विटप जैसे,
पौर में जैसे पुरी है।

[सम्भावित रचनाकाल : 1949 ई. का उत्तरार्ध । **आराधना** में संकलित]

परिशिष्ट

मौलिक और अनूदित कविताएँ

माननीया श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति

से दिन तुमि आमाय डेकेछिले
आमार सङ्गे कथा बोलबे बोले।
भेबेछिलेम, कोनो अछिलाय
एड़िये जाबो एमन विषम दाय।
नाना रकम भेबे गेलेम शेषे,
एले तोमार रूपेर स्रोते भेसे।
चाहनीते किन्तु विषम लागे,
प्राणे आमार दुरु-दुरु जागे।
चरित एकटी धरे बोलले, "कोबलार,
जुतो पालिश करते पारो ?" 'पारी"
जेइ बोललेम, बोलले मानिये हार,
"तखन तोमार कलम आमी बाड़ी"
कलम बाड़ार भाबे। गन्ध छोटे;
तोमार चोखे-मुखे गोलाप फोटे।

[उस रोज तुमने मुझे बुलाया था मुझसे बातचीत करने के लिए। मैंने सोचा था, किसी बहाने यह समस्या बचा जाऊँगा। मगर तरह-तरह की सोचकर अन्त में गया। तुम अपने रूप की तरङ्गों पर तैरती हुई जैसे आयीं। लेकिन, तुम्हारी चितवन से, पीते वक्त जैसे पानी लगा। दिल धड़का। मेरे उपन्यास का एक चरित चुनकर तुमने पूछा, "जूतासाज़, पालिश कर सकते हो,"—एक पैर उठाकर जूता दिखाया। "कर सकता हूँ" ज्यों ही मैंने कहा कि तुमने जवाब दिया, "तब मैं तुम्हारी क़लमसाज़ी करूँगी।" साथ ही क़लमसाज़ी की भङ्गिमा दिखायी। खुशबू उड़ी—तुम्हारी आँखों और मुख पर गुलाब खिले।—निराला]

[रचनाकाल : 1942। **अणिमा में संकलित**]

चौथी जुलाई के प्रति

काले बादल कट गये आकाश से
रात को बाँधे हुए थे जो समाँ—
पृथ्वी पर तानी थी चादर, इस तरह।
आँख खोली, जादू की लकड़ी फिरी।
चिड़ियाँ चहकीं, साथ फूलों के उठे
सर,—सितारे जैसे चमके ताज के—
ओस के मोती लगे, स्वागत किया
क्या तुम्हारा झूमकर झुककर। खुली
और फैली दूर तक झीलें, खुशी
जैसे आँखें कमलों की फाड़े हुए
दर्श करती हैं तुम्हारा हृदय से।
कुल निछावर, ज्योति के जीवन, नया
आज अभिनन्दन तुम्हारा, धन्य है।
आज रवि, स्वाधीनता की फूटी कलि,
राह देखी विश्व ने, कैसे खिली,
देशकालिक खोज की, कैसे मिले;
छोड़ा है घर, मित्र, छोड़ी मित्रता।
खोजा तुमको, आवारा मारा फिरा,
गुज़रा दहशत के समन्दर से, कभी
सघन पहले के गहन वन से, लड़ा
हर क़दम पर प्राणों की बाज़ी लिये।
वक़्त वह, हासिल निकाला काम को,
प्यार का, पूजा का, जीवनदान का;
हाथ उठाया, सँवरकर पूरा किया।
फिर तुम्हीं ने स्वस्ति की बाँधी कमर
जनगणों पर मुक्ति की डाली किरण।
देव, चलते ही चलो बेरोकटोक,
विश्व को दुपहर न जब तक घेर ले,
कर तुम्हारा हर ज़मी जब तक न दे,
स्त्री-पुरुष जब तक न देखें चाव से,—
बेड़ियाँ उनकी कटीं, उल्लास की,
जाँ नयी जब्र तक न समझें आ गयी।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 10 सितम्बर, 1944 (विवेकानन्द की अंग्रेजी कविता का अनुवाद)। **नये पत्ते में संकलित**]

काली माता

छिप गये तारे गगन के,
बादलों पर चढ़े बादल,
काँपकर घहरा अँधेरा,
गरजते तूफ़ान में, शत
लक्ष्य पागल प्राण, छूटे
जल्द कारागार से—द्रुम
जड़ - समेत उखाड़कर, हर
बला पथ की साफ़ करके।
शोर से आ मिला सागर,
शिखर लहरों के पलटते
उठ रहे हैं कृष्ण नभ को,
स्पर्श करने के लिए द्रुत,
किरण जैसे अमंगल की,
हर तरफ से खोलती है
मृत्युछायाएँ सहस्रों
देहवाली घनी काली।
आधि - व्याधि बिखेरती, ऐ,
नाचती पागल हुलसकर
आ, जननि, आ, जननि, आ, आ!
नाम है आतंक तेरा,
मृत्यु तेरे श्वास में है,
चरण उठकर सर्वदा को
विश्व एक मिटा रहा है,
समय तू है, सर्वनाशिनि,
आ, जननि, आ, जननि, आ, आ!
साहसी, जो चाहता है
दुःख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है,
तू उसी के पास आयी।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 17 सितम्बर, 1944 (विवेकानन्द की अंग्रेजी कविता का अनुवाद)। **नये पत्ते में संकलित**]

रामायण

(विनय-खण्ड)

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासकृत
का
अवधी से हिन्दी-अनुवाद

स्वर्गीया

कवि साहित्यिक श्रेष्ठा

सुभद्रा कुमारी चौहान

की

स्मृति में

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निवेदन

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी का रामचरित-मानस या रामायण भारत की सर्वोत्तम काव्यकृति है। इसको इस समय यहाँ का वेद कहते हैं। इसके सम्बन्ध की बहुत-सी बातें प्रकाश में नहीं आयीं। काफी अँधेरा है, अधिकार और अधिकारियों का प्रमाद भी। इनके आवेष्ठन के बाहर जो मुख्य विषय रहता है वह है साहित्य। उसी को लक्ष्य में रखकर यह अनुवाद किया गया है। दोहा, चौपाई, सोरठा, छन्द जैसे के वैसे ही हैं। कहीं कुछ परिवर्तन है, भाषा में न आ सकने के कारण, जैसे बृहत दोहा एक नया हुआ है और अन्त में कहीं-कहीं गुरु-गुरु न रहकर लघु-गुरु रह गया है, हिन्दी की शुद्धि की रक्षा के कारण। इससे छन्दःशास्त्र की एक वृद्धि हुई है। कहीं कुछ प्रवर्तन भी है। फिर भी मूल की पूरी-पूरी रक्षा करने का प्रयत्न है। जिन प्रान्तों के विद्यार्थी अवधी नहीं जानते उनके लिए सुविधा हुई है। ऐसे भी नवें दसवें दरजे में इसका प्रचलन करने से विद्यार्थियों की खड़ी बोली अधिक पुष्ट हो जायगी, इसका प्रमाण अधिकारिवर्ग पढ़ते ही समझ जायँगे। अशुद्धियाँ कुछ हैं, परन्तु शुद्धिपत्र लग गया है, सन्निवेश कर लें।* आशा है, पाठक पढ़कर राष्ट्रभाषा के विस्तार के प्रयत्न में हमारा उत्साह बढ़ायेंगे।

इसको निकालते हुए पं. गङ्गाधर मिश्र शास्त्री और बाबू बलदेव प्रसाद मेहरोत्रा साहित्यालङ्कार हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने लगन के साथ परिश्रम किया। ॥ इति ॥

जेष्ठ बदी 6, 2005

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

* शुद्धि-पत्र के अनुसार अशुद्धियों को ठीक करके उसे निकाल दिया गया है।—सम्पादक

श्लोका:

वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानाञ्च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ 1 ॥
भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा:स्वान्त:स्थमीश्वरम् ॥ 2 ॥
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्र: सर्वत्र वन्द्यते ॥ 3 ॥
सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥ 4 ॥
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥ 5 ॥
यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रम:।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥ 6 ॥
नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि
स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥ 7 ॥

सो.—स्मरण-वरण है सिद्धि, गण-नायक करिवर-वदन,
जिनकी कृपा समृद्धि, बुद्धि बढ़ी, गुण हैं सदन।
मूक हुए वाचाल, पङ्गु चढ़े गिरिवर गहन,
जिनकी कृपा, दयाल द्रवें सकल-कलिमल-दहन।
नील-सरोरुह - श्याम, तरुण-अरुण-वारिज-नयन,
करें हृदय में धाम, सदा क्षीर-सागर - शयन।
कुन्द-इन्दु-सम देह, उमा - रमण करुणा - अयन,
दीन जनों पर स्नेह, करें कृपा किरणोदयन।
वन्दूँ गुरु - पद -कञ्ज, कृपा-सिन्धु नररूप - हरि,
महामोह तम-पुञ्ज, जिनके वच रविकर-निकर।

चौ.—बन्दूँ गुरु - पद, पद्म परागूँ,
सुरुचि, सुवास, सरस, अनुरागूँ।
अमिय - मूल सित चूर्ण चारुतर,
सकल - रोग - परिवार - भारहर।
सुकृत - शम्भु-तनु-भूति शुचि बनी,
मञ्जुल - मङ्गल - मोद - प्रजननी।
जन-मन - मञ्जु-मुकुर - मलहरणा,
तिलक किये गुण-गण - वशकरणा।
गुरु-पद-नख मणि-गण-ज्योतिः स्फुर,
दिव्य दृष्टि आ जाती है उर।
मोहदलन उसका प्रकाश वर,
बड़े भाग्य, आता है जिस घर।
विमल विलोचन खुल जाते हैं,
भव के दुख-तम धुल जाते हैं।
राम-चरित मणि-माणिक-खनि-धन,
प्रकट-रूप लखते हैं तब जन।
दो.—यथा सुअञ्जन आँजकर साधक-सिद्ध-सुजान,
कौतुक देखें शैल-वन-भूतल भूरि-निधान।
चौ.—गुरु-पद-रज मृदु-मञ्जुल-अञ्जन,
नयन-अमिय दृग-दोषविभञ्जन।
उससे किये विवेक-विलोचन,
कहा विमल हरि-यश भवमोचन।
बन्दूँ प्रथम महीसुर-पद-युग,
मोह-जनित-संशयहारी शुभ।
सुजन-समाज, सकल-गुण-ज्ञानी,
करूँ प्रणाम सप्रेम सुवाणी।
साधु-चरित जैसे कपास-बल,
नीरस किन्तु विशद गुणमय फल।
दुःख सहे, परछिद्र दुराया,
वन्दनीय, जग में जस पाया।
साधु-समाज सकल मङ्गलमय,
जैसे तीर्थराज जङ्गम शय।
राम-भक्ति गङ्गा की धारा,
सरस्वती ब्राह्मी स्थिति सारा।
विधि-निषेध की कलिमल धोकर,
कर्म-कथा यमुना आयी घर।

हरि-हर-कथा विराजित वेणी,
सुनते सकल मोद-सुख-देनी।
वट विश्वास अचल, धर्मों का,
तीर्थराज शुभ-शुभ कर्मों का।
सबको सदा सुलभ, सब देशों,
सेते जन बचते हैं क्लेशों।
अकथ अलौकिक तीर्थराज है,
देता है फल सद्य, साज है।

दो.—सुनकर समझें मोद-मन, मज्जें जन अनुराग,
लहें चार फल विमल-तन, साधु-समाज प्रयाग।

चौ.—मज्जन-फल देखिए उसी क्षण,
काक हुए पिक, बक मरालगण।
सुनकर अचरज करें न कोई,
महिमा सत्सङ्ग की न गोई।
वालमीकि, नारद, घटयोनी,
निज-निज मुखों कही निज होनी;
जलचर, थलचर, नभचर आये,
जो जड़-चेतन जीव कहाये;
मति, गति, कीर्ति, विभूति, भलाई,
जिसने जहाँ जिस जतन पायी;
कुल, जानिए, सुसङ्ग-भाव से,
लोक न वेद, कि अन्य दाव से।
नहीं विवेक विना - सत्सङ्गति,
नहीं सुलभ वह विना-राम-रति।
मङ्गल-मोद-मूल सङ्गति शुभ,
साधन-फूल, सिद्धि-फल-वीरुध।
शठ सुधरे, शुभसङ्गति पायी,
पारस-परस कुधातु सुहायी।
विधिवश सुजन कुसङ्गति पाकर,
फणि-मणि के जैसे गुणानुसर।
विधि-हरि-हर-कवि-कोविद आये,
कहते सन्महिमा सकुचाये।
नहीं कही जाती वह ऐसे,
शाक-वणिक से मणि-गुण जैसे।

बृ. दो.—बन्दूं साधु समानचित, हित न अहित सबके घरों;
अञ्जलि-गत जैसे सुमन, सम-सुगन्ध दोनों करों।

दो.—साधु विश्वहित चित्त-शुचि, भाव जानकर स्नेह,
बाल-विनय सुनकर कृपा करें दूर सन्देह।

चौ.—बन्दूँ फिर खलगण शुचि भाये,
विना काम जो दाँयें-बाँयें;
परहित-हानि लाभ जिनके है,
उजड़े हर्ष, बिषाद बसे है;
हरि-हर-यश-राकेश राहु जुज,
पर-अकाज को भट सहस्र-भुज;
जो गवाह लेकर पर-दूपण
देखें परहित-घृत मक्खी-मन;
तेज कृशानु, रोष महिषासुर,
अघ-अवगुण-धन-धनिक-हुए मुर;
उदित-केतु हैं अहित के लिए,
कुम्भकर्ण-जैसे शयित जिये;
पर-अकाज को वे जलते हैं,
कृषि मारकर उपल गलते हैं।
बन्दूँ खल जो शेष रोष-फण,
अयुत-वदन कहते पर-दूषण।
फिर बन्दूँ पृथु के समान जो,
पर-अघ सुनते अयुत-कान हो।
पुनः शक्र-जैसों को मैं नत,
सुरानीक जिनको हित सन्तत;
वचन-वज्र है जिन्हें सदा प्रिय,
सहस्राक्ष-पर - दोष - लक्ष्य - क्रिय।

दो.—उदासीन, अरि-मित्र से जलते हैं खल-रीति;
पाणि-युगल निज जोड़कर बिनती करूँ सप्रीति।

चौ.—हम निज कर जोड़कर मरेंगे,
वे निज ओर न भोर करेंगे।
पलें भले ही खाकर पायस,
निरामिष न होंगे जो वायस।
साधु-असाधु-चरण मैं बन्दूँ,
दुखप्रद उभय, बीच कुछ छन्दूं।
एक बिछड़ते जी लेते हैं,
मिलते एक दुःख देते हैं।
एक-साथ जीवन पाते हैं,
जलज-जोंक गुण बिलगाते हैं।

सुधा साध, मदिरा असाध है,
जनक जगज्जलनिधि अगाध है।
भली-बुरी करतूत व्यक्ति की,
लेती जस, अपलोक, मुक्ति भी।
सुधा, सुधाकर, साधु, सुरसरित,
गरल, अनल, कलिमल, कर्महरित।
गुण, अवगुण, जाने सब कोई,
जो भाई, रुचि; जागी, सोई।
दो.—भले भलाई से लहें, लहें निचाई नीच,
सुधा सराहें अमरता, गरल सराहें मीच।
चौ.—गहे अगुण खल, सज्जन गुणगण,
उभय अपार-उदधि-अवगाहन।
इससे कुछ गुण-दोष बखाने,
ग्रहण न त्याग विना पहचाने।
भले, पोच विधि ने उपजाये,
श्रुति ने गुण गिनकर बिलगाये।
कहते हैं इतिहास, वेदगण,
विधि-प्रपञ्च गुण-अवगुण-मिश्रण।
दुख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रातों,
साधु-असाधु, सुजात-कुजातों,
दानव-देव ऊँच औ' नीचों,
अमिय-सजीवन, माहुर-मीचों,
माया-ब्रह्म, जीव-जगदीशों,
लक्ष-अलक्ष, रङ्क-अवनीशों,
काशी मगहर, सुरसरि-नाशों,
मरु-मालव, महिदेव-गवाशों,
स्वर्ग-नरक, अनुराग-विरागों,
निगमागम, गुण-दोष-विभागों,
दो.—गुण-दोषों, जड़-चेतनों, रचा सकल संसार;
सन्त हंस गुण गहें पय, छोड़ें वारि-विकार।
चौ.—यह विवेक देता है धाता,
तजकर दोष गुणों मन राता।
काल-स्वभाव कर्म-बरिआई,
भले चूकते सहज भलाई।
वह हरिजन सुधार लेते हैं,
दोष छोड़कर जस देते हैं।

खल करते हैं भला सङ्ग - उर,
मिटता नहीं स्वभाव अभङ्गर।
लखे सुवेश, विश्व - वञ्चक जो,
वेश - प्रताप पूजिए उनको।
नहीं निबाह उघरने पर पर,
कालनेमि जैसे कपि के कर।
कुवसन भी साधु का मान है,
जैसे जग कपि, जाम्बवान है।
हानि कुसङ्ग, सुसङ्ग लाभ है,
लोक - वेद में विदित डाभ है।
साधु - असाधु - सदन शुक - शारी,
पढ़ते हैं, देते हैं गारी।
धूम कुसङ्गति से कालिख है,
लिखो पुराण, मञ्जु-मसि-शिख है।
अनिल - अनल - सङ्घात, वही जल,
होता है जग - जीवन का फल।
दो.—ग्रह, भेषज, जल, पवन, पट, यथा सुयोग-कुयोग,
हुए सुवस्तु - कुवस्तु जग, लखें सुलक्षण लोग।
बृ. दो.—सम-प्रकाश-तम पाख दो, नाम-भेद फिर भी किये;
शशि-पोषक, शोषक, तथा, जग में जस, अपजस लिये।
जड़ - चेतन जग - जीव जो, सभी राम-गुण-गाथ,
बन्दूं सबके पद - कमल, सदा जोड़कर हाथ।
देव - दनुज, नर - नाग - खग, प्रेत-पितर-गन्धर्व,
बन्दूं किन्नर, तिमिरचर, कृपा करो अब सर्व।
चौ.—आकर चार, लाख चौरासी
जाति-जीव, नभ-जल - थलवासी।
सबको सीताराम जानकर
मैं प्रणाम कर रहा मानकर।
मुझे जानकर निज किङ्कर - तल,
करो स्नेह मुझ पर, छोड़ो छल।
अपना मुझको नहीं बुद्धि-बल,
इससे झुकता हूँ मैं नत - पल।
रघुपति - गुण गाऊँ, यह चित है,
लघुमति मेरी, चरित अमित है।
एक अङ्ग भी अभी न साजा,
मन अति रङ्क, मनोरथ राजा।

मन अति नीच, रुचिर रुचि की है,
अमिय चाहिए, छाछ नहीं है।
सुजन छमेंगे सहज ढिठाई,
लेंगे बालक - वचन - मिठाई।
वे तुतली बातें करते हैं,
माता - पिता मोद भरते हैं।
कुटिल विचारक, कूर हँसेंगे,
जो पर - दूषण - भूषण लेंगे।
निज कवित्त से किसे नहीं रति,
सरस याकि फीका, यह सम्मति;
पर - भाषित सुनकर हरषाये,
वे नर बहुत नहीं जग जाये।
सुरसरि - सम हैं जग में बहु नर,
जो निज बाढ़ बढ़े जल पाकर;
सागर - सम कोई पड़ते हैं,
पूर्णचन्द्र से जो बढ़ते हैं।
दो.—छोटा भाग्य, तृषा बड़ी, करूँ एक विश्वास,
पायेंगे सुख सुजन जन, मन्द करेंगे हास।
चौ.—हित - खल - हास कि काक रहा है,
कल - कण्ठ को कठोर कहा है।
बक हंस को, कुजात जात को,
हँसे मलिन खल विमल बात को।
कविता-रसिक, नहीं हरि-पद-रति,
उनको यह हास्य की सुसङ्गति।
भाषा-भणित, अल्प मति मेरी,
हँसने योग्य, नहीं त्रुटि तेरी।
हरि - पद - प्रीति नहीं, घी तीखी,
उनको कथा लगेगी फीकी।
हरि-पद-रति, मति नहीं कुतरकी,
उनको मधुर, कथा रघुवर की।
राम - भक्ति - भूषित जी जानी,
सुजन सुनेंगे शंसित - वाणी।
नहीं सुकवि, मैं नहीं चतुर नर,
सकल-कला - विद्या - विहीन घर;
अक्षर, अर्थ, अलङ्कृति, ध्वनि-ऋध,
छन्द - प्रबन्ध, अमन्द - मन्द-विध;

भाव-भेद, रस-भेद, विविध गण,
कविता के गुण - दोष सुप्रकरण,
एक विवेक नहीं मेरे घर,
सत्य लिखूं कोरे कागज पर।
दो.—मम भाषित सब-गुण-रहित, विश्व-विदित गुण एक,
यह विचारकर सुनेंगे, जिनके विमल विवेक।
चौ.—रामनाम इसमें उदार है,
जो शुचि, वेद - पुराण - सार है।
मङ्गल - भवन, अमङ्गल के हर,
उमा - सहित जपते हैं शङ्कर।
भणिति विचित्र सुकवि-कृत भी जो,
तजी राम से, सजी नहीं वह।
विधु - वदना सब - भाँति - सँवारी,
अवसन नहीं सजी वर - नारी।
सब-गुण-रहित कुकवि की विरचित,
राम-नाम-यश से यदि अङ्कित,
सादर बुध - समाज सुनते हैं,
मधुकर जैसे गुण गुनते हैं।
यद्यपि कविता गुण से विरहित,
फिर भी राम - प्रताप अनवसित।
यही भरोसा है मेरे मन,
किसे न मिला सुसङ्ग बड़प्पन।
कटुता सहज धूम ने तज दी,
अगुरु - प्रसङ्ग सुगन्धित रज दी।
भणित - भदेस, सुवस्तु, सुवरणा,
रामकथा, भव - मङ्गल - करणा।
छन्द—मङ्गलकरा कलिमलहरा तुलसी कथा रघुनाथ की,
गति कुटिल-कविता-सरित की जो परम पावन पाथ की।
प्रभु-सुयश - सङ्गतिभणित - कलिहोगीसुजन-मन-भावनी,
भव-अङ्ग - भूति श्मशान की सुमेर सुहावन - पावनी।
दो.—सबको अतिशय-प्रिय लगा, भणित-राम-यश-सङ्ग,
दारु-विचार कहाँ, जहाँ वन्दित मलय-प्रसङ्ग ?
श्याम-सुरभि, पय विशद अति, गुणद, करेंगे पान,
गिरा - ग्राम से रामयश, गावें - सुनें सुजान।
चौ.—मणि - माणिक - मुक्ता-छवि जैसी,
अहि-गिरि-गज-शिर रही न वैसी;

नृप - किरीट तरुणी - तनु पाकर,
ली अपनी शाभा अधिकाकर।
वैसे, बुध कहते हैं, कविता
उपजी कहीं, कहीं छवि - भविता।
भक्त - हेतु विधि - भवन छोड़कर,
आती है शारदा तोड़कर;
यदि न नहाई राम - चरित - सर,
वह श्रम गया न शत उपाय पर।
कवि - कोविद यह हृदय सोचकर,
गाते हैं गण मल विमोचकर।
प्राकृत जन के गुण गाने पर,
पछताती है गिरा प्रहत - कर।
हृदय सिन्धु, मति सीप, ज्ञान है,
स्वाति शारदा के समान है;
वारि - विचार बरसता है यदि,
तो कविता मुक्ता की है छवि।
दो.—युक्ति बेधकर पोहिए, रामचरित - वरताग,
पहनेंगे सज्जन विमल, शोभा अति अनुराग।
चौ.—जो कराल कलि के विशेष हैं,
करतब - काक मराल - वेश हैं;
चलते कुपथ वेद - मग छोड़े,
कपट - कलेवर, कलिमल गोड़े;
होकर वञ्चक-भक्त राम के,
किङ्कर कञ्चन - क्रोध - काम के;
उनमें पहली रेखा मेरी,
धिक धर्मध्वज धन्धक - धेरी।
अपने दुर्गुण सकल कहूँगा,
कथा बढ़ेगी, पार न हूँगा।
इससे अति अल्प में कहा है,
बुध को स्वल्प, विशेष रहा है।
मेरी बहुविध विनय लीजिए,
सुनकर कथा न खोर दीजिए।
शङ्का जिनको इतने से भी,
मति थोड़ी, हों जितने से भी।
नहीं कवयिता, नहीं चतुर नर,
गाता हूँ हरियश गुणानुसर।

कहाँ राम के चरित, अमित जो,
कहाँ बुद्धि, मति मेरी, जित जो।
जिस मारुत गिरि - मेरु उड़े हैं,
कहो, तूल किस लेखे में हैं।
समझे अमित राम - प्रभुता है,
कहते कथा सहज लघुता है।

दो.—शेष शारदा, शम्भु, विधि, आगम, निगम, पुराण,
नेति - नेति कहकर सुगुण, करें निरन्तर गान।

चौ.—ज्ञात सभी को, प्रभुता गोई,
विना कहे भी रहा न कोई।
वेदों ने रक्खे हैं कारण,
भजन - प्रकार, भाव - निर्धारण।
एक अनीह, अरूप, अनामा,
अज, सच्चिदानन्द, गुणधामा।
व्यापक, विश्व - रूप, जगदीश्वर,
धृत - बहु - देह, चरित-मायाकर।
वह केवल भक्तों ही के हित,
परम - कृपालु - स्वरूप-अवतरित।
ममता और स्नेह जिस जन पर,
किया न क्रोध कभी उस तन पर।
अकल दीन के लिए सकल हैं,
राजा - रघुपति सरल सबल हैं।
यह जानकर कहेंगे हरि - यश,
बुध - जन गिरा करेंगे निज वश।
इस बल मैं रघुपति के गुण - गण,
कहता हूँ करके पद - वन्दन।
प्रथम कीर्ति मुनियों ने गायी,
सुगम उसी मग चलते भाई।

बृ. दो.—जो अपार नद, नृपों ने किये सेतु जिन पर सुघर,
पिपीलिका भी परम-लघु उनसे पार हुई निडर।

चौ.—इस प्रकार मन में बल लाकर,
रघुपति - कथा कहूँगा सस्वर।
व्यास - आदि जितने कवि - पुङ्गव,
कहे चरित सादर निरुपद्रव।
चरण - कमल बन्दूँ उनके, रे,
पूरें सकल मनोरथ मेरे।

कलि के कवियों का भी वन्दन,
करता हूँ जो इस गुण चन्दन।
जो प्राकृत कवि परम सयाने,
भाषा में हरि - चरित बखाने।
हुए, अभी हैं, होंगे आगे,
वन्दूं उनको, छल - बल त्यागे।
हों प्रसन्न, वरदान मुझे दें,
साधु - समाज - मान मुझसे लें।
बुध न आदरेंगे प्रबन्ध जो,
बालक-कवि-श्रम, किया, मन्द वह।
भणित कीर्ति वह भली भूति है,
सुरसरि के सम विमल धूति है।
भणित भदेस, सुकीर्ति राम की,
अन्देशा है, है अकाम भी।
उपमा दूंगा यही ठाट पर,
सियन सुहावन हुई टाट पर।
लोग अनुग्रह करें जानकर,
भाषा मेरी विमल - यशःसर।

दो.—कीर्ति विमल, कविता सरल, वह आदरें सुजान,
सहज बैर को भूलकर, रिपु भी करें बखान।

बृ. दो.— विना विमल मन के न वह,
अति थोड़ा मति - बल मुझे।
करे कृपा, हरियश कहूँ,
पुनः निहोरूँ मैं तुझे।

दो.—कवि-कोविद रघुवर-चरित-मानस-मञ्जु-मराल,
बाल-विनय सुनकर, सुरुचि लखकर रहें कृपाल।

सो. –बन्दूं मुनिपद - कञ्ज, रामायण जिनकी लिखी,
सखर सुकोमल मञ्जु, दोष-रहित दूषण-सहित।
वन्दूं चारो वेद, भव - वारिधि - बोहित - सदृश,
नहीं स्वप्न में खेद, कहते जिनको राम - यश।
बन्दूं विधि - पद-रेणु, भव - सागर जिनका रचा,
साधु-सुधा-शशि-धेनु, प्रगटे खल, विष, वारुणी।

बृ. दो.—विबुध-विप्र-बुध-ग्रह-चरण गहूँ, जोड़कर कर कहूँ,
खुश होकर पूरो सकल मञ्जु मनोरथ, वर लहूँ।

चौ.—फिर बन्दूं सुरसरित, शारदा,
जल - अक्षर की युगल भारदा।

एक नहाये पिये पापहर,
कहते - सुनते अपर तमस्तर
माता - पिता महेश - भवानी,
प्रणमूं दीन - बन्धु दिनदानी।
सेवक, स्वामी, सखा राम के,
सब विधि हित, निरुपाधि नाम के।
हर - गिरिजा ने कलि विलोककर,
सरजा मन्त्र - जाल जग शाबर।
अनमिल आखर, अर्थ न जप है,
भाव प्रगट है, शङ्कर - तप है।
वह महेश अनुकूल दास पर,
कहूँ कथा सुख - मूल रासभर।
गौरी - शङ्कर का वर पाकर,
बरनूँ राम - चरित्र मनोहर।
भणित भूरि - शिवकृपा - भात है,
शशि - समाज से सजी रात है।
जो इनके हैं सहज निकेतन,
कहें - सुनेंगे सुजन सुचेतन।
होंगे रामचरण - अनुरागी,
कलिमल - रहित सुमङ्गल - भागी।
दो.—सपने भी मुझ पर सही, यदि हर-गौरि-प्रसाव,
तो फुर हो जो कुछ कहूँ, भाषा - भणित प्रभाव।
चौ.—बन्दूँ अवधपुरी अति - पावन,
सरयू-सरि कलि-कलुष - नसावन।
प्रणमूं पुर-नर-नारी फिर - फिर,
जिन पर नहीं अल्प ममता स्थिर।
सीता - निन्दक - पाप नसाये,
लोक विशोक बनाये, लाये।
बन्दूं प्राची - दिक् कौशल्या,
जिनकी कीर्ति सकल दिशि हल्या;
जाये जहाँ राम शशि सुन्दर,
खल-शतदल-हिम, विश्व-विभाधर।
दशरथ - राव - सहित सब - रानी,
सुकृति - सुमङ्गल - प्रतिमा जानी;
करूँ प्रणाम वचन - मन - तत्पर,
करो कृपा सुत - दास जानकर।

जिनको रचकर बढ़ा विधाता,
बड़ी रहीं मा - पिता - विमाता;
दो.—बन्दूँ वे नरनाथ, सत्य - प्रेम जिनका रहा,
छुटा तनय का हाथ, प्रिय तनु तृण इव परिहरा।
चौ.—प्रणमूँ सह - विदेह वे परिजन,
हरिपद गूढ़ - स्नेह जिनके मन;
योग - भोग में रखा छिपाकर,
राम देखते प्रगटा भास्वर।
प्रणमूँ प्रथम भरत के युग - पद,
जिनके व्रत से विश्व वशम्वद;
राम - चरण - पङ्कज जिनका मन
तजता नहीं मधुप इव केतन।
बन्दूँ लक्ष्मण - पद - सरोज धन,
शीतल, सुभग, भक्त - सुख-जीवन;
रघुपति विमल - पताक - कीर्ति का
जिनका जस जैसे दण्ड टिका;
शेष सहस्र - शीर्ष जग - कारण,
जो अवतरे भूमि - भय - टारन,
सदा रहें अनुकूल दास पर,
कृपा - सिन्धु सौमित्रि गुणाकर।
मैं रिपुसूदन - चरण - प्रकामी,
शूर, सुशील, भरत - अनुगामी।
महावीर हनुमत - पद मैं नत,
जिनके यश राम ने किया रत।
सो.—बन्दूँ पवन - कुमार, खल - वन - पावक ज्ञान-घन,
जिनके उर - आगार बसे राम शर - चाप - धर।
चौ.—कपि-पति, ऋक्ष, निशाचर-नायक,
अङ्गदादि जो कीश सहायक,
बन्दूँ सबके चरण सुहाये,
अधम शरीर राम - धन पाये।
रघुपति - चरण - उपासक जितने
खग-मृग-सुर-नर असुर न कितने,
बन्दूँ पद - सरोज मैं सबके,
बने राम के अब के तब के।
शुक - सनकादि भक्त - मुनि-नारद,
जो मुनिवर विज्ञान - विशारद,

वन्दूँ सबको महि रखकर सिर,
करो कृपा निज जन पर फिर-फिर।
जनक - सुता जग - जननी सीता,
अतिशय - प्रिय, करुणा की गीता।
उनके युग - पद - कमल मनाऊँ,
जिनकी कृपा विमल - मति पाऊँ।
फिर मन - वचन - कर्म रघुनायक,
चरण - कमल बन्दूँ सब - लायक।
नव - राजीव-नयन, धनु - सायक,
भक्त-विपत्ति - भञ्ज सुखदायक।
दो.—गिरा-अर्थ-जल-वीचि-सम, कहिए भिन्न-अभिन्न,
बन्दूँ सीताराम - पद, जिनको अति-प्रिय खिन्न।
चौ.—बन्दूँ राम - नाम रघुवर के,
हेतु कृशानु - भानु - हिमकर के।
विधि-हरि-हरमय वेद - प्राण-सम,
गुण - निधान भी अगुण अनागम।
महामन्त्र वह शिव जपते हैं,
काशी - मुक्ति - हेतु तपते हैं।
महिमा जिनकी जाने गणपति,
प्रथम पूजिए गुण - प्रभाव - मति।
ज्ञात आदिकवि को प्रभाव वर,
उलटे जप से हुए शोधकर।
नाम - सहस्र - समान सुवाणी
सुनकर जपती रहीं भवानी।
हर हरषे उर - हेतु हेरकर,
स्त्री को किया स्त्रियाभूषण वर।
जाना शिव ने राम - नाम - बल,
किया अमिय-सम काल-कूट-फल।
दो.—वर्षा-ऋतु रघुपति-सुरति, तुलसी, शालि सुदास,
राम - नाम वर - वर्ण - युग, सावन-भादों-मास।
चौ.—अक्षर मधुर - मनोहर दोनों,
वर्ण - विलोचन, जन-धन, सोनों।
करते स्मरण सरोज - नाभ हैं,
लोक - विलोक निबाह - लाभ हैं।
कहते - सुनते भले - भले वे,
राम - लक्ष्मण, गले - गले वे।

बरने वर्ण, प्रीति बिलगी है,
ब्रह्म - जीव की घात लगी है।
नर - नारायण - सदृश सुभ्राता,
जग - पालक, विशेष जन - त्राता।
भक्ति-नरी-कल - करण - विभूषण,
जग-हित-हेतु-विमल-विधु - पूषण।
स्वादु - तोष - सम सुगति-सुधा के,
कमठ - शेष - सम धर वसुधा के।
जन-मन-मञ्जु-कञ्ज - मधुकर-से,
जीभ-यशोमति-हरि - हलधर-से।
दो.—एक छत्र, इक मुकुट - मणि, सब वर्णों पर साज,
श्रीरघुनायक - नाम के वर्ण बिराजे आज।
चौ.—समझे अधिक नाम औ, नामी,
प्रीति परस्पर प्रभु - अनुगामी।
नाम - रूप ईश की बाधना,
अकथ, अनादि, सुबुद्धि - साधना।
छोटा - बड़ा कहूँ अपराधन,
समझेंगे गुण - भेद साधु - जन।
नाम - अधीन रूप रहता है,
नाम - विहीन नहीं बहता है।
किसी रूप का नाम न जाना,
कर - तल - सुगत नहीं पहचाना।
स्मरिए नाम, न रूप देखिए,
आयेगा उर में, सरेखिए।
नाम - रूप - गति अकथ कहानी,
समझे सुखद, न गयी बखानी।
अगुण - सगुण में नाम सुसाखी,
उभय - प्रबोधक, चतुर दुभाखी।
दो.—राम - नाम - मणि - दीप रख, जीभ-देहली-द्वार,
भीतर, बाहर तू सदा यदि चाहे उजयार।
चौ.—नाम जीभ जपकर योगी - जन
जागे विरिञ्चि-प्रपञ्च-विरत-मन।
ब्रह्मानन्द अनुभवें अनुपम,
अकथ अनाम अरूप अनागम।
जो जानना चहें निगूढ़ गति,
नाम जीभ से जपकर लें मति।

यति ने नाम जपा लौ लाकर,
हुए सिद्ध अणिमादिक पाकर
जपा नाम आर्तों ने जी - भर,
मिटा कुसङ्कट, हुए सुखाकर।
चार प्रकार राम के जन जग,
चारो सुकृती, स्नेहमय, अनघ।
उनको नामाधार सार है,
ज्ञानी पर सविशेष प्यार है।
चारो युग, श्रुति, यही सही है,
कलि में अन्य उपाय नहीं है।

दो.—सकल - कामना - हीन जो, राम-भक्ति-रस-लीन,
नाम - प्रेम-पीयूष - हृद किये वचन - मन मीन।

चौ.—रूप ब्रह्म के अगुण सगुण दो,
अकथ, अगाध, अनादि, अघुण जो।
मेरे मत से नाम महत्तर
जिसके वश हैं दोनों सत्वर।
प्रौढ़ सुजन जन जानें जन की,
कहूँ प्रतीति, प्रीति - रुचि मन की।
एक दारु - गत, एक देखिए,
पावक - युग - सम ब्रह्म लेखिए।
उभय अगम, युग सुगम नाम से,
नाम बड़ा है ब्रह्म - राम से।
एक ब्रह्म अविनाशी व्यापक,
चेतन सदानन्द सुखज्ञापक,
ऐसे प्रभु उर में रहते हैं,
किन्तु जीव जग दुख सहते हैं।
नाम - निरूपण नाम - यत्न से,
प्रगटे वे ज्यों मोल रत्न से।

दो.—निर्गुण से यों है बड़ा, नाम - प्रभाव अपार,
कहूँ राम से भी बड़ा, निज - विचार-अनुसार।

चौ.—विहित, राम ने नर - तनु लेकर,
सङ्कट सहे, किये जन - सुखकर।
जपते नाम सप्रेम, विना - श्रम,
भक्त हो रहे हैं नन्दन - सम।
एक अहल्या हरि ने तारी,
कोटि - कुमति नाम ने सुधारी।

हरि ने एक ताड़का मारी,
सुत सुबाहु, सेना संहारी;
दले नाम ने दोष दास के,
जैसे रवि - कर निशा - नाश के।
शङ्कर - धनुष राम से टूटा,
नाम - प्रताप विश्व - भय छूटा।
दण्डक - वन प्रभु - चरण - सुहावन,
जन - मन - अमित नाम से पावन।
दलित - निशाचर श्री रघुनन्दन,
नाम सकल-कलि-कलुष-निकन्दन।
दो.—शबरी - गीध - सुसेव को, सुगति-दान रघुनाथ,
बचे नाम से अमित खल, वेद-विदित गुण-गाथ।
चौ.—राम - कृपा, सुग्रीव - विभीषण,
अभय हुए, पायी भी सुशरण।
कितने जन नाम ने निवाजे,
लोक - वेद - वर - विरद बिराजे।
राम, भालु - कपि - कटक बटोरा,
सेतु - हेतु श्रम किया न थोड़ा,
लेते नाम भवार्णव सूखे,
करो विचार, सुजन, मन - रूखे।
राम, सकुल रण रावण मारा,
सीता - सहित स्वपुर पग धारा।
राजा राम, अवध नृपधानी,
गाते हैं सुर - मुनि वर - वाणी।
ली दास ने नाम की गीता,
अश्रम प्रबल मोह - दल जीता।
फिरा स्नेह के मग सुख अपने,
नाम - प्रताप नहीं दुख सपने।
दो.—ब्रह्म - राम से यों बड़ा, नाम महा वरदान,
राम - चरित - शत कोटि में, लिया ईश ने जान।
चौ.—नाम - प्रताप शम्भु सम्राजे,
मङ्गल - राशि अमङ्गल साजे।
शुक - सनकादि सिद्ध मुनि योगी,
नाम - प्रसाद ब्रह्म - सुख- भोगी।
नाम - प्रताप विदित नारद को,
जग-प्रिय हरि, हरि-प्रिय निर्मद वह।

जपते नाम प्रसाद मिले हैं,
भक्त - सिरों प्रह्लाद खिले हैं।
ध्रुव सग्लानि नाम लेते हैं,
राम ठौर अविचल देते हैं।
पावन नाम पवनसुत लेकर,
करते हैं राम को स्ववश - पर।
अपर अजामिल, गज, गणिका भी,
हुए मुक्त हरि - नाम - प्रभासी।
नाम कहाँ तक बड़ा बकेंगे,
राम नाम - गुण न गा सकेंगे।
दो.---राम - नाम का कल्पतरु, कलि-कल्याण - निवास,
हुए स्मरण से, भाग्य से, तुलसी तुलसीदास।
चौ.—चारो युग, त्रिकाल, लोकत्रय,
जीव विशोक हुए नामाशय।
वेद - पुराण - साधुजन की मति,
सकल-सुकृत-फल राम-चरण-रति।
ध्यान प्रथम युग, मख द्वितीय में,
प्रभु - पूजन द्वापर, तृतीय में।
कलि मल - मूल, मलीन हुआ मन,
पाप पयोनिधि, मीन हुआ जन।
नाम कामतरु, काल डटा है,
स्मरण किये जग - जाल छटा है।
राम - नाम कलि - अभिमत- दाता,
हित - परलोक, लोक पित-माता।
कलि में कर्म न धृति विवेक है,
राम - नाम अवलम्ब एक है।
कालनेमि कलि कपट - धाम है,
हनुमत् - सुमति समर्थ नाम है।
दो.—राम-नाम नर-केशरी, कनक-कशिपु कलि-काल;
पाला जन-प्रह्लाद को, दलकर असुर विशाल।
चौ.—भाव, कुभाव, अनख, आलस भी,
जपते नाम कुशल दिग्दश की।
नाम - प्रभाव कहूँ गुण - गाथा,
रघुपति - चरण झुकाकर माथा।
वही सुधारेंगे सब, भाई,
जिनकी कृपा न कृपा अघाई।

स्वामी राम, दास मैं काला,
निज दिशि लखा, दया से पाला।
लोक - वेद यह रीति बखानी,
सुनकर विनय प्रीति पहचानी।
धनी - दरिद्र, ग्रामनर - नागर,
पण्डित - मूढ़ मलीन - उजागर,
सुकवि-कुकवि निज मति-विचार-भर,
नृप को वरते हैं नारी - नर।
साधु, सुजान, सुशील भूमि-पति,
ईश - अंश, भव, परम - कृपा-रति,
देते हैं सम्मान देखकर
लोगों को मति - गति विसेखकर।
यह प्राकृत महीप की है गति,
ज्ञान - शिरोमणि कोशल के पति।
राम रीझते हैं शुचि नाते,
मुझसे कौन मन्द - मति जाते?

दो.—शठ-सेवक की प्रीति - रुचि रखते हैं जनपाल,
उपल किये जलयान, कपि-भल्ल सचिव मति-माल।
कहलाता, कहते सभी, सहते हरि परिहास,
साहब सीतानाथ - सम, सेवक तुलसीदास।

चौ.—बड़ी ढिठाई, चूक निगोड़ी,
सुनी नरक ने, नाक सिकोड़ी;
समझ, सहमकर, अपडर अपने,
वह सुध न की राम ने सपने।
समझी सूझ, सुचित - चख चाही,
पति ने मम मति - भक्ति सराही।
कहते नसी, हुई हिय नीकी,
रीझे हरि, जानी जन - जी की।
प्रभु - चित रही न चूक किये की,
जगी सुरति सौ बार हिये की।
जिस अघ वालि व्याध - सम मारा,
उसी पाप सुग्रीव सिधारा,
करनी वही विभीषण ने की,
सपने भी न राम ने देखी।
भरत - सदृश उनको सम्माना,
राज - सभा राम ने बखाना।

दो.—प्रभु तरुतल, कपि डाल पर, उनको किया समान,
तुलसी, कहीं न राम-सम, साहब शील-निधान।
राम कृपालु हुए, कृपा, सबके लिए सुकाम,
यदि यह सच है तो सदा, अग-जग में आराम।
बृ. दो.—कहे दोष-गुण इस तरह, सबके पद वन्दन किये,
कहता हूँ अब विमल यश रघुवर के चन्दन लिये।
चौ.—याज्ञवल्क ने कथा सुहायी,
भरद्वाज को सविध सुनायी।
वह सम्वाद कहूँगा आगे,
सुनें सकल सज्जन अनुरागे।
किया शम्भु ने चरित सुहाया,
गौरी को फिर सुमुख सुनाया;
फिर काक से कहा शिव ने वर,
राम - भक्ति - अधिकारी लखकर।
उनसे याज्ञवल्क ने पाया,
भरद्वाज के आश्रम गाया।
वक्ता श्रोता एक - शील भरि,
समदर्शी, जानें सलील हरि।
जानें तीनों काल, विश्व यह,
करतल - गत, आमलक - सदृश है।
हरि के भक्त और भी ज्ञानी,
कहें, सुनें, समझें वर - वाणी।
दो.—मैंने निज गुरु से सुनी कथा सु-शूकर-खेत;
समझ नहीं थी, बालपन, तब अति रहा अचेत।
श्रोता-वक्ता ज्ञाननिधि, कथा राम की गूढ़,
समझे कैसे जीव जड़ कलि-मल-ग्रस्त विमूढ़।
चौ.—पर गुरु ने बहु बार सुनायी,
मति-अनुसार समझ में आयी।
भाषा-बद्ध करूँगा मैं वह,
मेरे मन प्रबोध जिससे हो।
जैसा कुछ विवेक-बल मेरा,
वैसा भाषूंगा हरि-प्रेरा।
मन-सन्देह - मोह - भ्रमहरणी,
कहूँ कथा भव-सरिता-तरणी।
बुध-विश्राम समाज-रञ्जिनी,
राम-कथा कलि-कलुष-भञ्जिनी।

राम-कथा कलि पन्नग-भरणी,
फिर विवेक-पावक को अरणी।
राम-कथा कलि कामद-गायी,
सुजन - सजीवन - मूल सुहायी।
वसुधा के तल सुधा-रङ्गिनी,
भीति-भञ्जिनी, भ्रम-भुजङ्गिनी।
असुर-सेन - सम - नरक - कन्दिनी,
साधु-विबुध-कुल अचल-नन्दिनी।
सन्त - समाज - पयोधि - रमा - सी,
विश्वभार - धर - अचल-क्षमा-सी।
यम-गण-मुख-मसि जग यमुना-सी,
जीवन-मुक्ति-हेतु ज्यों काशी।
हरि को प्रिय पावन तुलसी-सी,
तुलसिदास-हित - हिय-हुलसी-सी।
शिव-प्रिय - मेकल - शैल - सुता-सी,
सकल-सिद्धि - सुख-सम्पतिका-सी।
सद्गुण-सुर-गण-मातृ - अदिति-सी,
रघुवर-भक्ति-प्रेम - परिमिति- सी।

दो.—राम-कथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चित चार,
तुलसी, सुन्दर स्नेह वन, सीता-राम-विहार।

चौ.— चिन्तामणि हरिचरित-चार है,
सन्त - सुमति - नारी - सिंगार है।
जग-मङ्गल गुण-ग्राम राम के,
मुक्ति-दानि धन धर्म-धाम के।
सद्गुरु ज्ञान-विराग-योग के,
विबुध-वैद्य भव-भीम-रोग के।
जननी-जनक राम-सीता-रति,
बीज सकल-व्रत-धर्म-नियम-गति।
शमन सकल सन्ताप-शोक के,
प्रिय-पालक परलोक-लोक के।
सचिव-सुभट भूपति-विचार के,
कुम्भज लोभ-उदधि-अपार के।
काम-क्रोध-कलिमल-करिगण के,
केशरिशावक जन-मन-वन के।
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के,
कामद-घन दारिद-दवारि के।

मन्त्र-महामणि विषय-ब्याल के,
मेटें कठिन कुअङ्क भाल के।
तम-मद-मोहहरण दिनकर-से
सेवक शालिपाल जलधर-से।
अभिमत - दान देव - तरुवर - से
सेते सुलभ-सुखद हरि-हर-से।
सुकवि-शरद-नभ - मन-उडुगण - से,
राम-भक्त जन-जीवन-घन-से।
सकल-सुकृत-फल, भूरि-भोग-से,
जग के हित निरुपाधि लोग-से।
सेवक - मन - मानस - मराल - से,
पावन - गङ्ग - तरङ्ग - माल - से।

दो.—कुपथ-कुतर्क-कुचालि-कलि, कपट-दम्भ-पाषण्ड,
दहन राम-गुण-ग्राम ज्यों, इन्धन-अनल प्रचण्ड।
राम-चरित राकेश-कर, सबको शरद सिताभ,
सज्जन-कुमुद, चकोर-चित, हित-विशेष, अति लाभ।

चौ.—गिरिजा ने जिस विधि पूछा है,
शङ्कर ने जिस भाँति कहा है,
वह कुल हेतु कहूँगा गाकर,
कथा-प्रबन्ध विचित्र बनाकर।
कथा जिन्होंने सुनी न स्थिर-मन,
सुनकर अचरज करें न वे जन।
कथा अलौकिक सुनकर ज्ञानी,
अचरज करते नहीं अमानी।
मिति जग नहीं कथा की, आनें;
यह प्रतीति जिनके मन, जानें।
भाँति-भाँति अवतार, राम की,
रामायण शतकोटि नाम की।
कल्प-भेद हरि-चरित सुहाये,
विविध भाँति भक्तों ने गाये।
संशय उर न कीजिए इससे,
सादर सुनी कथा, वे हरसे।

दो.—राम अनन्त, अनन्त गुण, अमित कथा-विस्तार,
करेंगे न आश्चर्य मन, जिनके विमल विचार।

चौ.—दूर किया संशय, विधि पायी,
माथे गुरु-पद-धूल लगायी।

फिर जोड़कर पाणि रहता हूँ,
खोर न लगे, कथा कहता हूँ,
शिव को सादर नाकर माथा,
बरनूँ विशद राम-गुण-गाथा,
सम्वत सोलह-सौ इकतिस है,
कथा कह रहा हूँ, आशिस है।
नवमी, चैत, भौम, मसि ली है,
अवधपुरी, यह रचना की है।
जिस दिन राम-जन्म गाते हैं,
तीर्थ समूह वहाँ जाते हैं।
असुर-देव-मुनि-नर बरते हैं,
रघुनायक-सेवा करते हैं।
जन्म-महोत्सव रचते हैं जन,
गाते हैं कल कीर्ति विशद-मन।
दो.—मज्जन करते हैं बहुत सज्जन सरयू-नीर,
जपते हैं, उर ध्यानकर सुन्दर श्याम शरीर।
चौ.—दर्श-स्पर्श-मज्जन-सुपान से
अघहर, सुनिये श्रुति-पुराण से।
नदी पुनीत, अमित, महिमा अति,
कह न सकीं शारदा विमल-मति।
राम-धामदा पुरी भवानी,
लोक-विदित, है विश्व-पावनी।
चार-खान जग-जीव आमरण,
अवध तजे तन, नहीं संसरण।
पुरी मनोहर है, जितनी विधि,
सकल-सिद्धिप्रद, मङ्गल की निधि।
विमल-कथा-प्रारम्भ किया है,
काम-दम्भ-मद श्रवण छिया है।
राम-चरित-मानस सुनाम है,
सुनते श्रवण मिला विराम है।
उसका विषय अनल-वन जलकर
भस्म हुआ जो आया इस सर।
राम-चरित-मानस मुनि-भावन
शिव ने रचा सुहावन पावन;
त्रिविध-दोष-दुख - दारिद - दावन,
कलि-कुचाल-कलि-कलुष-नसावन।

शिव ने मन में रखा बिरचकर,
कहा शिवा से पाकर अवसर।
इससे राम-चरित-मानस वर
दिया नाम हर ने हिय हँसकर।
वहा कथा कहता हूँ सुखप्रद,
सुनिए सुजन मनों से निर्मद।
दो.—जिस विधि जो मानस हुआ, जग-प्रचार जिस हेतु,
कहूँ कथा कुल स्मरणकर, हृदय उमा-वृषकेतु।
चौ.—शम्भु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी,
राम - चरित - मानस-कवि-तुलसी।
करूँ मनोहर सुमन - हार वर,
सुजन सुचित लेंगे सुधारकर।
सुमति भूमि - थल, उर अगाध धन,
वेद - पुराण उदधि, साधक जन;
वरसें यश रामका, वारिवर
मङ्गलकारी, मधुर, मनोहर।
कहें सगुण - लीला प्रकाश - भर,
वही स्वच्छता मल - विनाश - कर।
प्रेम - भक्ति जो हुई न वर्णित,
वही मधुरता, शीतलता सित।
उस जल सुकृत शालि का है हित,
राम-भक्ति जग-जीवन विकसित।
मेधा - महि - गत वह जल पावन,
चला सिमटकर श्रवण सुभावन।
भरा सुमानस, शिथिल, थिराया,
सुखद - शीत रुचि - रुचिर चिराया।
दो.—सुठ सुन्दर सम्वादवर बिरचा बुद्धि - विचार,
वे इस पावन सुभग सर घाट मनोहर चार।
चौ.—सप्त - बन्ध सोपान सुभग हैं,
ज्ञान - नयन - जन - मनके मग हैं।
महिमा हुई अगुण अबाध जो,
बरनूंगा कल जल अगाध वह।
सीता-वर-यश सलिल-सुधा-सम,
उपमा वीचि - विलास मनोरम।
पुरइन सघन चारु चौपाई,
युक्ति मञ्जु मणि - सीप सुहायी।

छन्द - सोरठे, सुन्दर दोहे,
वे बहुरङ्ग कमल - कुल सोहे।
अर्थ अनूपम, भाव, सुभाषित,
वे पराग, मकरन्द सुवासित।
सुकृत-पुञ्ज-मञ्जुल-अलि - माला,
ज्ञान - विराग - विचार - मराला।
ध्वनि-अवरेव - कवित्त - जाति-गुण,
मीन मनोहर बहुविध सुनिपुण।
अर्थ - धर्म - कामादि चार हैं,
कहिए, ज्ञान, विचार - सार हैं।
नवरस जप - तप योग याग हैं,
वे सब जलचर इस तड़ाग हैं।
सुकृती साधु नाम - गुण - गायन,
वे विचित्र जल - विहग शुभायन।
सभा चतुर्दिक की अमराई,
श्रद्धा ऋतु वसन्तसम गायी।
भक्ति - निरूपण विविध विधानों,
क्षमा, दया, द्रुम, लता, वितानों;
संयम - नियम फूल - फल नाना,
हरि - पद-रति रस, यही बखाना।
और कथाएँ बहु - प्रसङ्ग हैं,
विविध-वर्ण शुक-पिक विहङ्ग हैं।
दो.—पुष्प-वाटिका बाग - वन सुख - सुविहङ्ग - विहार,
माली - सुमन - स्नेह - जल सींचें लोचन चारु।
चौ.—जो गाते हैं, चरित सँभाले,
वे इस ताल चतुर रखवाले।
सदा सुनें सादर नर - नारी,
वे सुरवर मानस - अधिकारी।
अतिखल जो विषयी बक - कागे,
इस सर जाते नहीं अभागे।
शम्बुक - भेक - सिवार उस सलिल,
नहीं विषय - रस - कथा एक तिल।
इस कारण आते हिय हारे,
कामी काक - [illegible]क बिचारे।
आते इस सर बड़ी कठिनता,
आ न जाय, पायी न यदि कृपा।

सङ्ग कठिन, पथ भी कराल हैं,
जन वचनों के व्याघ्र - व्याल हैं।
गृह के कार्य विरूप - माल हैं,
अति दुर्गम वे गिरि विशाल हैं।
वन बहु विषम - मोह - ममता-मद,
नदी कुतर्क भयङ्कर निष्पद।
दो.—जो श्रद्धा - सम्बल - रहित, नहीं साधु का साथ,
उनको मानस अगम अति जिन्हें न प्रिय रघुनाथ।
चौ.—यदि मति उनको सम्मति देगी,
जाते जूड़ी - नीद लगेगी।
जाड़ा जड़ता का आता है,
गया नहीं मज्जन पाता है।
मज्जन - पान नहीं कर सकता,
फिर आता है बकता - बकता।
कोई अगर पूछने आया,
निन्दा करके उसे सुनाया।
रहा विघ्न का एक न लेखा,
हरि ने जिसे कृपा से देखा।
वही नहाता है सादर सर,
जलता नहीं ताप से दुस्तर।
तजते नहीं सरोवर वे नर,
जिनके भले भाव हरिपद पर।
चहे नहाना यदि तू इस सर,
तो सत्सङ्ग करे मन लाकर।
मन की आँखों मानस देखा,
कवि की खुली बुद्धि की रेखा।
उर - आनन्द - उछाह उड़ा है,
प्रेम - प्रमोद - प्रवाह जुड़ा है।
चली सुभग कविता सरिता - सी,
राम-विमल-यश - जल-भरिता-सी।
सरयू नाम, मूल मङ्गल की,
लोक - वेद - मत, कूल अमल की।
नदी नीत मानस - विनन्दिनी,
कलि-मल-तृण-तरु-मूल - कन्दिनी।
दो.—श्रोता त्रिविध समाज-पुर, ग्राम-नगर युग-कूल,
साधु-सभा अनुपम अवध, सकल सुमङ्गल-मूल।

चौ.—राम-भक्ति सुर-सरित् खिली है,
सरयू जैसे कीर्ति मिली है।
सानुज राम - समर - यश पावन
मिला महानद शोण सुहावन।
युग के मध्य देवधुनि - धारा,
हुई विरति की एक सहारा।
त्रिविध तापिका निज बल मल दी,
राम - स्वरूप - सिन्धु को चल दी।
मानस - मूल मिली सुरसरि से,
सुनते मन को पावन कर दे।
बीच - बीच हैं कथन विभञ्जित,
तीर - तीर वन - उपवन रञ्जित।
उमा - महेश - विवाह - बराती,
वे जलचर अगणित, बहु घाती।
राम जन्म - आनन्द - बधाई,
भ्रमर - तरङ्ग मनोहर आयी।
दो.—बाल - चरित बन्धुओं के, वनज विपुण बहुरङ्ग
नृप-रानी परिजन-सुकृत, मधुकर, वारि-विहङ्ग।
चौ.—धनुर्यज्ञ की कथा सुहायी,
नदी शोभिनी, छबि की छायी।
नौकाएँ बटु - प्रश्न लेख ले,
केवट उत्तर सही देख ले।
कथोपकथन परस्पर जो हो,
पथिक - समाज सरित्तट की वह।
परशुराम - रिस है धारा खर,
घाट सुबन्ध राम - वाणी - वर।
विहित विवाह - उछाह सहानुज,
सुख उमगा सबको अनेक - भुज।
कहते - सुनते हुलसे - पुलके,
नहा रहे हैं वही अतुल के।
राम - तिलक को सजे सुमङ्गल,
पर्वयोग के जुड़े सकल दल।
कैकेयी की मति काई है,
जिसके हेतु बिपत पायी है।
दो.—शमन सकल उत्पात अति, भरत-चरित जप-याग,
कलि-अघ-खल-अवगुण-कथन, वे जल-मल बक-काग।

चौ.—सरिता-कीर्ति छहों ऋतुओं में,
सुभावनी पावनी दसों में।
हिम-ऋतु गिरिजा-शिव-विवाह है,
शिशिर सुमन-जन-गण-उछाह है।
राम-विवाह - समाज कहेंगे,
मंगलमय ऋतुराज रहेंगे।
दुस्सह ग्रीष्म, विराग, गमन-वन,
पन्थ-कथा, खर-ताप, पवन-स्वन।
वर्षा घोर निशाचर - अरिता,
सुर-कुल - शालि - सुमंगलकरिता।
राम-राज्य - सुख, विनय, बड़ाई,
विशद सुखद वह शरद सुहायी।
सती-शिरोमणि - सीता- गुण - गण,
वही अमल अनुपम अवलम्बन।
भरत - स्वभाव, सुशीतल करनी,
सदा एकरस गयी न बरनी।
दो.—अवलोकन, बोलन, मिलन, प्रीति, परस्पर हास,
भायप चारों बन्धु का, जल-माधुरी, सुवास।
चौ.—आर्ति, विनय, दीनता हमारी,
लघुता - ललित सुवारि सँवारी।
सुनते अद्भुत जल गुणकारी,
आस - प्यास - मानस - मलहारी।
राम - प्रेम से पोषित वह जल,
हरता है कलि - कलुष मनोमल।
भव-श्रम-शोषण तोष-वितोषण,
दुरित-दुःख दारिद्र्य - विमोचन;
काम-क्रोध - मद - मोह - नाश को,
विमल - विवेक - विराग-वास को;
सादर मज्जन - पान कीजिए,
पाप और परिताप छीजिए।
जिसने वारि न मानस धोया,
उस कायर ने काल बिगोया।
तृषित, देखकर किरणों को जल,
जीव - सदृश फिरते हैं मृगदल।
बृ. दो.—मति-अनुहारि-सुवारि-गुण गिनकर नहलाकर सुमन,
हर-गिरिजा को सुमरकर कहूँ कथा, समझें सुजन।

दो.—श्री-रघु पति-पद - पंकरुह उर लाकर सुरसाद,
कहूँ युगल मुनिवरों के मिलन-सुभग सम्वाद।
भरद्वाज - मुनि ने किये जैसे प्रश्न अनेक,
याज्ञवल्क ने जो दिये उत्तर, कहूँ सवेक।

चौ.—भरद्वाज - मुनि तीर्थराज के,
राम-चरण - अनुराग - साज के।
दया - निधान, तपस्वी, शम - दम-
धर्म-कर्म-पथ, महाज्ञान-रम।
होता है रवि माघ - मकर जब,
तीर्थराज जाते हैं जन सब।
देव - दनुज - नर - किन्नर - श्रेणीं,
मज्जन करते सभी त्रिवेणी।
विमल पूजते हैं माधव - पद,
अक्षय - वट छूकर अति गद्‌गद।
भरद्वाज - आश्रम अति - पावन,
परमरम्य मुनिवर - मन - भावन।
ऋषि-समाज उस स्थल जाते हैं,
तीर्थराज जो जो आते हैं।
प्रात नहाते हैं उछाह से,
हरि - गुण गाते हैं सुराह से।

दो.—ब्रह्म - निरूपण, धर्म-विधि कहते हैं सविभाग।
तत्व - भक्ति भगवान की, निर्मल ज्ञान, विराग।

चौ.—इस विधि मकर नहाते हैं वे,
निज आश्रम फिर जाते हैं वे।
प्रति - वत्सर सानन्द नहाकर,
मुनिवर जाते हैं अपने घर।
एक वार भर - मकर नहाये
मुनिगण निज आश्रमों सिधाये।
याज्ञवल्क - मुनि मन-विवेक वर,
भरद्वाज ने रखा टेककर।
सादर चरण - सरोज पखारे,
शुभ आसन बैठाकर हारे।
पूजा की, मुनि - कीर्ति बखानी,
बोले अति पुनीत मृदुवाणी।
नाथ, एक संशय मेरे है,
करतल वेद - तत्व तेरे है।

कहते मेरा जी रोता है,
यदि न कहूँ, अकाज होता है।
दो.—कहते हैं, यह नीति, प्रभु, श्रुति-पुराण-विश्राव,
होता नहीं विवेक उर, गुरु से किया दुराव।
चौ.—यह विचारकर कहूँ मोह निज,
कहो, स्वजन पर करो छोह, द्विज।
नाम-प्रभाव अमित रहते हैं,
साधु - पुराण - वेद कहते हैं।
जपते हैं अविनाशी शङ्कर,
ज्ञानराशि भगवान गुणाकर।
आकर चार जीव जग के हैं,
काशी मरे, परमपद से हैं।
वह क्या हरि की महिमा मुनिवर,
जिससे शिव देते हैं उत्तर?
राम कौन, प्रभु, पूछूँ तुझसे,
कह करुणा करके तू मुझसे।
राम एक अवधेश - सुमन हैं,
उनका चरित विदित जन-जन में।
नारी - विरह - दुःख उर धारा,
हुआ रोष रण रावण मारा।
बृ. दो.—वही राम या अपर जन, शङ्कर जपते हैं जिन्हें?
सत्यज्ञान सर्वज्ञ तुम, समझाओ सच-सच हमें।
चौ.—जिससे मिटे, मोह, भारी भ्रम,
कहो सविस्तर कथा मनोरम।
याज्ञवल्क बोले, मुसकाकर,
तुम्हें विदित, प्रभुता के रघुवर।
राम - भक्त मन-कर्म-वचन तुम,
समझे हम चतुराई विधुरुम।
गूढ़ - राम - गुण श्रवण करोगे,
मूढ़ प्रश्न करके सवँरोगे।
तात, सुनो, सादर मन लाकर,
कहूँ राम की कथा सुखाकर।
महामोह महिषेश - सदृश है,
राम - कथा कालिका अङ्कश है।
राम-कथा शशि-किरण मान लो,
साधु - चकोर, प्रकाश - पान लो।

गौरी को ऐसा ही संशय,
शङ्कर ने समझाया आशय।

दो.—कहूँ बुद्धि-अनुसार सब उमा - शम्भु - सम्वाद,
जिस कारण, जिस समय, वह, सुन मुनि मिटे विषाद।

चौ.—एक बार त्रेता - युग निस्पृह,
शम्भु गये कुम्भज ऋषि के गृह।
सङ्ग सती, जननी संसृति की,
पूजा ऋषिवर ने, आरति की।
कही कथा मुनि ने साराधन,
सुनी महेश्वर ने पावन - मन।
पूछी ऋषि ने भक्ति, सुहायी,
कही शम्भु ने, रति अधिकाई।
हरि - गुण - गाथा कहते - सुनते,
शिव के दिन बीते सुख बुनते।
मुनि से मागी बिदा सुवाणी,
चले भवन शिव, सङ्ग भवानी।
उस अवसर महिभार - विभञ्जन,
हरि अवतरे राम रघुनन्दन;
पिता - वचन से राज्य छोड़कर,
बिहर रहे थे दण्डक - वन वर।

बृ. दो.—हृदय सोचते गये हर, कैसे हों दर्शन परम,
गुप्त रूप अवतरे प्रभु, जान गये सब जन सुषम।

सो.—शङ्कर-उर अति-क्षोभ, सती न जाने मर्म वह,
तुलसी दर्शन-लोभ, मन डर, लोचन लालची।

चौ.—लिया मरण रावण ने नर-कर,
करना चाहा हरि ने विधिपर।
जाऊँ न, रहेगा पछतावा,
बना न करते एक बनावा।
इस विधि हुए सोचवश ईश्वर,
इसी समय आया दशकन्धर।
लिये नीच मारीच सङ्ग निज;
कपट-कुरङ्ग हुआ वह अद्विज।
हरी जानकी किया गूढ़ छल,
विदित मूढ़ को रहा न प्रभु-बल।
बधकर बन्धुसहित प्रभु आये,
आश्रम शून्य, नयन जल छाये।

विरह-विकल नर-इव रघुनायक,
फिरे खोजते, बन्धु सहायक।
जिसके योग-वियोग नहीं है,
प्रकट विरह का दुख वहीं है।
दो.—अति-विचित्र रघुपति-चरित, जाने परम सुजान,
जो मति-मन्द विमोह-वश, हृदय धरें कुछ आन।
चौ.—लखा राम को शिव ने उस क्षण,
उपजा हृदय हर्ष अविशेषण।
लोचन भरकर छबि का सागर
देखा; असमय; मिले न सादर।
जय सच्चिदानन्द, जग-पावन,
कहकर चले मनोभवदावन।
साथ सती के, चलते शङ्कर,
पुलकित होते हैं अन्वन्तर।
देखी दशा सती ने शिव की,
उपजा उर सन्देह, पत गयी।
शङ्कर जगद्वन्द्य परमेश्वर,
नाते हैं सिर सुर-नर-मुनिवर।
नृप के सुत को सीस झुकाया,
कहकर सच्चित्, तेरी माया।
हुए मग्न उनकी छबि से वे,
प्रीति नहीं रहती उर जैसे।
दो.—ब्रह्म विश्वमय विरज अज, निर्गुण अकल अभेद,
क्या तनु लेकर नर वही जिसे न जाने वेद?
चौ.—विष्णु देव-हित नर-तनु धरकर,
हैं सर्वज्ञ यथा त्रिपुरेश्वर।
खोजेंगे क्या वे भी नारी,
जैसे अज्ञ, ज्ञान-गुणधारी?
पुनः न होगी मृषा शिव-गिरा,
उनको कहते हैं ब्रह्मशिरा।
यह संशय आया गौरी-मन,
हुआ न हृदय प्रबोध-प्रचारण।
जब भी वह वाणी मन गुन ली।
हर अन्तर्यामी ने सुन ली।
सुनो, सती, नारी-स्वभाव है,
संशय आया है, दुराव है।

वही कथा कुम्भज ने गायी,
मैंने जिनकी भक्ति सुनायी।
मेरे इष्ट वही रघुवर हैं,
मुनिवर जिनकी सेवा पर हैं।

छन्द—मुनि-धीर - योगी - सिद्ध सन्तत विमल-मन ध्यायें जिन्हें,
कहकर 'नहीं' आगम-निगम अति कीर्ति से गायें जिन्हें;
वे राम व्यापक - ब्रह्म भुवन - निकाय - पति माया-धनी,
अवतरे अपने भक्त-हित निज-तन्त्र नित रघुकुल-मनी।

सो.—लगा न उर उपदेश, यद्यपि शिव ने बार बहु,
कहा "धन्य अखिलेश, तव माया, भावी प्रबल।

चौ.—"यदि अतिशय सन्देह हुआ मन,
तो चलकर कीजिए परीक्षण;
"तब तक बैठा वट - छाया - तल,
लौट आइएगा फिर इस स्थल।
"जिससे मिटे अपार मोह-भ्रम,
यत्न कीजिए सह-विवेक-श्रम।"
चलीं सती शिव - आज्ञा पाकर,
किया विचार, "करूँ क्या" जाकर।
यहाँ शम्भु ने सोचा मन तब,
दक्षसुता का नहीं कुशल अब।
कहने पर भी गया न संशय,
विधि विपरीत, रहा भय ही भय।
कहे कौन, होगी विधि - भाषा,
करे कुतर्क, बढ़ाये शाखा?
कहकर जपने लगे निरत - मन,
गयीं सती प्रभु जहाँ सुखासन।

दो.—फिर-फिर हृदय विचारकर धरकर सीता-रूप,
आगे आयीं सामने जिस पथ थे सुर-भूप।

चौ.—लक्ष्मण यह कृतवेश देखकर
चकित हुए उर भ्रम बिसेखकर,
अति गम्भीर नहीं कुछ बोले,
राम-प्रभाव न पथ से डोले।
सती - कपट जाना रघुवर ने
समदर्शी सब के अन्तर ने।
जिनके स्मरण मोह मिटता है,
वही राम, कर तम पिटता है।

किया सती ने कपट वहाँ भी,
यह नारी जो मनोरमा भी।
निज माया-बल हृदय जानकर
बोले मृदु मुसकाकर रघुवर,
हाथ जोड़कर, नत - प्रणाम - पर,
नाम पिता का, अपना लेकर,
"कहिए, कहाँ शम्भु भव-तारण ?
विपिन अकेली हो, किस कारण ?"

दो.—सुने वचन मृदु-गूढ़ अति, उपजा उर सङ्कोच,
सती, भीत, शिव के निकट, चलीं, हृदय अति सोच।

चौ.—"मैंने शिव का कहा न माना,
निज अज्ञान राम पर आना।
"चलकर मैं दूँगी क्या उत्तर ?"
उपजा दारुण दाह मानहर।
समझे राम सती का वह दुख,
प्रकट प्रभाव किया कुछ सम्मुख।
चलते हुए सती ने देखा,
राम, लखन, सीता की रेखा।
देखा फिर पीछे भी फिरकर,
बन्धु - सहित सीता हैं घिरकर।
समासीन जिस ओर निहारा,
मुनि प्रवीण के सेवित तारा।
देखे शिव - विधि - हरि अनेक - से,
अमित - प्रभा - बल एक एक से।
चरण - कमल - सेवा करते हैं,
सुरगण विविध वेश धरते हैं।

दो.—सती विधात्री इन्दिरा, देखीं अमित अनूप,
जिस-जिस वेश अजादि सुर, उस-उस तनु अनुरूप।

चौ.—जहाँ - जहाँ रघुपति जितने हैं,
शक्ति - सहित सुर भी इतने हैं।
जीव - चराचर विश्व - हार के,
देखे सकल विविध प्रकार के।
देव पूजते हैं बहु - भूषण,
देखा अन्य न राम विदूषण।
देखे रघुपति भी अनेक - से
सीता - सहित, न विविध वेश के।

वही राम, लक्ष्मण, सीता हैं,
सती देखकर अति भीता हैं।
हृदय-कम्प, सुध तनक न तन की,
नयन मूदकर मग पर बैठीं।
दृग उघारकर अवलोका फिर
देखा दृश्य न कोई स्थिर-चिर।
फिर-फिर हरि को सीस झुकाकर,
चलीं जहाँ वट - छाया - तल हर।
दो.—गयीं समीप, महेश ने पूछी कुशल सुगात,
किया परीक्षण किस तरह, सत्य कहो सब बात।
चौ.— मन में राम - प्रभाव समझकर,
किया दुराव सती ने पति - डर।
किया परीक्षण कुछ न गुसाईं;
किया प्रणाम आपकी नाईं।
कहा आपने, सत्य समुच्चय,
मेरे मन प्रतीति अब अतिशय।
शङ्कर ने मूदे दृग देखा,
सती-चरित का सच-सच लेखा।
फिर हरि - माया को सिर नाया,
जिसने सहज असत्य कहाया।
हरि - इच्छा, भावी, जग हारा,
हर ने अपने हृदय बिचारा।
लिया - सती ने सीता का तन,
शिव-उर हुआ विषाद-विशेषण।
करूँ सती से प्रीति और अब,
फैलेगी अनीति साधन - मग।
दो.—परम - प्रेम छुटता नहीं, करने पर अति पाप,
कहते नहीं महेश कुछ, हृदय अधिक सन्ताप।
चौ.—अस्तु शम्भु ने सीस झुकाया,
राम - स्मरण से उर यह आया।
नहीं सती से मिलना इस तन,
शङ्कर ने सङ्कल्प किया मन।
यह विचारकर हर अविचल - मति
चले भवन जपते श्री रघुपति।
गगन हुई यह गिरा सुहायी,
जय महेश, यह भक्ति दृढ़ाई।

करे कौन जन जग ऐसा पण,
राम - भक्त तुम वसुधा पावन,
गगन - गिरा से सोच सती - उर,
पूछा शिव से उसका अंकुर।
किया कौन पण, कहो, कृपासव ?
सत्य - धाम तुम सदा महाद्रव।
बार - बार गौरी ने पूछा,
शङ्कर का उत्तर था छूँछा।
दो.—सती - हृदय अनुमान यह, जान गये सर्वज्ञ,
क्रिया कपट क्या शम्भु से, नारी जड़मति अज्ञ।
सो.—बिकता है पयसम सलिल, देख प्रीति की रीति क्या,
फटता है जब है अमिल, कपट-खटाई जब पड़ी।
चौ.—हुआ सोच, समझीं निज करनी,
चिन्ता समधिक, गयी न बरनी।
कृपा - सिन्धु शङ्कर अगाध - धन,
प्रकट न वह अपराध कहा कन।
पति का रुख देखकर भवानी,
तजा, सोचकर उर अकुलायीं।
कुछ न कहा, अघ हुआ सोचकर
आँवा जैसा तपा हृदय वर।
जाना शिव ने सोच सती का,
बोले जिससे हो दुख फीका।
सुनो, सती, इतिहास पुरातन,
कहते चले निवास - निष्ठ - मन।
पहुँचे हिम - गिरि, सोचा निज पण,
बैठे शिव वट - तल कमलासन।
हर ने सहज स्वरूप सँभाला,
लगी समाधि अखण्ड अनाला।
दो.—रहा वास कैलास में, सती-सोच, कुम्हलाय,
मर्म न जाना किसी ने, युगसम दिवस सिराय।
चौ.—सती - शोक - सम्भार नित्य नव,
दुख - सागर के पार जायँ कब।
रघुपति का अपमान किया जो,
शङ्कर - प्रवचन मेंट दिया जो,
वह फल दिया मुझे धाता ने,
अशिव न रखा किसी पाता ने।

अब, विधि, यह न चाहिए तुझको
शङ्कर - विमुख जिलाये मुझको।
ग्लानि हृदय की कही न जाती,
राम - स्मरण करके सकुचाती।
यदि प्रभु दीन - दयालु कहाये,
आर्तिहरण, वेदों के गाये,
तो मैं विनय करूँ संयुग - कर,
छूटे वेग देह यह नश्वर।
यदि मेरे शिव - चरण स्नेह है,—
कर्म - वचन - मन सत्य - गेह है,
दो.—तो समदर्शी सुनें प्रभु, करें वेग सदुपाय,
मरण-वरण हो विना श्रम, असह विपत मिट जाय।
चौ.—इस विधि दुःखित दक्ष - कुमारी,
दारुणता अति, छन - छन हारी।
सत्तासी - सहस्र सम्वत्सर
बीते, जगे शम्भु अविनश्वर।
करते राम - नाम - उच्चारण,
समझीं सती जगे भवतारण।
चलकर वन्दन किया शम्भु - पद,
शिव ने सम्मुख किया सभासद।
कहने लगे कथा हरि की शुभ,
दक्ष प्रजेश हुए उस नव युग।
देखा विधि ने, वे सब लायक,
उनको किया प्रजा का नायक।
यह अधिकार दक्ष ने पाया,
अति अभिमान हृदय में आया।
जग में ऐसा नहीं सभासद,
प्रभुता से जिसको न हुआ मद।
दो.—मुनि बुलवाये दक्ष ने, करने लगे सुयाग,
न्यौते सादर सकल सुर, जो पायें मख - भाग।
चौ.—किन्नर - नाग-सिद्ध - सुर-मुनि-गण,
वधुओं सहित चले वर - वाहन।
विष्णु - विरिञ्चि - महेश छोड़कर,
चले सकल सुर यान जोड़कर।
व्योम - विमान सती ने देखे,
चले जा रहे हैं सुर, लेखे।

गीत हो रहे हैं गुनियों के,
ध्यान छूटते हैं मुनियों के।
पूछा शिव से, बोले गुनकर,
पितृयज्ञ है, हरषीं सुनकर।
आज्ञा मुझको देंगे शिव यदि,
इस मिस वहाँ रहूँगी सुअवधि।
पति - परित्याग, हृदय भारी दुख,
कहें न निज अपराध सदुन्मुख।
बोलीं सती मनोहर वाणी,
भय - सङ्कोच - प्रेम - रस - सानी।
बृ. दो.—पिता-भवन उत्सव परम, यदि मुझको आदेश हो,
तो मैं जाऊँ देखने, शत-शत वन्दन आपको।
चौ.—कहा भला, मुझको भी भाया,
पर अनुचित, न्योता न पठाया।
सभी बेटियों को बुलवाया,
बैर हमारे, तुम्हें भुलाया।
ब्रह्म - सभा हमसे दुख पाया,
सो अबतक अपमान कराया।
यों कोई महिला गवनेगी,
शील, न स्नेह, न कान रहेगी।
यद्यपि मित्र, पिता, गुरु के घर
विना बुलाये चलिए सत्वर
फिर भी जो बैर की मही है,
वहाँ गये कल्याण नहीं है।
हर ने बहुत प्रकार बुझाया,
भावी - वश न ज्ञान उर आया।
पति ने कहा कि विना बुलाये,
नहीं भला, चलिए जिस भाये।
बृ. दो.—देखा करके यत्न बहु, दक्ष-सुता मानी नहीं,
मुख्य गणों के सङ्ग वे आज्ञा से चलती हुईं।
चौ.—पिता - भवन जब गयीं भवानी,
मर्यादा न किसी ने मानी।
माता एक, मिलीं जो सादर,
मगर भगिनियाँ मन मुसकाकर।
दक्ष ने न पूछी अच्छाई,
सहम गये कुल लोग - लुगाई।

सती चलीं वह याग देखती,
कहीं न हर का भाग देखती।
चढ़ा चित्त पर पति का कहना,
अति अपमान, न भाया रहना।
पिछला दुःख न इतना आया,
जितना यह परिताप समाया।
नाना दुःख धरा पर यद्यपि,
जाति न सम्मानित, सबसे अति।
अतः सती के पड़े भाल बल,
समझाया जननी ने नत-पल!
दो.—शिव-अपमान, न सह गया, हुआ न हृदय प्रबोध,
सकल सभा हठ हटककर, बोलीं वचन सक्रोध।
चौ.—समझो कैसा किया इन्होंने,
शङ्कर - निन्दा सुनी जिन्होंने;
मुनियो, वह फल सभी लहोगे,
पछताकर सब भाँति रहोगे।
पिता हाथ मलकर न बचेंगे,
ऐसी रचना भक्त रचेंगे।
हरि - हर - सज्जन जहाँ अनादृत,
जिससे ऐसा अनृत हुआ कृत,
उसकी, जीभ काटिए यदि वश,
भगिए कान मूदकर, अन्यस।
जगदात्मा त्रिपुरारि महेश्वर,
सबके हित के हित सर्वेश्वर।
पिता मन्द, करता है निन्दन;
दक्ष - शुक्र - सम्भव है यह तन;
इसीलिए यह देह तजूंगी,
चन्द्रमौलि वृषकेतु भजूंगी।
कहकर अग्नि जलाया वह तन,
हाहाकार उठा मुनिकेतन।
बृ. दो. --सती-मरण से शम्भु-गण, यज्ञ-ध्वंस करने लगे,
भृगु ने देखा, गणों को विनय-सहित बरने लगे।
चौ.—सुना शम्भु ने सम्बाद सकल,
वीरभद्र को भेजा उस स्थल।
किया यज्ञ - विध्वंस उन्होंने
दिया सुरों को अंश उन्होंने।

दशा दक्ष की वही हुई अब
शम्भु - विमुख की जैसी है जग।
यह इतिहास सभी ने जाना,
मैंने अति अल्प में बखाना।
मरते, हरि से माँगा यह वर,
सती रहूँ मैं, सेऊँ शङ्कर।
इसीलिए वे हिमगिरि के घर,
जनमी गिरिजा का तनु पाकर।
जब से उमा शैलगृह आयीं,
सकल सिद्धियाँ गिरि पर छायीं।
रचे वहाँ मुनियों ने आश्रम,
दिये वास भूधर ने उत्तम।

दो.—सदा सुमन-फल-सहित सब, द्रुम नव नाना-जाति;
प्रकटे सुन्दर शैल पर, मणि-आकर बहु-भाँति।

चौ.—सरिताएँ कल जल बहती हैं,
चिड़ियाँ सभी सुखी रहती हैं।
सहज बैर पशुओं ने छोड़ा,
निर्भय बिचर रहा है जोड़ा।
सोहा गिरि, गिरिजा आयी है,
जन ने राम-भक्ति पायी है।
नित्य नये उसके गृह मङ्गल,
ब्रह्मा गाते हैं यश उत्कल।
समाचार नारद ने पाये,
कौतुक ही हिम-गेह सिधाये।
शैल-राज ने किया समादर,
आसन दिया चरण पखारकर।
स्त्री के साथ भूमि सिर नाया,
चरण-सलिल सब भवन सिंचाया।
अपना भाग्य बहुत वर्णन कर,
सुता बुलाकर मेली पद पर।

बृ. दो.—त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम, प्रगति तुम्हारी विश्वभर;
कहो सुता के दोष-गुण, मुनिवर हृदय बिचारकर।

चौ.—मुनि ने कही गूढ़-मृदु वाणी
सुता तुम्हारी सब-गुण-खानी।
सुन्दर, सहज-सुशील, सयानी,
नाम उमा, अम्बिका, भवानी।

सब लक्षण - सम्पन्न कुमारी,
होगी यह प्रियतम को प्यारी।
सदा अचल अहवात रहेगा,
लोक-बाप-माँ को जस देगा।
जग में उसकी पूजा होगी,
सेवक कभी न होगा रोगी।
उसका लेकर नाम विश्वजन,
स्त्री को देंगे पतिव्रत पावन।
शैल, सुलक्षण सुता तुम्हारी,
कुछ अवगुण हैं, मैं बलिहारी।
अगुण, अमान, न रहे बाप-माँ,
उदासीन, निःसंशय, गणना।
दो.—योगी, जटिल, अकाम-मन, नग्न अमङ्गल वेश;
ऐसा स्वामी मिलेगा, कर-रेखा निर्देश।
चौ.—मुनि के वचन न मृषा मानकर,
दुख दम्पति को, उमा प्राण-पर।
नारद ने भी भेद न जाना,
दशा एक समझे बिलगाना।
गिरिजा, गिरि, मेना, वनिता-दल,
पुलक-शरीर, भरे लोचन जल।
मृषा नहीं देवर्षि के कथन,
रखे उमा ने हृदय वे वचन।
शिव-पद-कमल-स्नेह अति उपजा,
मिलन कठिन, सन्देह मन जगा।
जाना असमय, प्रीति दुराई,
सखी - गोद बैठी, मुसकाई।
झूठ नहीं नारद की वाणी,
सोचें दम्पति, सखी सयानी।
रखकर धैर्य कहा गिरिपति ने,
किस उपाय रहिए, किस मति में ?
बृ. दो.--कहा मुनीश्वर ने सुनो, लिखा भाल विधि ने यथा,
देव, दनुज, नर, नाग, मुनि, किसी से न वह अन्यथा।
चौ.—फिर भी एक उपाय कहूँगा,
दैव सहाय तो कर गुजरूँगा।
जैसे वर की हुई वर्णना,
निस्संशय है उसी की उमा।

जो-जो दोष कहे हैं वर के,
वे सब, अनुमाने हैं, हर के।
यदि विवाह होगा शङ्कर से,
सम गुण-दोष हुए अम्बर के।
हरि अहि-सेज-शयन करते हैं,
दोष न मन बुधजन धरते हैं।
भानु-कृशानु सर्व-रस-ग्राही,
सब ने उनकी शक्ति सराही।
सलिल शुभाशुभ जो बहती है,
वह सुरसरि पवित्र रहती है।
दोष नहीं समर्थ को वैसे,
रवि-पावक सुरसरि को जैसे।
दो.—ऐसी हिस्का करेगा जो नर जड़ अज्ञान,
नरक कल्पभर पड़ेगा; जीव न ईश-समान।
चौ.—सुरसरि के जल बनी बारुणी,
पियेंगे न वह सन्त आरुणी।
सुरसरि से मिलकर वह पावन,
ईश-अनीश-भेद-सम्भावन।
शम्भु समर्थ सहज जगदीश्वर,
इस विवाह कल्याण सुअवसर।
दुराराध्य लेकिन महेश हैं,
आशुतोष भी, किये क्लेश, हैं।
अगर कुमारी तपश्चरेगी,
तो पुरारि को सत्य बरेगी।
यद्यपि जग में हैं अनेक वर,
इसको नहीं, विना-शङ्कर-हर।
वर दायक, प्रणतार्ति-विभञ्जन,
कृपा-सिन्धु, सेवक-जन-रञ्जन।
इच्छित सुफल, विना-शिव-राधन,
मिला न, कोटि योग-जप-साधन।
दो.—यह कहकर हरि सुमरकर, दी उर की आशीष,
होगा अब कल्याण, कुल संशय तजो गिरीश।
चौ.—मुनि कहकर हरि-भवन सिधाये,
अगले चरित सुनो, यों आये।
पति एकाकी, मेना आयी,
कहा, न थाह बात की पायी।

यदि घर-वर-कुल का निवाह है,
तो गिरिजा का शुभ विवाह है;
नहीं, सुता क्वारी की क्वारी,
गिरिजा प्राणों से भी प्यारी।
उमा को न यदि मिला योग्य वर,
गिरि जड़, समझेंगे नारी-नर।
यह बिचारकर व्याह कीजिए,
ताकि न उल्टे दाह लीजिए।
यह कहकर सिर रखा चरण-तल,
बोले गिरि पत्नी से अविचल—
शशि से आग निकल सकती है;
नारद-बात, कि टल सकती है ?
दो.—प्रिये, सोच सब छोड़ दो, सुमरो श्री-भगवान,
देते हैं जो उमा को, करते हैं कल्याण।
चौ.—तुम्हें सुता पर स्नेह अगर है,
उसे सीख दो, यही सुघर है;
तप वह करे, मिले शङ्कर-वर,
अपर उपाय न क्लेश मिटा खर।
नारद-बचन सगर्भ, सहैतुक,
हर सुन्दर वर, गुण-निधि, कौतुक।
यह बिचारकर शङ्का छोड़ो,
शङ्कर निष्कलङ्क, मन जोड़ो।
पति की बात सुनी, हरषीं मन,
चली क्षिप्र-गति उमा-निकेतन।
देखी उमा, नयन-जल-माला,
स्नेह - समेत गोद बैठाला।
बार-बार निज हृदय लगाया,
गद्‌गद-कण्ठ, न कुछ कह आया।
विश्वमयी सर्वज्ञ भवानी,
बोलीं मातृ-सुखद मृदु वाणी।
बृ. दो.—माता सुनिए, स्वप्न में देखा जो मैंने, कहूँ;
सुन्दर गौर सुविप्र के उपदेशों मैं अब रहूँ।
चौ.—करें तपस्या शैल - कुमारी;
सत्य बात नारद की सारी।
यह मत माता को भी भाया,
सुखप्रद तप; दुख - दोष नसाया।

तप - बल रचे प्रपञ्च विधाता,
तप - बल विष्णु सकल-जग-त्राता।
तप - बल रुद्र विश्व - संहारक,
तप-बल शेष भार - महि - धारक।
तप - आधार सृष्टि, प्रिय वर्षण,
कहीं न गयी तपस्या, हर्षण।
सुनकर वचन हुईं मा विस्मित,
स्वप्न सुनाया गिरि को सस्मित।
माँ - बाप को बहुत समझाकर,
चलीं उमा तप को हरषाकर।
प्रिय परिजन, माता घबरायी,
हुई विकल, मुख बात न आयी।
बृ. दो.--वेदशिरा मुनि गये तब, सबको समझाकर कहा,
महिमा गिरजा की विमल सुनी, कही सबने, अहा।
चौ.—उर में उमा प्राण-पति के पद,
रखकर तपने लगीं विनिर्मद।
अति सुकुमार, न तप - लायक तन;
पति - पद सुमरे, तजे भोगगण।
नव अनुराग नित्य उपजा पद,
तप मन लगा, हुआ तन गद्गद।
वर्ष सहस्र मूल - फल खाये,
शत फिर शाकाहार बिताये।
कुछ दिन भोजन वारि-समीरण,
किये उपास कठिन-कुछ दिन वन।
सूखे बेलपत्र महि आये,
तीन सहस्र वर्ष वे खाये।
पर्ण छोड़कर हुईं विवर्णा,
उमा - नाम तब पड़ा अपर्णा।
उमा हुईं जब तप - क्षीण - तन,
घहरी ब्रह्म - गिरा उस नभ घन—
दो.—हुआ मनोरथ सफल तव सुन गिरिराज - कुमारि,
परिहर दुःसह क्लेश सब, आयेंगे त्रिपुरारि।
चौ.—ऐसी हठ न किसी ने ठानी,
हुए अनेक धीर मुनि - ज्ञानी।
रक्खो हृदय ब्रह्म - वर - वाणी,
जिसके प्रति रति शुचितम जानी।

आयें पिता बुलाने को जब,
हठ परिहरकर घर जाना तब।
मिलें तुम्हें जब सप्तर्षीश्वर,
समझो सप्रमाण वागीश्वर।
सुनी गिरा जब वह नभ-छायी,
पुलक गात गिरिजा हरषायी।
उमा - चरित मैंने गाया है,
सुनो शम्भु का, जो भाया है।
तजा सती ने जिस क्षण से तन,
उपजा अति विराग शिव के मन।
राम - नाम जपते रहते हैं,
गुण सुनकर तपते रहते हैं।
दो.—चिदानन्द, सुख·धाम शिव विगत-क्रोध-मद-काम,
बिचर रहे हैं हृदय हरि सकल - लोक - विश्राम।
चौ.—कहीं ज्ञान मुनि को देते हैं,
कहीं ज्ञान से गुन लेते हैं।
हैं अकाम, फिर भी भगवत्पद;
भक्त - विरह से हुए वशम्वद।
बहुत काल बीता ऐसे ही,
नित्य राम - पद - पङ्कज - स्नेही।
प्रेम - नियम शङ्कर का देखा,
अविचल खिची भक्ति की रेखा;
प्रगटे राम कृतज्ञ कृपामय,
रूप - शील - निधि तेज - सदाशय।
शङ्कर को बहुरूप सराहा,
नियम तुम्हीं ने कठिन निबाहा।
बहुत प्रकार पुनः समझाया,
गिरिजा का जब जन्म सुनाया।
अति - पवित्र गिरिजा की करनी,
सविस्तार शङ्कर से बरनी।
दो.—विनय हमारी सुनो शिव, यदि हम पर अति स्नेह,
चलकर ब्याहो उमा को, रहो न अधिक विदेह।
चौ.—यद्यपि मुझको नहीं उचित यह,
मिटा नहीं सकता मैं आग्रह।
सिर पर है आदेश तुम्हारा,
परभ धर्म यह नाथ हमारा।

गुरु, प्रभु, माता, पिता के वचन,
विना - विचार पालिए तत्क्षण।
सभी तरह मेरे हितकारी,
तुम, सिर आज्ञा नाथ तुम्हारी।
प्रभु तोषे शिव - सम्बोधन से,
भक्ति - विवेक - धर्म - रोपण से।
कहा, तुम्हारा ही पण है हर,
कर लेना अपना घर भास्वर।
अन्तर्धान हुए यह कहकर,
रही मूर्ति वह हर के अन्तर।
तब सप्तर्षि घुसे सुनिकेतन,
शोभन वचन किया सम्भाषण।

बृ. दो.—चलिए, गिरिजा हैं जहाँ, प्रेम-परीक्षा लीजिए;
गिरि को प्रेरित कर उन्हें निज घर आने दीजिए।

चौ.—ऋषियों ने देखा, छवि कैसी,
प्रतिमामयी तपस्या जैसी।
बोले मुनि, सुन, शैलकुमारी,
किस कारण है यह तप भारी ?
किसको अवराधा, क्या चाहा,
सत्य कहो, क्यों यह जल थाहा।
सुनकर उनके बचन भवानी
बोलीं मधुर - मनोहर वाणी;
कहते मेरा वदन सिकुड़ता,
हँसिएगा सुनकर यह जड़ता।
सीख न सुनी, न कुछ भी माना,
चाहा जल पर भीत उठाना;
नारद का कहना सच माना,
बिना - पङ्ख खग चहा उड़ाना।
ऐसी मैं अविवेकी, कर्ता,
शिव, चाहती, सदा हों भर्ता।

दो.—सुनकर ऋषियों ने कहा, गिरि-सम्भव तव देह;
नारद के उपदेश से, बसा किसी का गेह ?

चौ.—दक्षसुतों को यों उपदेशा,
भवन उन्होंने पुनः न देखा,
चित्रकेतु का भी घर घाला,
कनक - कशिपु से भी यह पाला।

नारद - उपदेशों नर - नारी,
भवन छोड़कर हुए भिखारी।
मन कपटी, तन सज्जन जाना,
उसका रूप नहीं पहचाना।
उसके वचन प्रतीति हुई मन,
चाहा उदासीन, अनिकेतन।
निर्गुण, निपट, कुवेश, कपाली,
अकुल, अगेह, दिगम्बर, व्याली।
कहो, कौन सुख ऐसे वर से,
अच्छी भूली ठग के कर से।
कहते हैं जन सती बिवाही,
शिव ने, फिर अपडरों मरा दी।
दो.—अब सुख सोते सोच क्या, भीख मागकर खायँ,
सहज इकाकी के भवन, नारी कभी खटायँ ?
चौ.—अब भी मानों कहा हमारा,
हमने वर दूसरा विचारा।
अति-सुन्दर पति सुखद, शील-मति,
कहते हैं सब जन सलील-गति।
दोष - रहित सब गुण के न्यासी,
वे श्रीपति वैंकुण्ठ - निवासी।
ऐसा सुघर मिलाएँ हम वर,
कहा भवानी ने तब हँसकर।
सत्य कहा, गिरि - सम्भव यह तन,
छुटे न हठ, छूटे बर जीवन।
कहा, कनक पत्थर का तोड़ा;
जलकर भी न सहज गुण छोड़ा।
नारद - वचन नहीं परिहरती,
उजड़े, बसे भवन, कब डरती ?
गुरु के वचन प्रतीति नहीं है,
सपने भी सुख, सिद्धि लही है ?
दो.—महादेव अवगुण - भवन, विष्णु सकल गुणधाम,
जिसका मन जिससे रमा, उसको उससे काम।
चौ.—यदि तुम मिलते पहले मुनिवर,
लेती सीख तुम्हारी सिर पर।
मैंने जन्म शम्भु - हित हारा,
किसने भी गुण - दोष बिचारा ?

अगर तुम्हारे हृदय बहुत हठ,
बाँधी है वरिष्ठता की रट,
तो कौतुकियों को क्या आलस ?
वर - कन्या अनेक जग में; बस।
कोटि जन्म तक रगड़ हमारी,
बरूँ शम्भु या रहूँ कुमारी।
नारद का उपदेश न छोड़ूँ,
कहें शम्भु सौ बार, न तोड़ूँ।
पैर पड़ूँ मैं, अम्बा बोली,
घर जाइए, देर भी हो ली।
प्रेम देखकर बोले मुनि - चय;
जगदम्बिके, भवानी, जय, जय।

दो.—तुम माया, भगवान शिव; सकल विश्व सञ्जात;
नाकर पद सिर, मुनि चले, फिर-फिर हर्षित-गात।

चौ.—हिमगिरि को भेजा ऋषियों ने,
घर लौटो, की विनय उन्होंने।
सातो ऋषि शिव - आश्रम आये,
कथन उमा के सभी सुनाये।
हुए मग्न शिव स्नेह श्रवणकर,
गये गेह ऋषि हृदय - हर्ष भर।
शङ्कर ने फिर किया चित्त स्थिर,
करने लगे ध्यान हरि का चिर।
तारक असुर हुआ उस अवसर,
भुज - प्रताप, बल, तेज सुविस्तर।
उसने लोक, लोकपति जीते,
हुए देव धन - बल से रीते।
अजर - अमर वह, मरा न मारे,
विविध युद्ध लड़कर सुर हारे।
ब्रह्मा से पुकार सबने की,
देवों को सलाह विधि ने दी।

बृ. दो.--सबको समझाकर कहा, दनुज-निधन होगा सही;
शम्भु - शुक्र - सम्भूत सुत, इसको जीतेगा वही।

चौ.—कहना मानो तो उपाय है,
होगा यदि ईश्वर सहाय है।
तजा सती ने पिता - गेह तन,
जनमी वही हिमालय के वन।

किया कठिन तप शिव-पति के हित,
शिव समाधि बैठे संयत - चित।
यद्यपि असमञ्जस है भारी,
बात एक यह सुनो हमारी।
भेजो, काम जाय शिव - आश्रम,
करे क्षोभ उनके मन सोद्यम।
तब हम चलकर सीस झुकाकर,
ब्याह करायेंगे बरियाकर।
इस विधि हो सकता है साधन,
अच्छा मत है, बोले सब जन।
स्तुति की देवों ने विनीत - मन,
प्रगटे विषम - बाण झष - केतन।

दो.—कही बिपत निज सुरों ने, मन में किया विचार,
नहीं कुशल शिव - रोध से, हसकर बोले मार।

चौ.—फिर भी काम करेंगे, ज्यों द्रुति,
परम धर्म उपकार, यही श्रुति।
परहित में जो तजते हैं तन,
करते हैं जन उनका शंसन।
यह कहकर सबको सिर नाकर,
सुमन - धनुष कर चले सुहाकर।
चलते यह मति हृदय बिचारी,
शिव - विरोध ध्रुव मृत्यु हमारी।
तब अपना प्रभाव फैलाकर,
किया विश्व को अपना अनुचर।
कोपे जभी वारिचर - केतन,
मिटे सकल श्रुति - सेतु उसी क्षण।
ब्रह्मचर्य, व्रत, संयम नाना,
धैर्य, धर्म, विज्ञान, न माना।
सदाचार, जप, योग न जागा,
समय विवेक - कटक सब भागा।

छन्द—भागा विवेक सहाय-सहित कि कटक जितने, महि मुड़े,
सद्ग्रन्थ पर्वत-कन्दरों चलकर कि उस अवसर दुरे।
करतार भूला, होनहार सजीव, जग खरभर पड़ा,
दो-माथ नत, रतिनाथ का तिर्यक-दृगों धनुशर चढ़ा।

दो.—जो सजीव जग, चर, अचर; नारि-पुरुष के नाम,
वे तजकर मर्याद निज, हुए सभी वश - काम।

चौ.—सबके हृदय मदन - अभिलाषा,
झुकी लता लखकर तरु - शाखा।
नदी पयोनिधि को द्रुत धाई,
मिले परस्पर ताल - तलाई।
ऐसी दशा जड़ों की बरनी,
कौन कहे फिर चेतन - करनी ?
पशु-पक्षी जल - स्थल - नभ के चर,
हुए कामवश समय भूलकर।
छन्द—हैं कामवश योगीश-तापस, पामरों की क्या कथा ?
देखें चराचर नारिमय जो ब्रह्ममय थे सर्वथा।
अबला बिलोकें पुरुषमय जग पुरुष अबलामय रहा।
दो दण्ड तक ब्रह्माण्ड में यह काम-कृत कौतुक महा।
सो.—रहा न कोई धीर, सबके मन मनसिज-हरे,
जिनके उर रघुवीर, वे उबरे इस काल जग।
चौ.—हुआ उभय घटिका यह कौतुक,
गया काम जबतक शिव-सम्मुख।
हर को देखा, छूट गयी धृति,
हुई यथास्थिति सारी संसृति।
हुए विश्व के जीव सुखाले,
जैसे मद - उतरे मतवाले।
हर को लखकर मदन गया डर,
दुराधर्ष, दुर्गम, विश्वेश्वर।
फिरते लाज, न कुछ कह जाती,
ठाना मरण, उपाय विघाती।
ऋतुराज की रुचिरता साजी,
कुसुमित नव-तरु-राजि बिराजी।
वन, उपवन, वापी, तड़ागचय,
परम - सुभग दिग्भाग नवल - वय।
जहाँ तहाँ अनुराग जगा है,
मरे हृदय भी मार लगा है।
छन्द—जागा मनोभव मुए-मन वन-सुभगता न गयी कही;
शीतल सुगन्ध सुमन्द मारुत मदन अनल-सखा सही,
बिकसे कमल बहु रङ्ग गूंजे पुञ्ज, मञ्जुल मधुकरा,
कल-हंस-पिक-शुक-सरस-रव, नव-गान, नाचीं अप्सरा।
दो.—सकल कलाएँ कीं, मगर हारा सैन्य समेत;
डिगी न अचल समाधि वह, काँपा हृदय-निकेत।

चौ.—निपट-रसाल-विटप-वर-शाखा,
उस पर चढ़ा मदन मन-माखा।
सुमन - चाप पर शर सन्धाने,
अति-रिस, तका, कान तक ताने।
छोड़े विषम बाण, उर लागे,
छुटी समाधि, शम्भु तब जागे।
क्षोभ हुआ सविशेष ईश - मन,
देखा सब दिशि खोलकर नयन।
सौरभ - पल्लव मदन देखकर,
कोपे हर, काँपे लोकेश्वर।
शिव ने खोला ज्ञान का नयन,
क्षार मार हो गया उसी क्षण।
हाहाकार उठा जग में भय,
घबराये सुर, असुर सुखाशय।
हुए शोकवश कामुक भोगी,
निष्कण्टक साधक - कुल, योगी।
छन्द—योगी अकण्टक हुए, रति, पतिगति सुनी मूर्छित हुई,
रोयी, कहा बहु भाँति, करुणा की, महेश्वर-ढिग गयी।
अति-भक्ति, सविनय, विविध-विध, कर जोड़कर सम्मुख रही
प्रभु आशुतोष, कृपालु शिव, अबला लखी, बोले सही।
दो.—अब से, रति, तव नाथ का होगा नाम अनङ्ग;
व्यापे वपु के बिना भी, सुन निज मिलन-प्रसङ्ग।
चौ.—जब यदुवंश कृष्ण उतरेंगे,
महाकार महिभार हरेंगे।
कृष्ण - तनय होगा तेरा पति,
वचन सत्य, अन्यथा न हो मति।
गौनी रति सुनकर हर - वाणी,
इधर कथा यह अपर बखानी।
समाचार देवों ने पाये,
ब्रह्मादिक बैकुण्ठ सिधाये।
सब सुर, विष्णु, विरिञ्चि, सजे-मन,
गये जहाँ शिव कृपा - निकेतन।
पृथक-पृथक की स्तुति जोड़े कर,
हुए प्रसन्न चन्द्र - मौलीश्वर।
बोले कृपा-सिन्धु भव - तारण,
कहो अमर, आये किस कारण?

विधि ने कहा, जानते हैं सब,
फिर भी मैं कहता हूँ कुल अबः—

दो.—सभी सुरों के हृदय यह, बढ़ा हुआ उत्साह,
निज आँखों देखें विशद, नाथ तुम्हारा ब्याह।

चौ.—देखें उत्सव भरकर लोचन,
वैसा करो मदन - मद - मोचन।
रति को वर, काम को जलाकर;
हुआ नाथ, यह अतिशय सुन्दर।
साँसत, फिर यह जो प्रसाव है,
प्रभुओं का अति सहज भाव है।
गिरिजा ने तप किया कठिन तम,
अङ्गीकार कीजिए, अनुपम।
सुनकर विधि की विनय समझकर
ऐसा ही हो, बोले स्मरहर।
देवों ने दुन्दुभी बजायी,
बरसे सुमन, विजय सरसायी।
अवसर हुआ, सप्त, ऋषि आये;
विधि से गिरि - गृह गये पठाये।
पहले गये जहाँ थीं गिरिजा,
मधुर बचन बोले, छल सिरजा।

दो.—कही हमारी की नहीं, नारद के उपदेश,
हुआ तुम्हारा झूठ पण, हुए अकाम महेश।

चौ.—गिरिजा मुसकायी यह सुनकर;
उचित कहा भी तुमने, मुनिवर।
ज्ञान तुम्हारे, शिव सकाम थे,
काम जलाया अब सब समझे।
ज्ञान हमारे, सदा अभोगी,
अज, अनवद्य, सदा शिव योगी।
हमने उनकी सेवा ठानी,
प्रीति - समेत कर्म - मन - वाणी;
पण उसका यह, सुनो, मुनीश्वर,
केवल शङ्कर ही होंगे वर।
कहा कि हर ने काम जलाया
रहा बड़ा अविवेक तुम्हारा।
तात अनल का यह स्वभाव है
नहीं वहाँ हिम का टिकाव है।

गये समीप अवश्य नसाये,
मन्मथ-शिव की तरह बुलाये।
दो.—हिय हरषे मुनि वचन से सुगत-प्रीति-विश्वास,
चले भवानी को झुकाकर सर हिमगिरि-पास।
चौ.—गिरिपति को कुल बात सुनायी,
मदन-दहन सुनकर न समायी।
शिव की प्रभुता के विचार से
बुलवाये मुनिवर विचार के।
सुदिन सुनखत सुघड़ी सुचाई,
वेग वेद-विधि-लग्न धरायी।
पत्री सातों ऋषियों ने दी,
पद-गत विनय हिमाचल ने की।
दी पत्रिका विधाता के कर,
पढ़ते उनका हृदय गया भर।
पढ़कर लग्न सुनायी सबको,
हरषे सुनकर मुनिवर समझो।
सुमन-वृष्टि नभ बाजे बाजे,
मङ्गल कलश दसो दिशि साजे।
दो.—सुर सवाँरने लगे निज वाहन, विविध विमान;
होयँ सगुन मङ्गल सुभग, करें अप्सरा गान।
चौ.—शम्भु-गणों ने किया, सिंगारा,
जटा-मुकुट अहिमौर सवाँरा।
कुण्डल, कङ्कण, व्यालाभूषण,
तन विभूति, केसरि-चर्मासन।
शशि ललाट, सुन्दर सिर गङ्गा,
त्रिनयन, श्री उपवीत-भुजङ्गा।
गरल कण्ठ, उर नर-शिर-माला,
अशिव वेश, लोगों को पाला।
कर त्रिशूल, डमरू, वाहन चढ़
वसह चले, बाजों दहले गढ़।
शिव को सुर-देवियाँ देखकर,
बोलीं, दुलही नहीं यथावर।
विष्णु, विरिञ्चि आदि सुरत्राता,
वाहन चले बरात सुशाखा।
सुर-समाज सब भाँति अनूपम,
कुल बरात, तुल, दूलह दूलम।

दो.—कहा विष्णु ने बिहँसकर, बुलवाकर दिशिराज,
बिलग-बिलग होकर चलो, निज-निज, सहित-समाज।
चौ.—बर अनुहर बारात नहीं है,
ऐसे पर - पुर गये हँसी है।
विष्णु - वचन से जन मुसकाये,
अपनी सेना से विलगाये।
मन - ही - मन शिव भी हंसते हैं,
हरि के व्यङ्ग वचन बसते हैं।
प्रिय के अतिप्रिय वचन श्रवणकर,
भृङ्गी को टेरा डेरे पर।
बुलवाये कुलगण, अनुशासन
सुनकर आये सब, शीश-चरण।
बनी वाहिनी नाना - वेशा,
बिहँसा जिसने भी रुख देखा।
कुछ मुख-हीन, विपुल मुख कुछ के,
विना चरण-कर-पद, दुख कुछ से।
विपुल - नयन, कोई विहीन है,
पुष्ट हृष्ट, या महा क्षीण है।
छन्द—तन-क्षीण कोई, पीन, पावन-तन, अपावन गति धरे;
भूषण कराल कलाप कर, सब सद्य-शोणित-तन-भरे;
खर-श्वान-सुअर-शृगाल-मुख गण, वेश अगणित क्या गने?
योगी - पिशाच - जमात, करते बात चलने की बने।
दो.—नाचें, गायें गीत, परम तरङ्गी भूत सब,
देखे अति विपरीत, बोले वचन विचित्र विधि।
चौ.—जैसा दूलह है, बरात है;
मग कौतुक की चली घात है।
यहाँ हिमाचल के, वितान हैं,
तरह - तरह के, सजे प्राण हैं।
शैल सकल जितने तक जग में,
लघु, विशाल; आये; श्री मग में।
वन, सागर, तालाब, नदी, नद,
बुला पठाये हिमगिरि ने सब।
काम - रूप, सुन्दर - तनुधारी
निज समाज सोही वर नारी।
आये सकल हिमाचल के घर,
गायें मङ्गल विमल स्नेह - स्वर।

पहले ही गिरि ने गृह बासे
जथा जोग सब लोग सुपासे।
सुन्दर पुर - शोभा बिलोककर
है विधि की निपुनाई लघुतर।

छन्द—लघु लगी विधि की निपुणता, लखिए नगर-शोभा सही;
वन, बाग, कूप, तड़ाग, सरिता सुभग, किसकी क्या कही
मङ्गल - विपुल तोरण - पताका - केतु गृह - गृह सोहते
वनिता - पुरुष सुन्दर चतुर, छबि देखकर मुनि मोहते।

दो.—जगदम्बा अवतरीं जब, पुर - शोभा साकार;
ऋद्धि, सिद्धि, सम्पत्ति सुख, नित्य नये विस्तार।

चौ.—सुनकर नगर - निकट बरात है,
पुर खरभर, शोभा निवात है।
करके रुचिर बनाव सवाहन
लेने चले लोग आगामन।
सुर - सेनाएँ देखीं, हरषे,
हरि को जब देखा, रस बरषे।
शिव - समाज को देखा जिस क्षण,
भगे बिगड़कर जितने वाहन।
धीरज धरकर रहे सयाने,
बालक लेकर जीव पराने।
गये भवन, पूछें माता - गण,
कहें वचन वे भय - कम्पित - तन।
कहें, नहीं कुछ कह जाता है
जम की धार बरात कि क्या है;
वर बौराह, सवार बलद पर,
व्याल, कपाल, विभूषण हैं क्षर।

छन्द—तन छार, ब्याल-कपाल-भूषण, नग्न-जटिल, कराल-कर
भय, भूत-प्रेत-पिशाच, कटु-मुख, विकट-भट-नट-तिमिरचर।
जीता हुआ बारात देखे, पुण्य उसकी है बड़ी,
देखे व, उमा - विवाह घर - घर बात लड़कों ने कही।

बृ. दो.—हर-समाज है जानकर मुसकाये जननी - जनक,
बाल बुझाये विविध विधि, नहीं रहा अब डर तनक।

चौ.—पुरजन अगवानी से लेकर
गये, दिये जनवास मनोहर।
मेना ने आरती सवाँरी,
सङ्ग सुमङ्गल गाये नारी।

कञ्चन थाल सोह वर पानी,
हर - परछन को चली सयानी।
विकट - वेश शङ्कर को देखा,
अबलाओं ने उर भय लेखा।
भगीं, भवन पैठीं अति त्रासों,
भेजे गये लोग जनवासों।
मेना - हृदय हुआ दुख भारी,
लायी पास गिरीश - कुमारी।
समधिक स्नेह, गोद बैठाला,
श्याम - सरोज - नयन जल ढाला।
तुमको रूप दिया जिस विधि ने,
कैसे दिया बौर वर उसने?
छन्द—कैसे किया वर बौर जिस विधि ने तुम्हें दी सुघरता,
जो कल्पतरु को चाहिए था फल बबूलों में लगा।
गिरि से गिरूँ, पावक जलूँ, तुम - सहित जलनिधि में पड़ूँ,
घर जाव, अपजस हो न जग, जीवित विवाह न मैं करूँ।
बृ. दो.—अबलाएँ व्याकुल हुईं, गिरिनारी को देखकर,
मेना ने रोकर कहा, सुता स्नेह अव रेखकर।
चौ.—नारद का क्या, कहाँ बिगाड़ा,
बसता मेरा भवन उजाड़ा।
इस उपदेश उमा को लाकर,
तपो विवाह किया बौरे वर।
सचसच उनके मोह न माया,
उदासीन, धन, धाम न जाया।
पर - घर - घालक, लाज न भीड़ा,
बूझी बाँझ प्रसव की पीड़ा।
जननी विकल लखी गिरिजा ने,
बोलीं मृदु विवेक की बातें,
सोचो न यह सोचकर माता,
टले न वह जो रचे विधाता।
लिखा कर्म में यदि बाउर पति
दोष लगाती हो क्यों सम्प्रति।
मिटा सकोगी कहाँ अङ्क-विधि ?
व्यर्थ न लो माता कलङ्क - निधि।
छन्द—माता कलङ्क न लो, य' करुणा परिहरो, अवसर नहीं,
सुख - दुख ललाट लिखा, जहाँ भी जायँगे होगा वहीं।

सुनकर उमा के वचन कोमल, सकल - अवला सोचतीं,
बहु भाँति विधि को दोष देकर नयन - वारि बिमोचतीं।

दो.—उसी समय नारद - सहित औ' सप्तर्षि - समेत,
समाचार से तुहिन - गिरि गये तुरन्त निकेत।

चौ.—नारद ने सबको समझाया,
पिछला कथा - प्रसङ्ग सुनाया।
मेना, सुनो, सत्य यह वाणी,
जगदम्बा तव सुता भवानी।
अजा, अनादि, विकारनाशिनी,
सदा शम्भु की, अङ्ग - वासिनी।
जग - सम्भव - पालन - लयकरणी,
निज इच्छा लीला - वपुधरणी।
जन्मी प्रथम दक्ष - गृह जाकर,
हुई सती सुन्दर तनु पाकर।
ब्याह वहाँ भी किया शम्भु से,
जगत्प्रसिद्धि कथा सुहेतु से।
एक बार शिव के सँग आते,
देखा रघुकुल - मणि को जाते।
हुआ मोह, हर - कहा न माना,
मोह किया सीता का बाना।

छन्द—सीता - परिच्छद किया, इस अपराध शङ्कर को खली,
हर - विरह चलकर दक्ष के गृह - यज्ञ, योगानल जलीं।
अब गृह तुम्हारे जन्म, निज पति के लिए यह तय किया,
संशय तजो यह जानकर, गिरिजा सदा शङ्कर - प्रिया।

दो.-- सुनकर नारद के वचन सबका मिटा विषाद,
छन में व्यापा सभी पुर घर - घर यह सम्वाद।

चौ.—तब मेना - हिमगिरि आनन्दे,
फिर - फिर गिरिजा के पद बन्दे।
नारी - नर बालक गण आये,
नगर - लोग फिर - फिर हर्षाये।
बजे नगर में घर - घर मङ्गल,
सजे सभी ने हाटक - घट कल।
बहु प्रकार जिवनार बनायी,
सूपकारता इति पर आयी।
वह जिवनार न गयी बखानी,
बसती हैं गृह आप भवानी।

सादर बोले सकल बराती,
विष्णु - विरिञ्चि देव सब जाती।
विविध - पात, जेंने बैठे जन,
लगे परसने निपुण विप्रगण।
सुर जेंते हैं, महिलाओं ने
जाना, चोंच मढ़ायी सोने।

छन्द—गाली मधुर स्वर दे रही हैं व्यङ्ग बचन सुना रहीं,
जें रहे हैं सुर अति - विलम्ब, विनोद उन्हें चुपा रहीं।
जो स्वाद - सुख जेंते हुआ कोड़ियों मुँह न कहा गया,
अचवा दिये ताम्बूल, गवने वास, जिसका जो रहा।

दो.—मुनियों ने हिमराज को सुघर सुनायी लग्न,
लोग बुलाये, ब्याह में हुए सभी जन मग्न।

चौ.—बुला लिये सादर जितने सुर,
आसन दिये यथोचित उर, पुर।
वेदी वेद - विधान सँवारी,
सुभग सुमङ्गल गायें नारी।
सिंहासन अति दिव्य सुहाया,
कह न जाय यों सुढर बनाया।
बैठे शिव विप्रों को झुककर,
हृदय सुमरकर श्रीवर रघुवर।
फिर मुनियों ने उमा बुलायी,
सजकर साथ सखी ले आयी।
रूप देखते सब सुर मोहे,
बरने कवि जग की छवि छोहे।
जगदम्बिका जानकर वामा,
सर सबने पृथ्वी पर थामा।
सुन्दरता - मर्याद भवानी,
कोटि वदन भी अकथन वाणी।

छन्द.—कोटियों - मुख - कहते न आयी जगन्मयि - शोभा महा,
कहती दबीं शारदा, श्रुति, सुर, मन्दमतिजन की कहा।
छविखान गवनी भवानी मृदु, मध्य - मण्डप शिव जहाँ,
देखे न, अति - सङ्कोच, पति-पद-कमल मन - मधुकर वहाँ।

बृ. दो.—गणपति - गौरी को यथा अनुशासन पूजा प्रथम;
कोई संशय मत करे सुर अनादि महिमा अगम।

चौ.—यों विवाह की विधि गायी हैं,
मुनियों ने जो करवाई है।

गहकर गिरि ने कुश, कन्याकर,
हर को अर्पित किया मन्त्र पर।
पाणि - ग्रहण जब किया उमा का,
हिली सुरों की हर्षित शाखा।
वेद - मन्त्र मुनि उच्चरते हैं,
जय जय जय सुरगण करते हैं।
बजते हैं बाजे विधि - विधि के,
सुमन - वृष्टि नभ से, गुण-निधि से।
यह हर - गिरिजा का विवाह है,
सकल भुवन पूरा उछाह है।
दासी - दास - तुरग - रथ - वाहन-
वसन - वस्तु - मणि-धेनु सुभावन।
अन्न - कनक - भोजन यानों पर,
दिया दहेज, नहीं मानो पर।

छन्द.—देकर दहेज अनेक विधि कर जोड़कर हिम ने कहा,
हैं पूर्ण शङ्कर, और क्या दूं, चरण कर गहकर रहा।
शिव कृपा - सागर ने श्वशुर - परितोष सब विधि से किया
फिर गहे मेना ने चरण, उर प्रेम - पूरण वर लिया।

दो.—उमा नाथ प्राणों - अधिक; गृह किङ्करी - प्रदान,
छमिएगा अपराध सब; यही हमारा मान।

चौ.—पैरों - पड़ी सास समझायी !
शिव ने, वे गवनीं, गति आयी।
जननी गोद उमा बैठाकर,
शिक्षा देती रहीं मधुर स्वर।
शङ्कर की पद - पूजा करना,
इसी धर्म अपना घर भरना।
लोचन - जल भरकर बोलीं फिर,
गिरिजा को लेकर उर अस्थिर,
क्यों विधि ने जग नारी सरजी,
पराधीन, सपने सुख - बरजी ?
हुई प्रेम से व्याकुल माता,
धैर्य नहीं अन्तर में आता।
फिर - फिर मिलती हैं पैरों पड़,
सबके अतिशय प्रेम गया गड़।
महिलाएँ भी मिली - मिलायीं,
गिरिजा माँ के उर लिपटायीं।

छन्द.—जननी बहुर मिलकर चलीं, आसीस दी सबने सुखद,
फिर-फिर बिलोका मातृ-तनु, सखियाँ चलीं लेकर सहज।
याचक - सकल - सन्तोषकर शङ्कर उमा को ले चले,
सब अमर हरषे, सुमन बरषे; बजे नभ बाजे भले।

दो.—चले सङ्ग हिमवन्त तब पहुँचाने अति - हेतु;
विविध भाँति परितोषकर विदा किया वृषकेतु।

चौ.—तुरत भवन आये गिरिराजा,
सरित - शैल - सर सब-घर-साजा।
आदर - दान - विनय बहु - मानों,
सबको बिदा किया सुख - खानों।
जब शङ्कर कैलास पधारे,
सुर - सब ने निज लोक सँवारे।
जगज्जनक - जननी हर - गिरिजा,
उनका तभी सिंगार न सिरजा।
भोग - विलास विविध करते हैं,
साथ गणों के घर बरते हैं।
हर - गिरिजा - विहार नित नूतन,
इस विधि बीते विपुलकाल - क्षण।
जना कुमार षटवदन प्रकथित,
तारक-असुर-समर-मण्डल जित।
निगमागम में हितकर माना,
षण्मुख जन्म सभी ने जाना।

छन्द.—जाना षड़ानन - जन्म, कर्म, प्रताप, औ' पुरुषार्थ भी,
इस हेतु श्रीवृषकेतु - सुत की कथा संक्षेपों कही।
यह उमा - शम्भु - विवाह गाते हैं समझकर नर जहाँ,
कल्याण, कार्य, निबाह, मङ्गल सदा होते हैं वहाँ।

दो.—चरित - सिन्धु गिरिजा - रमण, नहीं वेद में पार;
बरने कैसे अन्ध जन, अति - मतिमन्द गँवार।

चौ.—शम्भु - चरित यह सरस सुहाया,
भरद्वाज ने अति सुख पाया।
बहुत बढ़ी लालसा कथा पर,
रोयें खड़े हुए दृग निर्झर।
प्रेम - विवश आयी न बात मुख,
हर्षित मुनि-गण ज्ञान दशा-सुख।
अहो, जन्म तव, जन्म, मुनीश्वर,
तुमको प्राणाधिक गौरीवर।

शिव-पद-कमल नहीं जिनकी रति;
नहीं स्वप्न में उनके रघुपति।
निश्छल स्नेह शिवा-पति-पद-तल;
राम-भक्त का यह लक्षण, बल।
शिव-सम कौन राम-व्रत - धारी।
सती - सदृश त्यागी वर - नारी।
पण से जिसने भक्ति दृढ़ाई,
शिव - सम कौन राम को भाई ?

दो.—पहले कहकर शिव - चरित, बूझा मर्म, सुतार,
तुम शुचि सेवक राम के, कोई नहीं विकार।

चौ.—कैसा गुण है और शील है,
कहिए, रघुपति - पद सलील है।
आ जाने पर यहाँ तुम्हारे,
नभ में सुख के उगे सितारे।
राम-चरित अति, अमित, मुनीश्वर;
चुप रहते हैं कोटि अहीश्वर।
जैसी सुनी, यहाँ कहता हूँ,
हरि-हर-स्मरण-शरण रहता हूँ।
दयिता - दारु - कारु के स्वामी,
राम सूत्रधर अन्तर्यामी।
जन जानकर कृपा करते हैं,
वाणी अजर अमर भरते हैं।
उन्हीं कृपालु राम को प्रणमूं,
अविशदविशद विषय, स्थल बरनूं।
परमरम्य कैलास गिरीश्वर,
शङ्कर-उमा-वास; सुनिभृत घर।

दो.—सिद्ध तपोधन, योगिजन, सुर, किन्नर, मुनि, वृन्द;
बसते हैं सुकृती सभी सेते हैं सुखकन्द।

चौ.—हरि-हर-विमुख, गयीं सुधर्म-रति,
उनकी स्वप्न नहीं उस स्थल गति।
उस गिरि पर वट-विटप महाच्छद,
नित्य-नवीन, सुखद - छायाप्रद;
त्रिविध समीर, तुहिन-मुकुटोज्वल
नव, नव-तर कर, कल-सर-शतदल।
एक बार हर गये विटप - तल
तरु विलोककर उमड़ा मङ्गल।

निज कर बाघाम्बर ला-डाला;
साधन ने हर को बैठाला।
कुन्द - इन्दु - दर-गौर देह है;
भुज प्रलम्ब; मुनि - नयन-स्नेह है।
तरुण-अरुण - अम्बुज-सम पदयुग,
भक्त-हृदय-तमहर नख-मणि-सुग।
भुजग - भूति - भूषण त्रिपुरेश्वर,
आनन शारद - चन्द्र-विभाधर।
दो.— जटा-मुकुट सुर-सरित सिर, लोचन नलिन विशाल।
नीलकण्ठ लावण्य-निधि, सोह बाल-विधु भाल।
चौ.—बैठे सोह काम - रिपु कैसे,
धरे शरीर शान्त - रस जैसे।
गिरिजा शुभ अवसर सँजोहकर
गयीं जहाँ बैठे थे शङ्कर।
प्रिया जानकर किया समादर,
दिया शुभासन वाम-भाग वर।
बैठीं शिव - समीप हरषाकर,
पूर्व-जन्म-स्मृति चढ़ी चित्त पर।
पति - हिय-हेतु अधिक विचारकर
हँसकर बोलीं उमा मधुरतर।
कथा विश्व - मानव - हितकारी
पूछ रही है शैल - कुमारी।
विश्व - नाथ, हे त्रिपुर - प्रहारी,
त्रिभुवन महिमा विदित तुम्हारी।
सकल चराचर, देव, नाग, नर,
सभी चरण - पङ्कज - सेवापर।
दो.—प्रभु समर्थ, सर्वज्ञ, शिव, सकल-कला-गुण-धाम,
योग-ज्ञान - वैराग्य-निधि, प्रणत-कल्प-तरु नाम।
चौ.—यदि, सुख-राशि, सुमुख दासी पर,
अपनाया दृढ़तर गहकर कर,
तो मेरा अज्ञान हरो, प्रभु,
कहकर कथा विधान-मान-बहु।
सुरतरु - तल जो जन रहता है,
वह दारिद्र्य-दुःख सहता है?
शशि-भूषण, यह हृदय सोचकर,
करो सुखी मति-भ्रम बिमोचकर।

जो मुनिजन परमार्थ - वाद पर,
कहते हैं, अनादि हरि दुस्तर।
शेष, शारदा, श्रुति-पुराण - गण,
करते हैं रघुपति-गुण- कीर्तन।
तुम भी राम - राम रातों दिन
जपते हो सिर पर रख कर तिन;
राम अवध - नृप के हैं सुत वे,
या निर्गुण, निर्मद, अच्युत वे ?

दो.—नृप-सुत कैसे ब्रह्म हैं, नारी - विरह - विभोर,
भ्रमित चरित से खुल गया मेरी मति का छोर।

चौ.—यदि अनीह, व्यापक, विभु, सत्तम,
कहो बुझाकर मुझे मनोरम।
अज्ञ जानकर करो न उर रिस,
मिटे मोह जिससे हो वह दिश।
जो महिमा वन मुझे दिखायी,
अति-भय-विकल न तुम्हें सुनायी।
हुआ मलिन मन, बोध न आया,
मैंने भली - भाँति फल पाया।
अब भी कुछ संशय मेरे मन,
दूर करो सत्वर जीवन - धन।
प्रभु, वहु भाँति प्रबोधा तुमने,
उत्तम जीवन शोधा तुमने।
तब का ऐसा मोह नहीं मन,
राम - कथा पर रुचि आजीवन।
कहो रुचिर रघुपति - गुण - गाथा,
गौरी ने नाया पद माथा।

बृ. दो.—बन्दूँ पदयुग नत -नयन, विनय करूँ कर जोड़कर,
बरनो रघुवर-विशद-यश श्रुति-सिद्धान्त निचोड़कर।

चौ.—योषित को अधिकार नहीं है,
दासी जो मन - वचन रही है;
साधु तत्व, पर, नहीं दुराते,
जब उत्तम अधिकारी पाते।
आर्ति बहुत, पूछूं सुर - नायक,
रघुपति-कथा कहो सुख - दायक।
कारण कौन, कहो, व्रतचारी,
निर्गुण ब्रह्म सगुण - वपुधारी ?

कहिए, ज्यों रामावतार है,
बाल - चरित फिर जो उदार है;
फिर जैसे जानकी बिबाही,
राज तजा, कुल - कान निबाही;
वन जो चरित अपार किये हैं,
रावण - सुरगण मरे जिये हैं;
बैठे ज्यों सलील आसन पर
कहो सभी सुखशील गुणाकर।

दोहा—पुनः कहो, करुणायतन, अति-मानव-कृति राम;
प्रजा-सहित कैसे गये, अपने सुखमय धाम।

चौ.—फिर प्रभु, कहो तत्व समझाकर
जिस विज्ञान मग्न ज्ञानीवर।
भक्ति ज्ञान - विज्ञान - विरागों,
कहो समस्त सुचारु विभागों।
राम - चरित्र अनेक और हैं,
कहो, विशेष - विवेक - पौर हैं।
जो, तुमसे पूछते, रहा है,
समझाओ उसको भी, क्या है।
तुम त्रिभुवन के गुरु, कहते हैं,
पामर इतर जीव बहते हैं।
प्रश्न उमा के सहज सुहाये,
छल-विहीन, शिव के मन भाये।
हर - उर राम - चरित सब आये,
प्रेम - पुलक लोचन - जल छाये।
श्री - रघुनाथ - रूप दृग आया,
परमानन्द, अमित सुख पाया।

बृ. दो.—मग्न ध्यान-रस दण्डयुग, फिर मन को बाहर किया।
रघुपति-चरित महेश ने कहने का अवसर लिया।

चौ.—सत्य झूठ ही है अनजाने,
रज्जु भुजङ्ग विना पहचाने।
जिसके ज्ञान विश्व खोता है,
स्वप्न जागरण भी होता है।
बन्दूँ बाल - रूप वे रघुवर,
सुलभ सिद्धि, जपते, दिशि-दिशिपर।
मङ्गल - भवन अमङ्गलहारी
बिहरें दशरथ - अजिर - विहारी।

त्रिपुरारि ने राम को झुककर
कहा बिहसकर सुधा-मधुर-स्वर;
धन्य, धन्य, गिरिराज-कुमारी,
नहीं अन्य कोई उपकारी;
रघुपति - कथा - प्रसङ्ग पूछकर
जगपावन गङ्गा लायीं हर।
रघुपति - चरण तुम्हारी रति है,
जग-हित-हेतु प्रश्न की गति है।

बृ. दो.—राम-कृपा से स्वप्न में, शोक, मोह, सन्देह, भ्रम,
मेरे जान नहीं रहा, चित्त तुम्हारा विमलतम।

चौ.—फिर भी वैसी ही शङ्का की,
कहते सुनते जगहितकारी।
जिसने नहीं प्रसङ्ग सुना है,
श्रवण-रन्ध्र अहि-भवन गुना है।
आँखों - देखा नहीं साधुजन,
लोचन मोर - पङ्ख आलेखन।
वे सिर कटु तूम्बीसम तोले,
नमकर हरि-गुरु-पद-रज धो ले।
जो हरि-भक्ति हृदय न ला सके,
जीते मुर्दे होकर दबके।
जो जन गाते नहीं राम - गुण,
दादुर - जीभ-समान जीभ, सुन।
कुलिश-कठोर निठुर वह छाती,
सुनकर चरित नहीं हरषाती।
गिरिजा, सुनो राम की लीला,
सुर - हित, दनुज-विमोहन-शीला।

दो.—राम-कथा सुर - धेनु-सम, सेते सब-दुख-हान,
सत्समाज सुर-लोक है, कौन न लाये कान।

चौ.—राम-कथा सुन्दर-कर-ताली,
संशय - विहग उड़ानेवाली।
राम-कथा कलि-विटप-कुठारी,
सादर सुन, गिरिराज-कुमारी।
राम-नाम-गुण-चरित सुहाये,
जन्म-कर्म बहु श्रुति ने गाये।
यथा राम भगवान असंशय,
तथा कथा नाना-गुण-सञ्चय।

फिर भी जैसी श्रुत, निज मति से
कथा कहूँगा संयत गति से।
उमा प्रश्न तव सहज सुहाया,
सुखद, साधु-सम्मत, अति भाया।
एक बात मुझको न सुहायी,
यद्यपि मोह-प्रमाद सुनायी।
यह जो कहा, राम कोई पर,
श्रुति गुण गायें, ध्यायें मुनिवर;
दो.—कहें सुनें यों अधम नर ग्रसे विमोह-पिशाच,
पाखण्डी हरि-पद-विमुख जाने झूठ-न-साँच।
चौ.—अज्ञ, अकोविद, अन्ध, अभागी,
काई विषय-मुकुर-मन लागी।
लम्पट, कपटी, कुटिल, विशेषी,
सन्त-सभा न स्वप्न में देखी।
वेद-असङ्गत वाणी कहते,
हानि लाभ को समझे रहते।
मुकुर-मलिन-मन, नयन-हीन हैं
राम-रूप के लिए, दीन हैं;
जिनका अगुण-सगुण विवेक हत,
जल्पें, कल्पें वच अनेक-शत।
हरि-माया-वश भ्रमें विकुण्ठित,
कुछ भी कहें, उन्हें वह अघटित।
वातुल भूत-विवश मतवाले,
नहीं बोलते वचन सँभाले।
महा-मोद-मद-पान किया है,
उनके कहे न कान दिया है।
दो.—बसें हृदय दनुजारि, तज संशय, भज राम-पद,
सुन गिरि-राज-कुमारि, भ्रम-तम-रवि-कर वचन मम।
चौ.—अगुण-सगुण में भेद न पाया,
श्रुति पुराण मुनियों ने गाया।
अगुण, अरूप, अलख, अज, जोहा,
भक्त-प्रेम-वश गुणमय सोहा।
जो गुण-रहित सगुण वह कैसे,
जल-हिम-उपल, नहीं बल जैसे।
तिमिर-पतंग नाम जिसका है,
मोह-प्रसंग नहीं उसका है।

राम सच्चिदानन्द दिनेश्वर,
मोह-निशा-लव नहीं वहाँ पर।
सहज प्रकाश-रूप जगदीश्वर,
वे केवल विज्ञान - प्रभाकर।
ज्ञानाज्ञान विषाद - हर्ष जो,
धर्म-जीव सम्मान - मर्ष हो,
राम ब्रह्म व्यापक; जग जानें,
परमानन्द, परेश; बखाने।
दो.—पुरुष प्रसिद्ध, प्रकाश-निधि, प्रकट-परावर नाथ,
रघुकुल-मणि मेरे सभी, कहकर नाया माथ।
चौ.—निज भ्रम कहेंगे न अज्ञानी,
प्रभु पर मोह धरेंगे प्राणी।
यथा गगन-घन-पटल देखकर,
झाँपा भानु, कहें अविकच नर।
चितये लोचन अङ्गुलि लाये,
प्रगट युगल शशि उसके भाये।
मोह राम-विषयक ऐसा है,
नभ-तम - धूल - धूम जैसा है।
विषय, करण, सुर, गण-समेत जो,
सकल एक से इक सूचित हो।
सबका परम-प्रकाशक जो है,
राम अनादि अवधपति वो है।
जगत्प्रकाश्य प्रकाशक रघुवर,
मायाधीश, ज्ञान-गुण ईश्वर।
इसी सत्यता से जड़ माया
विश्व-भास है, मोह सुहाया।
बृ. दो.—रजत-सीप में भानु-सम वारि विभासित है यथा,
यद्यपि मृषा त्रिकाल वह, टला नहीं भ्रम सर्वथा।
चौ.—यों हरि से आश्रित है यह जग,
यद्यपि है असत्य दुःखप्रद।
जैसे सपने सिर काटे, तो
विना जगे वह दुख दूर न हो,
जिनकी कृपा मिटे ऐसा भ्रम,
गिरिजा, वही कृपालु मनोरम।
आदि-न-अन्त किसी ने पाया,
मति-अनुमान निगम ने गाया।

विना-चरण-गति, विना-कान-श्रुति,
कर्म विना-कर करता है द्रुति।
आनन-रहित सकल-रस-भोगी,
वक्ता वाणी विना, सुयोगी।
स्पर्श विना-तन, दर्शन अनयन,
विना घ्राण के वास-विशेषण।
यों सब भाँति अलौकिक करनी,
महिमा उनकी गयी न बरनी।
दो.—जिसको गायें वेद-बुध धरें महामुनि ध्यान,
दशरथ-सुत वे भक्त-हित कोशल-पति भगवान।
चौ.—काशी मरते जीव देखकर,
जिस प्रभाव मैं शोक रहा हर।
प्रभु हैं वही चराचर-स्वामी,
रघुवर, सब उर अन्तर्यामी।
जिनका नाम, विवश जब, लेकर
भव-वारिधि गोपद तरते नर।
वही राम परमार्थ भवानी,
वहाँ विकार नहीं, हित-वाणी।
जो नर संशय उर लाते हैं,
ज्ञान-धर्म कुल दुर जाते हैं।
शिव की स्मृति भव-भञ्जन-वचना,
मिटी अमित कुतर्क की रचना,
रघुपति-प्रीति नहीं उर रीती,
दारुण असम्भावना बीती।
दो.—फिर-फिर प्रभु के पद-कमल गहकर पङ्कज-पाणि,
बोलीं गिरिजा वचन-वर स्नेह-सुरस अग्लानि॥
चौ.—सुनकर शशिकर गिरा तुम्हारी,
मिटा मोह शरदातप भारी।
कुल संशय मेटकर बड़े हो,
राम-रूप तुम जान पड़े हो।
नाथ-कृपा मैं गत-विषाद हूँ,
सुखी और पद-तल प्रसाद हूँ।
अब मुझको किङ्करी जानकर,
जब भी जड़ नारी, त्रिपुरेश्वर,
पहले जो पूछा, वह कहिए,
मुझ पर चिर-प्रसन्न-उर रहिए।

राम ब्रह्म चिन्मय अविनाशी,
सर्व-रहित, सब-उर-पुर-वासी
नाथ, लिया नर-तनु किस कारण,
कहिए समझाकर भववारण।
वचन उमा के सुनकर सविनय,
राम-कथा पर प्रीति पराशय,

दो.—हिय हरषे कामारि तब, शङ्कर सहज सुजान,
बहुविध शंसा की, पुनः बोले कृपा-निधान।

सो.—सुन शुभ कथा भवानि, राम-चरित-मानस विमल,
कही काक ने, ज्ञानि सुनी विहगपति गरुड़ ने।
वह सम्वाद उदार जैसा है, कुल कहूँगा,
सुखद राम-अवतार, चरित परम-सुन्दर अनघ।
हरि-गुण नाम अपार, कथा-रूप अगणित अमित,
मैं निज-मति-अनुसार कहूँ, उमा, सादर सुनो।

०००

टीका

वर्ण, अर्थ, रस, छन्द, मङ्गल आदि के कर्ता वाणी और विनायक की मैं वन्दना करता हूँ ॥ 1 ॥

श्रद्धा और विश्वास के स्वरूप भवानी और शङ्कर की मैं वन्दना करता हूँ जिनके विना सिद्ध अपने भीतर के ईश्वर को नहीं देखते ॥ 2 ॥

बोधमय नित्य शङ्कररूप गुरु की मैं वन्दना करता हूँ जिनके आश्रित रहकर चन्द्र वक्र होकर भी सर्वत्र वन्दित होता है ॥ 3 ॥

सीता और रामचन्द्रजी के गुणग्राम के पुण्य अरण्य में विहार करनेवाले विशुद्ध-विज्ञान कवीश्वर और कपीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ ॥ 4 ॥

उद्भव स्थिति और संहार की करनेवाली, क्लेश की हरनेवाली, सब तरह की बड़ाई की देनेवाली, राम की वल्लभा सीता को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ 5 ॥

जिनकी माया से सारा संसार, ब्रह्मा आदि देव और असुर वश हैं, जिनकी सत्ता से रस्सी में सांप के भ्रम की तरह झूठ होकर भी कुल चमचमाता रहता है, जिनके पदों की एक ही रज भव-वारिधि से पार करती है उन अशेष कारणों से परे, रामनाम के ईश, हरि को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ 6 ॥

जो नाना पुराण, वेद और शास्त्रों में वर्णित है, जो रामायण में या किसी दूसरी जगह कहा गया है, उसको अपने अन्तःकरण के सुख के लिए, रघुनाथ-गाथा से, अति सुन्दर भाषा निबन्ध में, तुलसीदास सज्जित करता है ।। 7 ।।

पृष्ठ 227

1. स्मरण-वरण—स्मरण से सादर आवाहन (करने पर, पुकारने पर)।
2. गण-नायक—गणों, समूहों, वृत्तों, चकों, जातियों के ईश, चालक, स्वामी।
3. करिवर-वदन—हाथी के मुखवाले।
4. समृद्धि—बाढ़, सम्पन्नता।
5. मूक—गूंगे।
6. वाचाल—बोलनेवाले, वाग्मी।
7. पङ्ग —लँगड़े-लूले।
8. दयाल—दया की आड़वाले।
9. द्रवें—द्रवीभूत हों, सिक्त हों, गीले हों।
10. सकल-कलि-मल-दहन—कुल कलमषों, पापों को जलानेवाले।
11. नील-सरोरुह-श्याम—नीले कमल की तरह साँवले।
12. तरुण-अरुण-वारिज-नयन—नये लाल कमल की तरह की आँखोंवाले।
13. सदा-क्षीर-सागर-शयन—हमेशा क्षीर-समुद्र पर सोनेवाले।
14. कुन्द-इन्दु-सम देह—कुन्द पुष्प और चन्द्रमा के जैसे (शुभ्र) देहवाले।
15. उमा-रमण—उमा से विहार करनेवाले।
16. करुणा-अयन—करुणा, दया के आगार, गृह।
17. किरणोदयन—किरणों की तरह उदित होनेवाले।
18. गुरु-पद-कञ्ज—गुरु के पद-कमल।
19. तम-पुञ्ज—अन्धकार-समूह।
20. वच—वचन, बातें।
21. रवि-कर—सूर्य की किरणें।
22. निकर—समूह।

पृष्ठ 228

1. अमिय-मूल—अमृत की जड़।
2. सित—श्वेत।
3. सकल-रोग-परिवार-भारहर—कुल रोगों की दाब दूर करनेवाले, कुल रोग हटानेवाले।
4. सुकृत-शम्भु-तनु-भूति—शुभ-कार्य-रूपी शिव के शरीर की राख।

5. मञ्जुल-मङ्गल-मोद-प्रजननी---कुशल और आनन्द की देनेवाली पवित्र माता।

6. जन-मन-मञ्जु-मुकुर-मल-हरणा—मनुष्य के मन के सुन्दर शीशे की कालिख को हरनेवाली।

7. मणि-गण-ज्योतिःस्फुर—निकलती हुई मणियों की ज्योति की तरह।

8. मोहदलन—मन की जड़ता को नष्ट करनेवाला।

9. राम-चरित-मणि-माणिक-खनि-धन—रामजी के चरित्ररूपी मणि और माणिक्य आदि की खान के धन।

10. प्रकट-रूप—आँख खोलकर।

11. यथा सुअञ्जन आँजकर साधक-सिद्ध-सुजान,
कौतुक देखें शैल-वन-भूतल भूरि-निधान॥
—जैसे साधक, सिद्ध और ज्ञानी आँखों में सत्य का अंजन लगाकर पहाड़, वन और पृथ्वी आदि को कौतुकरूप अर्थात् असत्य, मायामय देखते हैं, वैसे ही—

12. गुरु-पद-रज मृदु-मञ्जुल अञ्जन,
नयन-अमिय दृग-दोष-विभञ्जन॥
—गुरु के चरणों की धूल मधुर-कोमल अंजन है, आँखों का अमृत---आँखों को ठण्ढा और दृगों के दोषों को दूर करनेवाली है।

13. जङ्गम—चलता-फिरता।

14. शय—आशय, स्थल।

15. ब्राह्मी—ब्रह्मवाली, बड़ी।

16. सारा—श्रेष्ठा, उत्तमा।

17. विधि-निषेध—नियम और निवारण।

पृष्ठ 229

1. गोई—छिपी।

2. वाल्मीकि, नारद, घटयोनी।
निज-निज मुखों कही निज होनी॥
—आदि-कवि वाल्मीकि जिन्होंने संस्कृत में रामायण लिखी है जो भारत का पहला महाकाव्य कही जाती है, पहले रत्नाकर नाम से डाकू थे। भरद्वाज उनका डकैती का चेला था, अनुचर था। एक दिन सप्तर्षि उस रास्ते से जा रहे थे जो पहाड़ी की तलहटी से गया था। सबसे पहले चलनेवाले को रत्नाकर ने पकड़ लिया। उस साधु ने कहा, "मैं निःस्व हूँ। मुझको छोड़ दो। मैं तुझको एक भेद बताता हूँ। तुम जो साधुओं को भी सताते हो दो पैसे के लिए, अपने घर चलकर पूछो, तुम्हारा खानेवाले तुम्हारे पाप के भी भागी हैं या नहीं।" रत्नाकर ने वैसा ही किया।

उसके बाप, माँ और स्त्री ने पाप लेना स्वीकार न किया। उसको ज्ञान हुआ। घर छोड़कर चल दिया और सिद्ध होकर पहला संस्कृत का कवि हुआ, वाल्मीकि नाम पड़ा। रामायण लिखी।

नारद की माँ दासी थी। चौका टहल करके जीती थीं। विधवा थी। एक ऋषि से उसके बालक पैदा हुआ। बालक बालक ही था जब उसकी माता को काले साँप ने डँसा। बालक अकेला रह गया। सेवा करते, हरि-गुण गाते वह सिद्ध हुआ। बाद को नारद कहलाया।

कुम्भज घट से पैदा हुए, इसीलिए 'घटयोनि' कहा है।

3. सुसङ्ग-भाव से—सत्सङ्ग से।
4. सिद्धि-फल-वीरुध—सिद्धि के फल की लता।
5. फणि-मणि के जैसे गुणानुसर – साँप की मणि की तरह गुण को लिये रहते हैं; वह यह कि मणि को साँप का जहर नहीं व्यापता।

पृष्ठ 230

1. परहित हानि लाभ जिनके है—दूसरे के हित की हानि जिनके (लिए) लाभ है।
2. हरि-हर-यश-राकेश – विष्णु और शङ्कर के यश का पूर्ण चन्द्र।
3. सहस-भुज—सहस्रबाहु, एक राजा जो नर्मदा के किनारे राज्य करता था और उत्पाती था, जिसके हजार हाथ थे।
4. जो गवाह लेकर पर-दूषण
देखें पर-हित-घृत मक्खीमन—
—जो साक्षी लेकर दूसरे का कसूर देखते हैं, दूसरे की भलाई के घी पर जिसका मन मक्खी की तरह पड़ता है।
5. रोष-महिषासुर—जिनका क्रोध महिषासुर के समान है। महिषासुर को दुर्गा ने मारा था।
6. अघ-अवगुण-धन-धनिक-हुए मुर—
पाप और दुर्गुणों के धन से धनी होनेवाले मुर, (जिसकी दुश्मनी से विष्णु को मुरारि कहते हैं।)
7. उदित केतु हैं अहित के लिए—
हानि के लिए केतु की तरह उगे हुए हैं (सागर-मन्थन के बाद मोहिनी का रूप धारण करके विष्णु ने असुरों को शराब और देवताओं को अमृत बाँटा था। एक असुर राज लेने के लिए देवताओं के बीच आकर बैठा और अमृत पी लिया। भेद खुलने पर विष्णु ने चक्र से उसका सिर काटा; मगर चूँकि वह अमर हो गया था, इसलिए आज भी है। उसका सिर है राहु और धड़ है केतु। आसुर स्वभाव के कारण आज भी उसके दोनों रूप दुःख देनेवाले हैं।

8. कुम्भकर्ण जैसे शयित, जिये—कुम्भकर्ण की तरह सोये तो हम जिये, या वे कुम्भकर्ण की तरह सोकर जीते हैं। कुम्भकर्ण रावण का छोटा भाई था। उसने तपस्या की। ब्रह्मा वर देने के लिए आये। देवता विकल हुए। सरस्वती देवी से कहा, माता, एक तो यह, ऐसे ही अजित है, इतना पराक्रमी, फिर अगर वर वैसा ही मिला तो हम कहीं के न रहे। सरस्वती देवी ने अभय दिया। जब ब्रह्मा वर देने के लिए गये तब सरस्वती देवी अविद्या के रूप से कुम्भकर्ण में प्रविष्ट हो गयीं। कुम्भकर्ण ने वर माँगा, हम छः महीने सोयें और एक दिन जगें। ब्रह्मा ने तथास्तु कहा।

9. अयुत—दस हजार।

10. शक्र—इन्द्र।

11. सुरानीक—सुरों, देवताओं की मण्डली, सेना, सुरा, वारुणी, **शराब की मण्डली**, मीन, मांस, मुद्रा, मैथुन, कामिनी आदि।

12. सहस्राक्ष परदोष-लक्ष्य-क्रिय—हजार आँखों से दूसरे के दोष देखने में क्रियाशील हैं।

13. उदासीन—उचटे हुए।

14. अरि-मित्र से जलते हैं खल-रीति—दोस्त और दुश्मन दोनों से जलते रहते हैं, यही खलों की रीति है।

15. भोर—कमी, त्रुटि।

16. पायस—खीर।

17. निरामिष—मांस न खानेवाले, शाकाहारी।

18. वायस—कौए।

19. जीवन—प्राण, पानी।

20. जलज-जोंक गुण बिलगाते हैं—कमल और जोंक अपने अलग-अलग गुण बतलाते हैं (कमल सुगन्ध देता है, जोंक खून चूसती है) यद्यपि एक साथ पैदा होते हैं (एक ही पानी में)।

पृष्ठ 231

1. कर्म हरित—जिसके कर्म हर गये हैं—कर्मनाशा—जो कर्मों का नाश कर देती है।

2. जो भायी, रुचि; जागी, सोयी—जगी हो या सोयी हुई, जो पसन्द आयी वही रुचि है।

3. गहे अगुण खल, सज्जन गुणगण—दुर्गुण ग्रहण करने पर खल है, गुणगण ग्रहण करने पर सज्जन।

4. अवगाहन—नहाना।

5. उभय अपार-उदधि-अवगाहन—दोनों के लिए कहना चाहिए कि पता लगाने के लिए अपार और अथाह सागर में डुबकी लगाना है।

6. पोच—नीच।
7. श्रुति—वेद।
8. माहुर—विष।
9. रङ्क—कङ्गाल, निर्धन।
10. सुरसरि—'नाशों'—गङ्गा और कर्मनाशा से।
11. महि-देव—ब्राह्मण।
12. गवाशों—गो-मांस खानेवालों से।
13. निगमागम—वेदशास्त्र।
14. पय—दूध।
15. राता—रमा, लगा।
16. कर्म-वरिआई—कर्म की जबरदस्ती।

पृष्ठ 232

1. खल करते हैं भला सङ्ग-उर—दुष्ट जन सङ्ग-उर हृदय जुड़ने पर, साथ पाकर, भला करते हैं।
2. अभंगुर—न टूटनेवाला।
3. विश्व-वंचक—दुनिया के ठग।
4. लोक-वेद में विदित डाभ है—अर्थात् डाभ से कुक्षासन बना सकते हैं, यह उससे निकाला भला काम है, और दूसरा उसको चुभा दे सकते हैं, यह बुरा। भले-बुरे हाथों के फेर।
5. शुक-शारी—तोता, मैना।
6. मञ्जु-मसि-शिख—स्याही की सुन्दर शिखा,—एक-एक अक्षर।
7. अनिल-अनल-सङ्घात—हवा और आग के फटकारे से।
8. भेषज—दवा, वनस्पति।
9. राम-गुण-गाथ—राम के गुणों की गाथा हैं जो, वे।
10. दनुज—दानव, दनु के बेटे।
11. किन्नर—किम्पुरुष।
12. तिमिरचर—निशाचर।
13. आकर—खान, प्रकार।
14. किङ्कर-तल—साधारण सेवक।

पृष्ठ 233

1. कूर—अहृदय, असंवेदन।
2. हित खलहास कि काक रहा है,
कल कण्ठ को कठोर कहा है।
—दुष्टों की मसखरी से हित है जो हंस की जगह कहते हैं काक, या

जिन्होंने मधुर स्वर को तीव्र और कर्कश कहा है।

3. धी—बुद्धि
4. कुतरकी—बुरे तर्क, वाग्जाल में पड़ी।
5. ऋध--स, ऋ ग, म, प, ध, नि—सातों स्वर।

पृष्ठ 234

1. अमङ्गल के हर—अहित के नाश करनेवाले।
2. विधु-वदना—चन्द्रमुखी।
3. अवसन—निर्वस्त्र।
4. अनवसित—अशेष।
5. अगुरु—अगर-चन्दन।
6. भदेस—भद्दा, मन्द।
7. पाथ—जल।
8. दारु—काठ।
9. मलय—सुगन्धित हवा।
10. सुरभि—गाय।
11. मणि-माणिक-मुक्ता-छवि जैसी, अहि-गिरि-गज-शिर रही न वैसी। --जैसी मणि, माणिक और मुक्ता की छबि है, साँप, पहाड़ और हाथी के सिर पर वैसी न रही। जहाँ उत्पत्ति है वहाँ शोभा नहीं।

पृष्ठ 235

1. नृप-किरीट—राजा का मुकुट।
2. ली अपनी शोभा अधिकाकर—अपनी छबि बढ़ाकर ली।
3. छवि-भविता—सौन्दर्यमयी।
4. बिमोचकर—छोड़कर।
5. धन्धक धेरी—एक बोल है जो गाया जाता है स्वर के साथ पुनः पुनः आवृत्ति करते हुए।
6. कवयिता—कवि।

पृष्ठ 236

1. जित—जीती हुई।
2. चरित मायाकर—चरितों की लीला दिखानेवाले।
3. अकल—कलाहीन।
4. सेतु—पुल।
5. पुङ्गव—श्रेष्ठ।
6. निरुपद्रव—विना उत्पात के, शान्त भाव से।

पृष्ठ 237

1. धूति—पवित्रता ।
2. अन्देसा है, है अकाम भी—अन्देसा है, चिन्ता है कि कहना अच्छा नहीं हुआ । इसलिए बात न बनी, मगर साथ ही वह निष्कामता से पूर्ण है ।
3. ठाट—साँचा, पूरा रूप ।
4. विमलयशःसर—निर्मल कीर्ति का अनुसरण करनेवाली ।
5. सखर सुकोमल मञ्जु, दोष-रहित दूषण-सहित—खर (एक-राक्षस) के साथ भी अति कोमल और सुन्दर है और दूषण (यह एक राक्षस है) के साथ होकर भी दोषों से रहित है ।
6. बोहित—नाव, जहाज़।
7. कहते जिनको राम-यश—(यह पाठ ऐसा भी कर सकते हैं)—"कहते रघुवर-विमल यश ।"

पृष्ठ 238

1. दिनदानी—दिन का दान करनेवाले ।
2. निरुपाधि—किसी प्रकार के भूषण से रहित ।
3. शाबर—अभद्र, निरर्थ ।
4. रासभर—आनन्दप्रद ।
5. भूरि-शिव-कृपा-भात—शङ्करजी की अत्यधिक कृपा से चमकती हुई ।
6. निकेतन—गृह, स्थल ।
7. सुचेतन—अधिक ज्ञानवाले ।
8. प्रसाव—कृपा, दया ।
9. हल्या—फैलाने योग्य ।

पृष्ठ 239

1. भास्वर—प्रकाशवान ।
2. वशम्वद—वशीभूत ।
3. केतन—गृह, स्थान ।
4. विमल-पताक-कीर्ति—निर्मल-पताकावाला यश ।
5. सौमित्रि—सुमित्रा के पुत्र, लक्ष्मण।
6. ऋक्ष—भालू ।
7. कीश—बन्दर ।
8. सरोज—कमल ।
9. विज्ञान-विशारद—विज्ञान के पारङ्गत ।

पृष्ठ 240

1. गिरा—वाणी ।
2. वीचि—लहर, तरङ्ग ।
3. कृशानु—आग ।
4. अनागम—अगति, निर्वेद ।
5. गुण-प्रभाव-मति —गुण, प्रभाव और बुद्धि के कारण ।
6. शोधकर—शुद्ध करनेवाले ।
7. शालि—धान ।
8. सरोज-नाभ—ब्रह्मा ।

पृष्ठ 241

1. बिलगी—छूटी ।
2. भक्ति नरीकल करण विभूषण ।
   जगहित हेतु विमल-विधु-पूषण ।।
   —भक्ति रूपी स्त्री को सुन्दर बनानेवाले आभूषण हैं, जग के हित के लिए विमल चन्द्रमा को पालनेवाले, पूषा ।
3. स्वाद-तोष-सम सुगति सुधा के,
   कमठ-शेष - सम धर वसुधा के ।
   —मुक्ति के अमृत लिये स्वाद और तोष जैसे हैं, पृथ्वी को कछुए और शेषनाग की तरह धारण करनेवाले ।
4. जन-मन-मञ्जु-कञ्ज-मधुकर-से, जीभ-यशोमति-हरि-हलधर-से ।
   —भक्तों के मनों के सुन्दर कमलों के भौरों की तरह, जीभ रूपी यशोदा के कृष्ण और बलराम की तरह ।
5. एक छत्र एक मुकुट मणि,
   सब वर्णों पर साज ।
   —एक छत्र की तरह (हलन्त होकर-रकार) सब वर्णों पर सज्जित है, दूसरा मुकुट के मणि की तरह ।
6. बाधना—बाधा, रुकावट ।
7. अपराधन—बुराई, दोष ।
8. करतल सुगत—अच्छी तरह मुट्ठी में आया हुआ ।
9. उभय-प्रबोधक—दोनों का बोध, ज्ञान करानेवाला ।
10. विरिञ्चि-प्रपञ्च-विरत-मन—
    ब्रह्मा के प्रपञ्च, रचना से मुड़े मनवाले ।
11. अनागम—प्रपत्ति या उत्पत्ति से रहित ।

पृष्ठ 242

1. नाम-प्रेम-पीयूष-ह्रद—नाम के प्रेम के अमृत के सरोवर में।
2. अघुण—छोटा भी नहीं यानी छोटे-से-छोटा, घुणाक्षर न्याय—बाल की खाल निकालनेवाले युक्ति-तर्क—उनसे भी परे, इसलिए अघुण।
3. दारुगत—लकड़ी के भीतर।
4. पावक—आग।
5. सुखज्ञापक—सुख जतानेवाला।
6. नन्दन-सम—इन्द्र के उपवन की तरह, इन्द्र के उपवन का नाम नन्दन है।

पृष्ठ 243

1. दलित-निशाचर—राक्षस जिनसे कुचले गये वे, राक्षसों को मसलनेवाले।
2. सुसेव—उत्तम सेवा करनेवाले।
3. सुगति दान—उत्तम गति देनेवाले।
4. निवाजे—उद्धार किये।
5. बिरद—प्रशंसा।
6. भवार्णव—भव-सागर।
7. नृपधानी—रजधानी।
8. ईश ने—शिव ने।
9. सम्राजे—अच्छी तरह विराजमान हुए।
10. निर्मद—शान्ति देनेवाले।

पृष्ठ 244

1. स्ववश-पर—अपने अधीन और श्रेष्ठ।
2. प्रभासी—ज्योतिवाले।
3. नामाशय—नाम के आधार से।
4. मख—यज्ञ।
5. धृति—धारणा।
6. कालनेमि—एक राक्षस।
7. कपट-धाम—छल का आगार।
8. नर-केशरी—नरसिंह जो विष्णु के अवतार हैं और जिन्होंने प्रह्लाद को बचाया था।
9. कनककशिपु—हिरण्यकशिपु, दानव राज, प्रह्लाद के पिता।
10. अनख—क्रोध, दुराव।

पृष्ठ 245

1. नागर—नगर का रहनेवाला।
2. प्राकृत—साधारण।
3. जनपाल—लोगों को पालनेवाले।
4. उपल—पत्थर।
5. भल्ल—भालू।
6. सचिव—मन्त्री।
7. मति-माल—अनेक प्रकार की बुद्धि रखनेवाले।

पृष्ठ 246

1. शील-निधान—पूरे शीलवाले, मुलाहजा करनेवाले।
2. भरि—भरे रहनेवाले।
3. सलील—लीलावाले।
4. आमलक-सदृश—आँवले की तरह।
5. सुशूकर खेत—उत्तम वराह-क्षेत्र।
6. पन्नग—साँप।

पृष्ठ 247

1. भरणी—भरणी नक्षत्र। भरनेवाली।
2. अरणी—घिसकर आग निकालनेवाली लकड़ियाँ।
3. सजीवन मूल—मुर्दे से जिन्दा कर देनेवाली जड़ी।
4. असुर-सेन-सम-नरक-कन्दिनी।
   साधु-विवुध-कुल अचल नन्दिनी
   —असुरों की सेना जैसे नरक का नाश करनेवाली और साधु तथा देवताओं के कुलों के लिए पार्वती।
5. संत-समाज-पयोधि-रमा-सी—साधुओं के समाज के समुद्र की लक्ष्मी जैसी।
6. यम-गन-मुँह-मसि—यम के गणों के मुखों पर फूटी स्याही जैसी।
7. शिव-प्रिय-मेकल-शैल-सुतासी—शिव को प्यारी मेकल नाम के गिरि की कन्या पार्वती की तरह।
8. प्रेम-परिमिति—प्रेम की नाप।
9. विवुध-वैद्य-भव-भीम-रोग के—संसार रूपी भयानक रोग के देववैद्य धन्वन्तरि की तरह।
10. सचिव सुभट-भूपति-विचार के—विचार रूपी राजा के वीर मन्त्री।

11. कामद-घन-दारिद-दवारि के---दव, आग या पीड़न से पैदा हुई गरीबी के लिए इच्छाफल देनेवाले बादल की तरह।

पृष्ठ 248

1. सेवक-शालि-पाल—सेवक रूपी धान को पालनेवाले।
2. देव-तरुवर--कल्पतरु, जो इन्द्र के नन्दन-वन में है।
3. राम चरित-राकेश, कर सबको शरद सिताभ --रामचन्द्रजी का चरित्र पूर्णचन्द्र की किरणों के समान है, जो सबको शुभ्र और स्निग्ध आभा देती हैं।
4. अमानी—मान का बोझ लादे न रहनेवाले।

पृष्ठ 249

1. खोर न लगे—चूक न पकड़ी जाय।
2. वरते हैं--पूजा करते हैं।
3. राम-धामदा—राम का धाम देनेवाली।
4. संसरण —आवागमन।
5. छिया—कमज़ोर पड़ा, दुर्बल हुआ, क्षीण हुआ
6. दारिद—दानव दारिद्र्य, गरीबी को जलानेवाला।

पृष्ठ 250

1. निर्मद—निर्मल, अमल, मद-हीन।
2. वृष-केतु—बैल की ध्वजा रखनेवाले—शिव।
3. उदधि—समुद्र।
4. मेधा-महिगत—बुद्धि रूपी भूमि पर पड़ा हुआ।
5. चिराया—फटा।
6. सुठ— सुष्ठ।
7. वीचि-विलास—लहरों की लीला।
8. पुरइन—कमल के पत्ते।

पृष्ठ 251

1. अनूपम—उपमा के अनुसार।
2. मकरन्द—फूल की मधु।
3. सुवासित—सुगन्धित।
4. अवरेव—भँवर, पेंच।
5. सुभायन—अच्छे घर रहनेवाले।
6. शम्बुक—घोंघा।

7. सिवार—शैवाल, सेवार, पानी का एक लच्छेदार उद्भिज।
8. काक-बलाक—कौए और बगले।

पृष्ठ 252

1. विरूप-माल—विरूपता, बाधा, रुकावट से भरे।
2. निष्पद—बिना घाटवाली, वह जगह, जहाँ ठहरने की जगह नहीं।
3. सम्बल—सहारा।
4. मज्जन—स्नान।
5. नीत—लायी हुई।
6. मानस-विनन्दिनी—मानसरोवर की लड़की।

पृष्ठ 253

1. देवधुनि-धारा—गङ्गा की धारा।
2. त्रिविध-तापिका—तीनों प्रकार के ताप देनेवाली।
3. बहुघाती—अनेकों घात लगाये हुए।
4. बनज—कमल।
5. परिजन—पड़ोसी।
6. कथोपकथन—बातचीत।
7. सरित-तट—नदी का किनारा।
8. विहित—सही।
9. सहानुज—भाई के साथ।
10. अनेक भुज—तरह-तरह के।
11. अतुल के—न तुलनेवाले, अनुपम के।
12. शमन—काल।

पृष्ठ 254

1. पवन-स्वन—हवा की सनसनाहट।
2. निशाचर-अरिता—राक्षसों की दुश्मनी।
3. सुरकुल-सालि-सुमङ्गल-करिता—देवताओं के कुल रूपी धान का कल्याण करना।
4. आर्ति—करुणा भरी पुकार।
5. तोष-वितोषण—तृप्ति को भी अच्छी तरह तृप्त करनेवाला।
6. दुरित—दुर्गति।
7. बिगोया—बिगाड़ा, गँवाया, गुमाया।

पृष्ठ 255

1. पंक-रुह—कमल ।
2. सुर-साद—देवताओं को प्रसन्न करनेवाली, उत्तम रसपान जिससे होता हो ।
3. सवेक—सबुद्धि, छानबीन के साथ ।
4. श्रेणी—दर्जा ।
5. माधव—विष्णु ।
6. वत्सर—साल ।
7. टेककर—सानुरोध रोककर ।

पृष्ठ 256

1. श्रुति-पुराण-विस्राव—वेद और पुराणों से निकला हुआ, सुनाया हुआ ।
2. आकर—प्रकार, खनि ।
3. विधुरूम—मधुर ।
4. सुरवाकर—सुख की खान ।
5. अकृश—न कमजोर पड़ी हुई, पुष्ट ।

पृष्ठ 257

1. निस्पृह—इच्छा रहित ।
2. रति अधिकाई—इच्छा बढ़ी ।
3. सुषम—उत्तम समतावाले ।
4. छोह—उद्वलता, अतुलता ।
5. विधिपर—विधाता के वस ।

पृष्ठ 258

1. अविशेषण—जिसकी कोई तारीफ नहीं ।
2. मनोभव-दानव—काम को जलानेवाले ।
3. अन्वन्तर—क्षण-क्षण के बाद ।
4. मृषा—व्यर्थ, झूठ ।
5. ब्रह्मशिरा—ब्रह्मशिरवाले, ब्रह्म ही जिनका मस्तक है ।
6. प्रबोध-प्रचारण—सान्त्वना का विचार ।
7. अन्तर्यामी—हृदय की बात जाननेवाले ।

पृष्ठ 259

1. भुवन-निकाय—भिन्न-भिन्न सम्पूर्ण जगत् ।

2. भावी---भवितव्यता, होनहार।
3. सह विवेक श्रम—विचार और मेहनत के साथ।
4. निरत-मन—निविष्ट-चित्त।
5. सुखासन—सुख से बैठे हुए।
6. कर तम पिटता है—उजाले से, प्रकाश से, तम, अँधेरा, पिटता है, दूर होता है।

पृष्ठ 260

1. नत-प्रणाम पर—बहुत झुककर प्रणाम-परायण, नमस्कार करनेवाले।
2. मुनि प्रवीण के सेवित तारा—विचक्षण मुनियों के सेवा पाये ध्रुव तारा जैसे।
3. विधात्री—ब्रह्माणी।
4. इन्दिरा--लक्ष्मी।
5. अज—ब्रह्मा।
6. विदूषण—दोष पानेवाले।

पृष्ठ 261

1. परीक्षण--परिचय, परीक्षा।
2. समुच्चय—सकल।
3. विषाद विशेषण—अधिक दुःख।
4. अविचल-मति—दृढ़ मनवाले।

पृष्ठ 262

1. पण—प्रतिज्ञा, दाम।
2. अंकुर—उद्भव, उद्गम।
3. कृपासव—कृपा के द्रव, मधु, आसव।
4. महाद्रव—महादयालु।
5. छूंछा—रिक्त।
6. कन—कण मात्र।
7. इतिहास—इतिवृत्त।
8. अखण्ड—न टूटनेवाला।
9. अनाला—बेजड़, नाल-रहित।
10. शोक-सम्भार—शोक-समूह, दुःखातिरेक।

पृष्ठ 263

1. आर्ति-हरण—करुणाभरी पुकार को दूर करनेवाले।

2. संयुग-कर—दोनों हाथ जोड़कर।
3. नश्वर—नाशवान।
4. सत्य-गेह—सत्य का आगार।
5. सभासद—सभ्य, सभा का सदस्य।
6. मख—यज्ञ।
7. वर-वाहन--उत्तम वाहनवाले।
—वाहन ले चलनेवाला पशु।

पृष्ठ 264

1. व्योम-विमान—आकाश के विमान, रथ।
2. सदुन्मुख—सचाई की ओर ताकती हुई, देखती हुई।
3. परिताप—जलन।

पृष्ठ 265

1. पड़े भाल वह—माथे पर सिकुड़न पड़ीं।
2. हटक कर—रोककर।
3. अनृत—असत्य, चपलताजन्य कार्य।
4. अन्यस—अन्यथा।
5. शुक्र-सम्भव—वीर्य से उत्पत्ति।
6. चन्द्रमौलि—जिनके मस्तक पर चन्द्र है, वह।
7. सुनिकेतन—उत्तम गृह।

पृष्ठ 266

1. मेली—डाली।

पृष्ठ 268

1. हिस्का—चढ़ा-बढ़ी।
2. आरुणी—सूर्योपासनवाले।

पृष्ठ 269

1. सहैतुक—हैतुक, कारण-करण के साथ।
2. कैतुक—झण्डेवाले।
3. उमा-निकेतन—पार्वती के घर।

पृष्ठ 270

1. हर्षण—आनन्दकरण।

2. विनिर्मद—अच्छी तरह मद-हीन।

पृष्ठ 271

1. सप्तर्षीश्वर—ईश्वर रूपी सातो ऋषि।
2. वागीश्वर—वाणी के ईश्वर।
3. भगवत्पद—ईश्वर के पद, स्थानवाले।
4. वशम्वद—वशीभूत।

पृष्ठ 272

1. शिव सम्बोधन से—शिव के कथन से।
2. भक्ति-विवेक-धर्म-रोपण—भक्ति, ज्ञान और धर्म, न्याय्यान्याय कर्म का, ज्ञानपूर्वक परिहार और अनुष्ठान, उसका सन्निवेश।
3. भास्वर—चमकीला।
4. सुनिकेतन—उत्तम गृह।
5. शोभन—फबनेवाला।
6. प्रतिमामयी—मूर्त्तिमती।
7. गिरि-सम्भव—पहाड़ से पैदा हुआ।

पृष्ठ 273

1. उदासीन—वीतराग उड़े-उड़े मनवाला।
2. अनिकेतन—बिना घरवाला।
3. कपाली—कपाल, मुर्दे की खोपड़ी लिये हुए।
4. सलील-गति—बाँकी चालवाले।
5. गुण के न्यासी—गुण के जोड़नेवाले।
6. श्रीपति—लक्ष्मीपति, विष्णु।
7. वैकुण्ठ-निवासी—वैकुण्ठ, वह जगह है, जहाँ कुण्ठा, हिचक नहीं रह जाती, वहाँ के रहनेवाले।
8. कनक-पत्थर का तोड़ा—सोना, पत्थर के तोड़ से, ताव से निकला है।

पृष्ठ 274

1. वरिष्ठता—श्रेष्ठता, भलमंसाहत।
2. कौतुकियों—तमाशा करनेवालों।
3. अम्बा—माता।
4. मुनि-चय—ऋषिवर।
5. सञ्जात—पैदा हुआ।
6. सुविस्तर—बहुत अधिक।

7. रीते—खाली, रिक्त।
8. अजर—जरा, वार्द्धक्य से रहित।
9. दनुज-निधन—दानव का नाश।
10. शम्भु-शुक्र-सम्भूत—शिव के वीर्य से पैदा हुआ।

पृष्ठ 275

1. क्षोभ—उत्तेजन।
2. सोद्यम—प्रयत्न के साथ।
3. बरियाकर—जोर डालकर।
4. विषम-वाण—तीखे तीर चलानेवाले।
5. झष-केतन—कामदेव।
6. शिव-विरोध—शंकर का विरोध।
7. ध्रुव—अवश्यम्भावी।
8. वारिचर—मीन-केतन, काम, मार।
9. श्रुति-सेतु—वेदों की मेंड़ें।
10. विवेक-भट—विचार की सेना।
11. पर्वत-कन्दरों—पहाड़ की गुहाओं में।
12. करतार—हाथ का तन्त्र।
13. सजीव—मूर्त्तिमान।
14. तिर्यक-दृगों—टेढ़ी भौंहों, आँखों।
15. जगखरभर पड़ा—संसार में चपलता छा गयी।
16. चर-अचर—चलने और न चलनेवाले।
17. नारि-पुरुष के नाम— नारि और पुरुष कहलानेवाले।

पृष्ठ 276

1. मदन-अभिलाषा—काम की इच्छा।
2. पयोनिधि—समुद्र।
3. मनसिजहरे—काम से हरे, खींचे हुए।
4. उबरे—बचे।
5. सुखाले—सुखी।
6. दुराधर्ष—न गिराये जा सकनेवाले।
7. उपाय-विघाती—उपाय से विघात पैदा करनेवाला।
   उपाय—प्रयत्न, विघात-प्रतिघात।
8. ऋतुराज—वसन्त।
9. नव तरु-राजि—नये पेड़ों की कतार।
10. वापी—बावली।

11. तड़ाग चय—तालाबों का समूह।
12. दिग्भाग—दिशा खण्ड।
13. नवल-वय—नयी उम्रवाला।
14. मार—काम।
15. मनोभव—काम।
16 बन-सुभगता—अरण्य की सुन्दरता।
17. शीतल-सुगन्ध-सुमन्द—मारुत-मदन-अनल-सखा-सही—ठण्डी, खुशबूदार, बहुत धीरे-धीरे बहती हवा, मतवाली करनेवाली है, वह सही माने आग की साथी है।
18. विकसे कमल बहुरंग, गूँजे पुञ्ज, मञ्जुल मधुकरा—अनेक रंगों के पद्म खिले, गूँजे, मधु तैयार करनेवाली प्रकृति खुश हुई, मधु-मक्खी खुश हुई।
19. हृदय-निकेत—कामदेव।

पृष्ठ 277

1. निपट-रसाल-विटपवर-शाखा—सही-सही आम का पेड़, अच्छी डालोंवाला।
2. मन माखा—मन से नाखुश।
3. सुमन-चाप पर सर सन्धाने—फूल के धनुहें पर तीर ताने।
4. सविशेष—विशेष रूप से।
5. ईश-मन—शिव के मन में।
6. सौरभ-पल्लव—खुशबूदार पत्तों के बीच सौरभ, सुगन्ध है जिनके पल्लव, पत्ता, किनारा में वह (बहुव्रीहि)।
7. लोकेश्वर—लोकपाल, एक-एक लोक के अधिनायक।
8. क्षार—राख।
9. सुखाशय—सुख की इच्छा रखनेवाले। सुख, माङ्गल्य है आशय, स्थल, इच्छा जिनका वे (बहुव्रीहि)।
10. निष्कण्टक—निरुपद्रव, जिनके काँटे निकल गये हैं।
11. आशुतोष—शीघ्र तुष्ट होनेवाले।
12. व्यापे—फैलेगा।
13. वपु—शरीर।
14. मिलन-प्रसंग—मिलने का हवाला।
15. महाकार—विशाल आकारवाला।
16. महिभार—संसार का भार।
17. चन्द्र-मौलीश्वर—वह प्रभु, जिनके मस्तक पर चन्द्र है।

पृष्ठ 278

1. साँसत—कशमकश, द्विविधा।
2. अङ्गीकार—स्वीकार।
3. स्मर-हर—काम को जलानेवाले, महादेव।
4. दुन्दुभि—भेरी।
5. विजय सरसायी—जीत फैलायी।
6. सिरजा—सर्जन किया, निर्माण किया।
7. अनवद्य—कुछ न लेनेवाला।
8. अज—न पैदा होनेवाला।

पृष्ठ 279

1. मन्मथ—काम।
2. मन्मथ—शिव की तरह बुलाये—मन्मथ और शिव की तरह को, प्रकार को बुलाता है, यानी नाश को ले आता है।
3. सुगत—उत्तम रूप से जाने हुए।
4. मदन-दहन सुनकर न समायी—मदन का जल जाना सुनकर गिरि-पति के हृदय को भरोसा न हुआ।
5. सुचाई—सोचवायी, विचरवायी।
6. वेद-विधि लगन धरायी—वेद के विधान से लग्न रखवायी।
7. पद-गत—पैर पकड़कर की जानेवाली, पद, स्थान के अनुसार।
8. शम्भु-गणों ने किया—शम्भु के गणों ने बनाया, रचा, तैयार किया।
9. सिगार—शृंगार किया।
10. व्यालाभूषण—साँपों के गहने।
11. केसरि-चर्मासन—सिंह की खाल का आसन।
12. श्री उपवीत-भुजङ्गा—श्री, चारुता, साँपों के जनेऊवाली है।
13. वसह—बैल।
14. सुर-समाज सब भाँति अनूपम—देवताओं का समाज सब तरह की उपमाओं से फबनेवाला है।
15. कुल-बरात, तूल, दूलह दूलम—कुल बारात में तुलना करने पर दूल्हे की जोड़ नहीं मिलती, दूलह दूलम है।

पृष्ठ 280

1. दिशि-राज—दिक्‌पति।
2. वर अनुहर—वर के अनुसार, माफिक।
3. बसते हैं—सुगन्ध देते हैं।

4. भृङ्गी—नन्दी की तरह शिव का एक गण।
5. शीश-चरण—पैर सर पर रक्खे हुए, जल्दी।
6. वाहिनी—दल, सेना, फौज।
7. रुख—मुख।
8. पीन—मोटा।
9. कलापकर—तमाशा दिखानेवाले।
10. सद्य-शोणित-तन-भरे—निकलते हुए खून से लथपथ।
11. खर—गदहा।
12. शृगाल—स्यार।
13. वितान हैं—लता-मण्डप हैं।

पृष्ठ 281

1. सुपासे—अच्छी तरह रक्खे।
2. तोरण—प्रवेश द्वार।
3. वनिता—स्त्री।
4. आगामन—अगवानी।
5. पराने—भगे।
6. जम की धार—मौत की राह।
7. बौराह—पागल।
8. क्षर—नष्ट, इतर, नीचे।

पृष्ठ 282

1. कंचन—सोना।
2. विकट-वेश—बुरे भेष में।
3. स्याम-सरोज-नयन—नील-कमलवाली आँखों।
4. बौर—पागल।
5. कल्पतरु—कल्पवृक्ष, इच्छानुसार फल देनेवाला पेड़।
6. तुम-सहित—तुम्हारे साथ।
7. अपजस हो जग—संसार में बुराई भी क्यों न हो?
8. जीवित विवाह न मैं करूँ—जीते जी विवाह मैं न करूँगी।
9. तपो विवाह किया बौरे वर—पागल वर के साथ तपस्याजन्य विवाह कराया।
10. पर-घर-घालक—दूसरे का घर तोड़नेवाले।
11. बाँझ—जिसके लड़का नहीं।
12. प्रसव की पीड़ा—बच्चा जनने का दर्द।
13. सम्प्रति—इस समय।

14. अङ्कविधि—भवितव्यता, विधाता के अक्षर।
15. कलङ्क-निधि—बुराइयाँ, बदनामियाँ।

पृष्ठ 283

1. तुहिन-गिरि—बर्फवाले पर्वत।
2. जग-सम्भव-पालन लयकरणी—संसार में होनेवाले पालन और विनाश को करनेवाली।
3. लीला-वपुधरणी—लीला के लिए, खेल के लिए शरीर धारण करनेवाली।
4. सीता परिच्छद—सीता का वेष।
5. मेना-हिमगिरि आनन्दे—मेना और हिमगिरि प्रसन्न हुए।
6. हाटक-घट कल—बाजारों के सुन्दर कलश।
7. सूपकारता—पाकशास्त्र।

पृष्ठ 284

1. चोंच मढ़ाई सोने—मधुर-मधुर गालियाँ गायीं।
2. जग की छवि छोहे—जग की, संसार की, सुघरता को स्नेह-सिक्त करे।
3. सुन्दरता-मर्याद—सुन्दरता, चारुता की सीमा।

पृष्ठ 285

1. तुरग—घोड़ा।
2. नही मानो पर—जिसकी नाप नहीं।
3. श्वशुर-परितोष—ससुर की प्रसन्नता।

पृष्ठ 286

1. याचक—मँगते।
2. अति-हेतु—बहुत-से कारणोंवाले।
3. वृषकेतु—बैल की ध्वजावाले महादेव (को)।
4. सरित-शैल—सर सब-घर-साजा—सरिताओं, पहाड़ों और सरोवरों को सब घरों में सज्जित किया।
5. आदर-दान-विनय बहु-मानों—समादर, दान, विनती और अनेक प्रकार के सम्मानों से।
6. सुख-खानों—सुख की खानों, आकरों से।
7. सुर-सब ने निज लोक सँवारे—कुछ सुरों ने अपने-अपने लोक को सज्जित किया।
8. जगज्जनक-जननी—संसार के माता-पिता।

9. उनका तभी सिंगार न सिरजा—तभी मैंने उनके श्रृंगार की लीलाओं की वर्णना न की।
10. षट्वदन—छः मुँहवाले, कार्त्तिकेय।
11. तारक-असुर-समर-मण्डल जित—लड़ाई के मैदान में तारक नाम के असुर को जीतनेवाले।
12. पुरुषार्थ—पुरुषकार, मर्द का काम।
13. चरित-सिन्धु—चरित्र-सागर।
14. रोयें खड़े हुए दृग निर्झर—पुलक से रोमावली खड़ी हो गयी और आँखें झरने हुईं।
15. ज्ञान-दशा-सुख—समझदारी की दशावाला आनन्द जिनको मिला, वे।

पृष्ठ 287

1. वर-नारी—सुन्दर स्त्री।
2. सुतार—अच्छी तरह तार देनेवाले, अच्छे सोपानोंवाला, अच्छी सीढ़ियों-वाला, उत्तम तन्त्रीवाला, सजा हुआ।
3. अहीश्वर—सर्पों के स्वामी, नागराज।
4. हरिहर-स्मरण-शरण—विष्णु और शङ्कर के ध्यान के आश्रय में।
5. दयिता—स्त्री, नारी।
6. दारु—लकड़ी।
7. कारु—कारीगरी।
8. दायिता-दारु-कारु के—कठपुतली के चलाने के सूत्र-धर, कठपुतली के कारीगरी के मालिक।
9. अविशदविशद—बुरे और अच्छे।
10. सुनिभृत—बहुत एकान्त।
11. तपोधन—तपस्या ही जिनका धन है, ऐसे।
12. सुख-कन्द—आनन्द की जड़।
13. महाच्छद—लम्बी छाँहवाले।
14. तुहिन-मुकुटोज्वल—बर्फ की चोटीवाले मुकुट से उज्ज्वल।
15. नव-तर कर—नयी से नयी किरण।
16. कल-सर-शतदल—सुन्दर मानसरोवर के कमल।

पृष्ठ 288

1. सुग—अच्छे-अच्छे जगनेवाले।
2. भुजग-भूति भूषण—साँप और राख को आभूषण, अलंकार किये हुए।
3. काम-रिपु—शिव।
4. लावण्य-निधि—सुन्दरता की राशि।

5. पति-हिय-हेतु—स्वामी के हृदय का कारण।
6. सुमुख—प्रसन्न।
7. विधान-मान-बहु—विधियों और नापों के अनेक प्रकारवाली।

पृष्ठ 289

1. जपते हो सिर पर रखकर तिन—बहुत छोटे बनकर जपते हो।
2. नारी-विरह विभोर—स्त्री के वियोग में डूबे हुए।
3. अनीह—माया-रहित।
4. श्रुति-सिद्धान्त—वेदों के सिद्ध किये विषय।
5. योषित—स्त्री।
6. आर्ति—कारुण्य।

पृष्ठ 290

1. सलील—लीलाओं से भरे।
2. सुखशील—भले-भले रहनेवाले, जिनके देखे सुख होता है।
3. करुणायतन—करुणा की हद, दया की हद।
4. अति-मानव-कृति—वह काम करनेवाले जो मामूली आदमी से नहीं होता।
5. विशेष विवेक-पीर—खास अक्ल की जगह रखनेवाले।
6. पामर—मन्द, पापी, दुष्ट।
7. इतर—साधारण।
8. पुलक—कम्प, रोम-हर्ष।
9. रज्जु-भुजङ्ग—रस्सी और साँप।
10. दशरथ-अजिर-विहारी—दशरथ के घर और आँगन में रहनेवाले।

पृष्ठ 291

1. श्रवण-रन्ध्र-अहि-भवन—कान के बिल को साँप का घर समझ लिया।
2. आँखों-देखा नहीं साधुजन, लोचन मोर पंख आलेखन—अपनी आँखों से देखा हो ऐसा साधु नहीं मिलता अर्थात् सुनी बात सब लोग कहते हैं, इसलिए आँखों को मोर के पंख समझना चाहिए, जिनमें आँखें बनी रहती हैं पर देखने की ताकत नहीं।
3. कटु तुम्बीसम—कड़ुवे कोंहड़े की तूंबी की तरह।
4. दादुर—मेढ़क।
5. कुलिश कठोर—वज्र की तरह कड़ा।
6. दनुज-विमोहन-शीला—राक्षसों को, दैत्यों को मोहनेवाली।
7. सब दुख हान—कुल कष्टों की इति।

पृष्ठ 292

1. श्रुत—सुनी हुई।
2. मोह-प्रमाद सुनायी—भ्रम और मायाजाल के कारण सुनायी हुई है।
3. अकोविद—अज्ञानी।
4. लम्पट—कामी।
5. मुकुर-मलिन-मन—जंग लगे शीशे की तरह काले मनवाले।
6. नयनहीन—बिना आँखवाले।
7. जल्पें-कल्पें—कहते और सोचते हैं।
8. विकुण्ठित—बहुत दबा हुआ।
9. वातुल—पागल।
10. दनुजारि—राक्षसों के शत्रु, दैत्यों के दुश्मन।
11. भ्रम-तम-रवि-कर—मोह रूपी अन्धकार के लिए सूर्य की किरण।
12. जोहा—देखा।
13. जल-हिम-उपल—पानी, बर्फ और ओले।
14. तिमिर-पतङ्ग—अन्धकार के लिए सूर्य।

पृष्ठ 293

1. लव—क्षण, अल्प मात्र।
2. मर्ष—क्रोध, पराभव।
3. परावर—परा, श्रेष्ठ विद्या के वर, पति।
4. गगन-घन-पटल—आकाश के बादलों के टुकड़े।
5. झाँपा—ढँका।
6. अविकच—अज्ञ, अप्रस्फुट।
7. नभ-तम-धूल-धूम—आकाश का अँधेरा, धूल और धुआँ।
8. इसी सत्यता से जड़ माया, विश्व भास है, मोह सुहाया—इसी सचाई के कारण माया ही विश्व के रूप से समुद्भासित, प्रकट, जाहिर है। यह माया सुहाती है।

पृष्ठ 294

1. द्रुति—जल्दबाजी से।
2. वास-विशेषण—सुगन्ध की विशेषता, अच्छी-अच्छी खुश्बू।
3. भव-वारिधि गोपद तरते नर—संसार-समुद्र को गौ के खुर के जल की तरह लोग पार कर जाते हैं।
4. भव-भञ्जन-वचना—संसार छुड़ाने की बातचीतवाली।
5. कुतर्क—बुरे वाग्जाल।

6. असम्भावना—अनहोनी।

7. अग्लानि—जिनके प्रतिक्रिया, थकान खुमार नहीं।

8. शरदातप—शरद काल की धूप।

9. किङ्करी—दासी।

10. त्रिपुरेश्वर—त्रिपुर के पति।

पृष्ठ 295

1. भववारण—संसार को, आवागमन को रोकनेवाले।

2. पराशय—श्रेष्ठ स्थितिवाली।

3. ज्ञानि सुनी विहगपति गरुड़ ने— चिड़ियों के स्वामी ज्ञानवान् गरुड़ ने।

भूमिकाएँ और समर्पण

1. 'कुकुरमुत्ता' के प्रथम संस्करण का समर्पण

श्री कुँवर सुरेश सिंह को

2. 'कुकुरमुत्ता' के प्रथम संस्करण की भूमिका

ज़ियाफ़त

इसमें वही शरीक होंगे, जिन्हें न्योता नहीं भेजा गया, साथ ही जो कंगाल नहीं, न ऐसे बड़े आदमी, जो अपनी जगह गड़े रह गये। मतलब साफ़ है। हम दोनों मतलब के। न हम पैरों पड़ें न वह। मिहनत की कमाई हम भी खाँय और वह भी।

—**'निराला'**
४-६-४२

3. 'कुकुरमुत्ता' के द्वितीय संस्करण का समर्पण

कुँवर सुरेश सिंह को सस्नेह

—'निराला'

4. 'कुकुरमुत्ता' के द्वितीय संस्करण की भूमिका

आवेदन

'कुकुरमुत्ता' का संशोधित संस्करण, आशा है, पाठकों को पसन्द आयेगा। इसके व्यंग्य और इसकी भाषा आधुनिक है। जब यह पहले-पहल 'हंस' में छपा था, डा. हेमचन्द्र जोशी ने इसकी तारीफ़ की थी, दूसरे बहकावे से लोगों को बचाने की कोशिश की थी। मैं डा. जोशी को धन्यवाद देता हूँ। अर्थ-समस्या में निरर्थकता को समूल नष्ट करना साहित्य और राजनीति का कार्य है। बाहरी लदाव हटाना ही चाहिए, क्योंकि हम जिस माध्यम से बाहर की बातें समझते हैं वह भ्रामक है, ऐसी हालत में 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' होना पड़ता है। किसी से मैत्री हो, इसका अर्थ यह नहीं कि हम बेजड़ और बेजर हैं। अगर हमारा नहीं रहा तो न रहने का कारण है, कार्य इसी पर होना चाहिए। हम हिन्दी-संसार के कृतज्ञ हैं, जिसने अपनी आँख पायी हैं। इस पथ में अप्रचलित शब्द नहीं। बाजार आज भी गवाही देता है कि किताब चाव से खरीदी गयी, आवृत्ति हजार कान सुनी गयी और तारीफ़ लाख-मुह होती रही। हो सका तो ऐसी और रचनाएँ लायी जायंगी। इति।

काशी

८-७-४८

—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

5. 'अणिमा' का समर्पण

डॉ० रामविलास शर्मा को

6. 'अणिमा' की भूमिका

भूमिका

'अणिमा' मेरे इधर के पद्यों का संग्रह है। अधिकांश गीत हैं। कुछ गीत आल-इण्डिया-रेडियो, दिल्ली और लखनऊ, से गाये गये हैं। प्रायः सभी गीतों की भाषा सरल है। भाषा में भी कई प्रकार हैं। गाने की अनुकूलता और स्वर के सौन्दर्य और श्रुति-मधुरता के विचार से, पुस्तिका के प्रारम्भ के गीत मुझे ज़्यादा पसन्द हैं। मेरे कुछ साहित्यिक मित्रों ने बाद के गीतों की तारीफ़ की है। उनकी भाषा गद्य के अनुसार है। प्रान्तीय भाषाओं में, ख़ासकर उर्दू में, यह प्रकरण है और ज़ोरों से चल रहा है। मैंने पहले भी इस प्रकार के पद्य लिखे हैं। कुछ छोटी-बड़ी रचनाएँ प्रसिद्ध जनों पर हैं जो काव्य की दृष्टि से, आलोचकों के अनुसार, अच्छी आयी हैं। पढ़ने पर पाठकों को प्रसन्नता होगी। मुझे विश्वास है कि शीघ्र नये-नये उद्भावनों से मैं हिन्दी के समुत्साही पाठकों की अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूँगा। इति।

युग-मन्दिर, उन्नाव
१-८-४३

—"निराला"

7. 'बेला' का समर्पण

आचार्य कविवर जानकीवल्लभ को सस्नेह

8. 'बेला' की भूमिका

आवेदन

'बेला' मेरे नये गीतों का संग्रह है। प्रायः सभी तरह के गेय गीत इसमें हैं। भाषा सरल तथा मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यकता नहीं। देशभक्ति के गीत भी हैं। बढ़कर नयी बात यह है कि अलग-अलग बहरों की ग़ज़लें भी हैं जिनमें फ़ारसी के छन्दःशास्त्र का निर्वाह किया गया है। काव्य की कसौटी भी है। पाठकों की हिन्दी मार्जित हो जायगी अगर उन्होंने आधे गीत भी कण्ठाग्र कर लिये; यों आज भी व्रजभाषा के प्रभाव के कारण अधिकांश जन तुतलाते हैं, खड़ीबोली के गीत खुलकर नहीं गा पाते। प्रायः सभी दृष्टियों से उनको फ़ायदा पहुँचाने का विचार रखा है। पढ़ने पर वे आप समझेंगे।

दारागंज; प्रयाग
१५ जनवरी १९४३ [1946]

'निराला'

9. 'नये पत्ते' का समर्पण

कृती-कवि-लेखक

श्री गङ्गा प्रसाद पाण्डेय, एम० ए० को

सस्नेह

10. 'नये पत्ते' की भूमिका

प्रस्तावना

'नये पत्ते' इधर के पद्यों का संग्रह है। सभी तरह के आधुनिक पद्य हैं, छन्द कई, मात्रिक, सम और असम। हास्य की भी प्रचुरता, भाषा अधिकांश में बोलचालवाली। पढ़ने पर काव्य की कुञ्जों के अलावा ऊँचे-नीचे फ़ारस-के-जैसे टीले भी। अधिक मनोरंजन और बोधन की निगाह रक्खी गयी है कि पाठकों का श्रम सार्थक हो और ज्ञान बढ़े। वे अपनी भाषा की रूपरेखाएँ देखें। इति।

प्रयाग
७—३—४६

सविनय
'निराला'

कविताएँ

(1950-1961)

[1]

भव-अर्णव की तरणी तरुणा।
बरसीं तुम नयनों से करुणा।

हार हारकर भी जो जीता,
सत्य तुम्हारी गायी गीता,
हुईं असित जीवन की सीता,
दाव-दहन की श्रावण-वरुणा,

काटे कटी नहीं जो कारा
उसकी हुईं मुक्ति की धारा,
वार वार से जो जन हारा,
उसकी सहज साधिका अरुणा।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1950। 'कल्पना', द्वैमासिक, हैदराबाद, फरवरी, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[2]

तन की, मन की, धन की हो तुम।
नव जागरण, शयन की हो तुम।

काम कामिनी कभी नहीं तुम,
सहज स्वामिनी सदा रहीं तुम,
स्वर्ग-दामिनी नदी बहीं तुम,
अनयन नयन-नयन की हो तुम।

मोह-पटल-मोचन आरोचन,
जीवन कभी नहीं जन-शोचन
हास तुम्हारा पाश-विमोचन,
मुनि की मान, मनन की हो तुम।

गहरे गया, तुम्हें तव पाया,
रहीं अन्यथा कायिक छाया,
सत्य भास की केवल माया,
मेरे श्रवण-वचन की हो तुम।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[3]

भज भिखारी, विश्वभरणा,
सदा अशरण-शरण-शरणा।

मार्ग है पर नहीं आश्रय;
चलन है, पर निर्दलन-भय;
सहित-जीवन मरण निश्चय;
कह सतत जय-विजय-रणना।

पतित को सित हाथ गहकर
जो चलाती हैं सुपथ पर,
उन्हीं का तू मनन कर कर
पकड़ निश्शर-विश्वतरणा।

पार पारावार कर तू,
मर विभव से, अमर वर तू,
रे असुन्दर, सुघर घर तू,
एक तेरी तपोवरणा।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[4]

समझा जीवन की विजया हो।
रथी दोषरत को दलने को,
विरथ व्रती पर सती दया हो।

पता न फिर भी मिला तुम्हारा,
खोज-खोजकर मानव हारा;
फिर भी तुम्हीं एक ध्रुवतारा,
नैश पथिक की पिक अभया हो।

ऋतुओं के आवर्त-विवर्तों,
लिये चलीं जो समतल-गर्तों,
खुलती हुई मर्त्य के पर्तों,
कला सफल तुम विमलतया हो।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 26 मार्च, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[5]

पंक्ति-पंक्ति में मान तुम्हारा।
भुक्ति-मुक्ति में गान तुम्हारा।

आँख-आँख पर भाव बदलकर,
चमके हो रँग-छवि के पल-भर,
पुनः खोलकर हृदय-कमल कर,
गन्ध बने, अभिधान तुम्हारा।

विपुल-पुलक-व्याकुल अलि के दल,
मानव मधु के लिए समुत्कल
उठे ज्योति के पंख खमण्डल,
अन्तस्तल अभियान तुम्हारा।

बैठे हृदयासन स्वतन्त्र-मन,
किया समाहित रूप-विचिन्तन,
नृम्न मृण्मरण बचे विचक्षण,
ज्ञान-ज्ञान शुभ स्थान तुम्हारा।

[रचनाकाल : 13 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[6]

दुरित दूर करो नाथ,
अशरण हूँ, गहो हाथ।

हार गया जीवन-रण,
छोड़ गये साथी-जन,
एकाकी, नैश - क्षण,
कण्टक-पथ, विगत पाथ।

देखा है, प्रात किरण,
फूटी है मनोरमण,
कहा, तुम्हीं को अशरण-
शरण, एक तुम्हीं साथ।

जब तक शत मोह जाल
घेर रहे हैं कराल—
जीवन के विपुल व्याल,
मुक्त करो, विश्वगाथ!

[रचनाकाल : 13 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[7]

भव-सागर से पार करो हे!
गह्वर से उद्धार करो हे!

कृमि से पतित जन्म होता है,
शिशु दुर्गन्ध-विकल रोता है,
ठोकर से जगता-सोता है,
प्रभु उसका निर्वार करो हे!

पशुओं से संकुल सन्तुल जग,
अहङ्कार के बाँध बँधा मग,
नहीं डाल भी जो बैठे खग,
ऐसे तल निस्तार करो हे!

विपुल काम के जाल बिछाकर,
जीते हैं जन जन को खाकर
रहूँ कहाँ मैं ठौर न पाकर,
माया का संहार करो हे!

[रचनाकाल : 13 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[8]

रमण मन के, मान के तन!
तुम्हीं जग के जीव-जीवन!

तुम्हीं में है महामाया,
जुड़ी छुटकर विश्वकाया;
कल्पतरु की कनक-छाया
तुम्हारे आनन्द - कानन।

तुम्हारी स्वर्सरित बहकर
हर रही है ताप दुस्तर;
तुम्हारे उर हैं अमर-मर,
दिवाकर, शशि, तारकागण।

तुम्हीं से ऋतु घूमती है,
नये कलि - दल चूमती है,
नये आसव झूमती है,
नये गीतों, नये नर्तन!

[रचनाकाल : 14 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[9]

बन जाय भले शुक की उक से,
सुख की दुख से अवनी न बनी;
रुक जाय चली गति जो जग की,
जन से जन-जीवन की न ठनी।

बिगड़ी बनती बन जाय सही,
डगड़ी गड़ती गड़ जाय मही;
कटती पटती पट जाय तही,
तन की मन से तनती न तनी।

सब लोग भले भिड़ जायँ यहाँ,
न चले जो गले छिड़ जायँ यहाँ,
जो चढ़े सिर थे, चिढ़ जायँ यहाँ,
जो गिरा उसकी न गिरी लवनी।

[रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[10]

लगी लगन, जगे नयन;
हटे दोष, छुटा अयन;

दुर्मिल जो कुछ ऊर्मिल
मिल-मिलकर हुआ अखिल,
घुल-धुलकर कुल पङ्किल
घुला एक रस अशयन।

छुटे सभी विषम बन्ध
विषमय वासना-अन्ध;
संशय की गयी गन्ध,
शय-निश्चय किया चयन।

कामना विलीन हुई,—
सभी अर्थ क्षीण हुई,
उद्धत शिति दीन हुई,
दिखा नवल विश्व-वयन।

[रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[11]

शिशिर की शर्वरी,
हिंस्र पशुओं भरी।

ऐसी दशा विश्व की विमल लोचनों
देखी, जगा त्रास, हृदय सङ्कोचनों
काँपा कि नाची निराशा दिगम्बरी।

मातः, किरण हाथ प्रातः बढ़ाया
कि भय के हृदय से पकड़कर छुड़ाया,
चपलता पर मिली अपल थल की तरी।

[रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, अप्रैल-मई, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[12]

आशा-आशा मरे
लोग देश के हरे!

देश पड़ा है जहाँ,
सभी झूठ है वहाँ,
भूख-प्यास सत्य,
होंठ सूख रहे हैं अरे!

आस कहाँ से बँधे ?
साँस कहाँ से सधे ?
एक - एक दास,
मनस्काम कहाँ से सरे ?

रूप-नाम हैं नहीं,
कौन काम तो सही ?
मही - गगन एक,
कौन पैर तो यहाँ धरे ?

[रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[13]

गत शत पथ पर
निर्जर रथ पर
तिमिर तीर हर तरुणे !
निःसंशय क्षय,
हँसा पराजय;
रुका काम, भय, करुणे !
आनत दृग की
चितवन मृग की
निर्निमेष नृग की है;
कुसुम हासमय
मुदा मदाशय
खुली महालय की जय !
एवम्विघ तुम
जीवन कुङ्कुम
चढ़ी देह द्रुम पर हो;
कीर्ण कारिणी,
शीर्ण सारिणी,
तीर्ण तारणी कर हो !
फिर भी युग पद
बन्दूँ निर्मद
विश्व वशम्वद करणे !

नग्न वाहु द्वय
चरण हार, जय
नत शिर पद है, शरणे !

[सम्भावित रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 23 जनवरी, 1950, में प्रकाशित ('प्रणामाः सन्तु' शीर्षक से)। **आराधना** में संकलित]

[14]

छाँह न छोड़ी,
तेरे पथ से उसने आस न तोड़ी।

शाख-शाख पर सुमन खिले,
हवा-हवा से हिले मिले,
उर-उर फिर से भरे, छिले,
लेकिन उसने सुषमे, आँख न मोड़ी।

कहीं आव, कहीं है दुराव,
कहीं बढ़े चलने का चाव,
पाप-ताप लेने का दाव,
कहीं बढ़े-बढ़े हाथ घात निगोड़ी।

[रचनाकाल : 16 जनवरी, 1950। **अर्चना में संकलित**]

[15]

साधो मग डगमग पग,
तमस्तरण जागे जग।

शाप शयन सो-सोकर,
हुए शीर्ण खो-खोकर,
अनवलाप रो-रोकर,
हुए चपल छलकर ठग।

खोलो जीवन - बन्धन,
तोलो अनमोल नयन,
प्राणों के पथ पावन,
रँगों रेणु के रँग रग।

[रचनाकाल : 16 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[16]

सोयीं अखियाँ :
तुम्हें खोजकर बाहर,
हारीं सखियाँ।

तिमिरवरण हुई इसलिए,
पलकों के द्वार दे दिये,
अन्तर में अकपट,
हैं बाहर पखियाँ।

प्रार्थना प्रभाती जैसी,
खुलें तुम्हारे लिए वैसी,
भरें सरस दर्शन से
ये कमरखियाँ।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[17]

तिमिरदारण मिहिर दरसो।
ज्योति के कर अन्ध कारा-
गार जग का सजग परसो।

खो गया जीवन हमारा,
अन्धता से गत सहारा;
गात के सम्पात पर उत्थान;
देकर प्राण बरसो।

क्षिप्रतर हो गति हमारी,
खिले प्रति-कलि-कुसुम-क्यारी,
सहज सौरभ से समीरण पर
सहस्रों किरण हरसो।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, अगस्त, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[18]

तुम जो सुथरे पथ उतरे हो,
सुमन खिले, पराग बिखरे, ओ!

ज्योतिश्छाय केश - मुखवाली,
तरुणी की सकरुण कलिका ली,
अधर - उरोज - सरोज - वनाली,
अश्रु - ओस की भेंट भरे हो।

पवन - मन्द - मृदु - गन्ध प्रवाहित,
मधु - मकरन्द सुमन - सर - गाहित,
छन्द - छन्द सरि - तरि उत्साहित,
अवनि - अनिल - अम्बर सँवरे हो।

स्वर्ण-रेणु के उदयाचल - रवि,
दुपहर के खरतर ज्योतिश्छवि,
हे उर-उर के मुखर-मधुर कवि,
निःस्व विश्व को तुम्हीं वरे हो।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[19]

जिनकी नहीं मानी कान
रही उनकी भी जी की।

जीवन की आन-बान
तभी दुनिया की फीकी।
राह कभी नहीं भूली तुम्हारी,
आँख से आँख की खायी कटारी,
छोड़ी जो बाँधी अटारी-अटारी
नयी रोशनी, नयी तान;
रही उनकी भी जी की,
जिनकी नहीं मानी कान।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[20]

दीप जलता रहा,
हवा चलती रही,
नीर पलता रहा,
बर्फ गलती रही।

जिस तरह आग
वन में लगी हुई है—
एकता में सरस
भास है—दुई है,—
सत्य में भ्रम हुआ है,—
छुईमुई है,
मान बढ़ता रहा,
उम्र ढलती रही।

समय की बाट पर,
हाट जैसे लगी,—

मोल चलता रहा,
झोल जैसे दगी,—
पलक दल रुक गये,
आँख जैसे लगी,—
काल खलता रहा,
कला फलती रही।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[21]

आँख लगायी
तुमसे जब से, हमने चैन न पायी।

छल जो, प्राणों का सम्बल हुआ,
प्राणों का सम्बल निष्फल हुआ,
जङ्गल रमने का मङ्गल हुआ,
ज्योति जहाँ वहाँ अँधेरी घिर आयी।

राह रही जहाँ वहाँ पन्थ न सूझा,
चाह रही जहाँ वहाँ एक न बूझा,
ऐसी तलवार चली कुनबा जूझा,
बन आयी वह कि दूर हुई सगाई।

[रचनाकाल : 18 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[22]

दो सदा सत्सङ्ग मुझको।
अनृत से पीछा छुटे,
तन हो अमृत का रङ्ग, मुझको।

अशन - व्यसन तुले हुए हों,
खुले अपने ढङ्ग,
सत्य अभिधा साधना हो,
बाधना हो व्यङ्ग, मुझको।

लगें तुमसे तन-वचन - मन,
दूर रहे अनङ्ग;
बाढ़ के जल बढ़ूँ, निर्मल,
मिलूँ एक उमङ्ग, मुझको।

शान्त हों कुल धातुएँ ये
बहे एक तरङ्ग;
रूप के गुण गगन चढ़कर,
मिलूँ तुमसे, ब्रह्म, मुझको।

[रचनाकाल : 18 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[23]

चङ्ग चढ़ी थी हमारी,
तुम्हारी डोर न टूटी,
आँख लगी जो हमारी,
तुम्हारी कोर न छूटी।

जीवन था बलिहार,
तुम्हारा पार न आया;
हार हुई थी हमारी,
तुम्हारी जोत न फूटी।

ज्ञान गया ऐ हमारा,
तुम्हारा मान नया था,
हाथ उठा जो हमारा,
तुम्हारी रास न लूटी।

पर बढ़े थे हमारे,
तुम्हारे द्वार खुले थे,
दर्शन चाहा हमारा,
तुम्हारी, जीवन - घूटी ।

[रचनाकाल : 18 जनवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[24]

नयन नहाये
जब से उसकी छवि में रूप बहाये ।

साथ छुटा स्वजनों का,
पाँख फिर गयी,
चली हुई पहली वह
राह घिर गयी,
उमड़ा उर चलने को
जिस पुर आये ।

कण्ठ नये स्वर से क्या
फूटकर खुला !
बदल गयी आँख, विश्व-
रूप वह धुला !
मिथ्या के भास सभी,
कहाँ समाये !

[रचनाकाल : 18 जनवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[25]

रङ्गभरी किस अङ्ग भरी हो ?
गातहरी किस हाथ बरी हो ?

जीवन के जागरण - शयन की,
श्याम-अरुण-सित-तरुण-नयन की,
गन्ध - कुसुम - शोभा उपवन की,
मानस - मानस में उतरी हो;
जोबन - जोबन से सँवरी हो।

जैसे मैं बाजार में बिका
कौड़ी मोल; पूर्ण शून्य दिखा;
बाँह पकड़ने की साहसिका,
सागर से उत्तीर्ण तरी हो,
अल्पमूल्य की वृद्धिकरी हो।

[रचनाकाल : 19 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[26]

सरल तार, नवल गान,
नव - नव स्वर के वितान।

जैसे नव ऋतु, नव कलि,
आकुल नव-नव अञ्जलि,
गुञ्जित - अलि- कुसुमावलि,
नव - नव - मधु -गन्ध - पान।

नव रस के कलश उठे,
जैसे फल के, असु के,—
नव यौवन के वसु के
नव जीवन के प्रदान।

उठे उत्स, उत्सुक मन,
देखे वह मुक्त गगन,
मुक्त धरा, मुक्तानन,
मिला दे अदिव्य प्राण।

[रचनाकाल : 19 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[27]

पार संसार के,
विश्व के हार के,
दुरित संभार के
नाश हो क्षार के।

सविध हो वैतरण,
सुकृत-कारण - करण,
अरण - वारण - वरण,
शरण सञ्चार के।

तान वह छेड़ दी
सुमन की, पेड़ की,
तीन की, डेढ़ की,
तार के हार के!

वारवनिता विनत,
आ गये तथागत,
अप्रहत, स्नेह - रत,
मुक्ति के द्वार के।

[रचनाकाल : 19 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[28]

प्रथम बन्दूँ पद विनिर्मल,
परा - पथ पाथेय पुष्कल।

गणित अगणित नूपुरों के,
ध्वनित सुन्दर स्वर सुरों के,
सुरञ्जन गुञ्जन पुरों के,
कला निस्तल की समुच्छल।

वासना के विषम शर से
बिंधे को जो छुआ कर से,
शत समुत्सुक उत्स बरसे,
गात गाथा हुई उज्ज्वल।

खुली अन्त:किरण सुन्दर,
दिखे गृह, वन, सरित, सागर,
हँसे खुलकर हार - बाहर,
अजन जन के बने मङ्गल।

[रचनाकाल : 20 जनवरी, 1950। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 29 जनवरी, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[29]

पैर उठे, हवा चली।
उर - उर की खिली कली।

शाख - शाख तनी तान,
विपिन - विपिन खिले गान
खिंचे नयन - नयन प्राण,
गन्ध - गन्ध सिंची गली।

पवन - पवन पावन है
जीवन - वन सावन है,
जन - जन मनभावन है,
आशा सुखशयन - पली।

दूर हुआ कलुष - भेद,
कण्टक निस्पन्द छेद,
खुले सर्ग, दिव्य वेद,
माया हो गयी भली।

[रचनाकाल : 20 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[30]

और न अब भरमाओ,
पौर आओ, तुम आओ!

जी की जो तुमसे चटकी है,
बुद्धि - शुद्धि भटकी - भटकी है;
और जनों की लट अटकी है,

ऐसे अकेले बचाओ,
छोड़कर दूर न जाओ!

खाली पूरे हाथ गये हैं,
ऊपर नये - नये उनये हैं,
सुख से मिलें जो दुख - दुनये हैं,

बेर न वीर लगाओ,
बढ़ाकर हाथ बटाओ!

[रचनाकाल : 20 जनवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[31]

दे न गये बचने की
साँस, आस ले न गये।

रह - रहकर मारे पर
यौवन के ज्वर के शर
नव-नव कल-कोमल कर।
उठे हुए जो न नये।

फागुन के खुले फाग
पाये जो सिन्धु - राग
दल के दल भरमाये
पातों से जो न छये।

गले - गले मिलने की,
कटी हुई सिलने की,
पड़ी हुई झिलने की,
आ बीती खड़े - खड़े।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[32]

अलि की गूँज चली द्रुम-कुञ्जों।

मधु के फूटे अधर - अधर धर
भरकर मुदे प्रथम गुञ्जित-स्वर,
छाया के प्राणों के ऊपर
पीली ज्वाल पुञ्ज की पुञ्जों।

उल्टी - सीधी बात सँवरकर
काटे आये हाथ उतरकर,
बैठे साहस के आसन पर
भुज - भुज के गुण गाये गुञ्जों।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[33]

आज प्रथम गायी पिक पञ्चम।
गूँजा है मरु विपिन मनोरम।

मरुत - प्रवाह, कुसुम - तरु फूले,
बौर - बौर पर भौंरे भूले,
पात - गात के प्रमुदित झूले,
छायी सुरभि चतुर्दिक उत्तम।

आँखों से बरसे ज्योतिःकरण,
परसे उन्मन - उन्मन उपवन,
खुला धरा का पराकृष्ट तन,
फूटा ज्ञान गीतमय सत्तम।

प्रथम वर्ष की पाँख खुली है,
शाख - शाख किसलयों तुली है,
एक ओर माधुरी घुली है,
गीत - गन्ध - रस - वर्णों अनुपम।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[34]

फूटे हैं आमों में बौर,
भौंर वन-वन टूटे हैं।
होली मची ठौर-ठौर,
सभी बन्धन छूटे हैं।

फागुन के रंग राग,
बाग-वन फाग मचा है,
भर गये मोती के झाग,
जनों के मन लूटे हैं।

माथे अबीर से लाल,
गाल सेंदुर के देखे,
आँखें हुई हैं गुलाल,
गेरू के ढेले कूटे हैं।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[35]

खेलूंगी कभी न होली
उससे जो नहीं हमजोली।

यह आँख नहीं कुछ बोली,
यह हुई श्याम की तोली,
ऐसी भी रही ठठोली,
गाढ़े - रेशम की चोली—

अपने से अपनी धो लो,
अपना घूँघट तुम खोलो,
अपनी ही बातें बोलो,
मैं बसी परायी टोली।

जिनसे होगा कुछ नाता,
उनसे रह लेगा माथा,
उनसे हैं जोड़ूँ - जाँता,
मैं मोल दूसरे मोली।

[रचनाकाल : 22 जनवरी, 1950। 'प्रकाश', साप्ताहिक, पटना, 25 फरवरी, 1953, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[36]

प्यास लगी है, बुझाओ,
अमृत के घूंट पिलाओ।

समझा है अपना सपना है;
कुटिया में तपना-तपना है,
निठुर शीत-जल में कँपना है,
मुरझी आस जिलाओ—
अमृत के घूंट पिलाओ।

छूते कनक-किरन फूटेगी,
कड़ी अँधेरे की टूटेगी,
उर से कठिन भीति छूटेगी,
मूदा कमल खिलाओ—
अमृत के घूंट पिलाओ।

[रचनाकाल : 22 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[37]

केशर की, कलि की पिचकारी :
पात-पात की गात सँवारी।

राग - पराग - कपोल किये हैं,
लाल - गुलाल अमोल लिये हैं,
तरु-तरु के तन खोल दिये हैं,
आरती जोत - उदोत उतारी—
गन्ध - पवन की धूप धवारी।

गाये खग-कुल-कण्ठ गीत शत,
सङ्ग मृदङ्ग तरङ्ग - तीर - हत,
भजन मनोरञ्जन-रत अविरत,
राग-राग को फलित किया री—
विकल-अङ्ग कल गगन-विहारी।

[रचनाकाल : 22 जनवरी, 1950। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 11 फरवरी, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[38]

बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !

यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव, बन्धु !

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सबकी सुनती थी, सहती थी,
देती थी सबके दाँव, बन्धु !

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[39]

गिरते जीवन को उठा दिया
तुमने कितना धन लुटा दिया !

सूखी आशा की विषम फाँस,
खोलकर साफ की गाँस-गाँस,
छन-छन, दिन-दिन, फिर मास-मास
मन की उलझन से छुटा दिया।

बैठाला ज्योतिर्मुख करकर,
खोली छवि तमस्तोम हरकर,
मानस को मानस में भरकर,
जन को जगती से खुटा दिया।

पञ्जर के निर्जर के रथ से,
सन्तुलिता को इति से, अथ से,
वरने को, वारण के पथ से,
काले तारे को टुटा दिया।

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[40]

धीरे-धीरे हँसकर आयीं,
प्राणों की जर्जर परछाईं।

छाया-पथ घनतर से घनतम,
होता जो गया पङ्क-कर्दम,
ढकता रवि आँखों से सत्तम,
मृत्यु की प्रथम आभा भायीं।

क्या गले लगाना है बढ़कर,
क्या अलख जगाना अड़-अड़कर,
क्या लहराना है झड़-झड़कर,
जैसे तुम कहकर मुसकायीं।

पिछले कुल खेल समाप्त हुए,
जो नहीं मिले वर प्राप्त हुए,
बीसों विष जैसे व्याप्त हुए,
फिर भी न कहीं तुम घबरायीं।

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[41]

निविड़ विपिन, पथ अराल;
भरे हिंस्र जन्तु-व्याल।

मारे कर अन्धकार,
बढ़ता है अनिर्वार,
द्रुम-वितान, नहीं पार,
कैसा है जटिल जाल।

नहीं कहीं सुजलाशय,
सुस्थल गृह, देवालय,
जगता है केवल भय,
केवल छाया विशाल।

अन्धकार के दृढ़ कर
बँधा जा रहा जर्जर,
तन उन्मीलन निःस्वर,
मन्द्र-चरण मरण-ताल।

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, मई, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[42]

सुरतरु वर शाखा
खिली पुष्प भाषा।

मीलित नयनों जपकर
तन से क्षण-क्षण तपकर
तनु के अनुपात प्रखर,
पूरी अभिलाषा।

बरसे नव वारिद वर,
द्रुम पल्लव-कलि-फलभर
आनत हैं अवनी पर
जैसी तुम आशा।

भावों के दल, ध्वनि, रस
भरे अधर-अधर सुवश,
उभरे, उर-मधुर परस,
हँसी केश-पाशा।

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[43]

तुम ही हुए रखवाल
तो उसका कौन न होगा ?
फूली - फली तरु - डाल
तो उसका कौन न होगा ?

कान पड़ी है खटाई
तो उसकी कौन मिताई
और हिये जयमाल
तो उसका कौन न होगा ?

जिसने किया है किनारा
उसी का दलबल हारा,
और हुए तुम ढाल
तो उसका कौन न होगा ?

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[44]

वेदना बनी :
मेरी अवनी ।

कठिन - कठिन हुए मृदुल
पद - कमल विपद संकुल
भूमि हुई शयन - तुमुल
कण्टकों घनी ।

तुमने जो गही बाँह,
वारिद की हुई छाँह,
नारी से हुई नाह,
सुकृत जीवनी ।

पार करो यह सागर
दीन के लिए दुस्तर,
करुणामयि, गहकर कर,
ज्योतिर्धमनी ।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950 । 'नई धारा', मासिक, पटना, मई, 1950, में प्रकाशित । **अर्चना** में संकलित]

[45]

आँख बचाते हो
तो क्या आते हो ?

काम हमारा बिगड़ गया
दिखा रूप जब कभी नया;
कहाँ तुम्हारी महा दया ?
क्या क्या समझाते हो ?—
आँख बचाते हो ।

लीक छोड़कर कहाँ चलूँ ?
दाने के बिना क्या तलूँ ?
फूला जब नहीं क्या फलूँ ?
क्या हाथ बटाते हो ? —
आँख बचाते हो ।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[46]

हरि का मन से गुणगान करो,
तुम और गुमान करो, न करो ।
स्वर-गङ्गा का जल पान करो,
तुम अन्य विधान करो, न करो ।

निशिवासर ईश्वर ध्यान करो,
तुम अन्य विमान करो, न करो ।
ठग को जग - जीवन - दान करो,
तुम अन्य प्रदान करो, न करो ।

दुख को निशि का अवसान करो,
उपमा, उपमान करो, न करो ।
प्रिय नाह की बाँह का थान करो,
तुम और वितान करो, न करो ।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[47]

खुलकर गिरती है
जो, उड़ती फिरती है ।

ऐसी ही एक बात चलती है,
घात खड़ी-खड़ी हाथ मलती है,
तभी सह - सही दाल गलती है
(जो) तिरती-तिरती है।

काम इशारा नहीं आया तो
जैसी माया हो, छाया हो।
मुसकाया, मन को भाया जो,
उससे सिरती है।

विगलित जो हुआ दाप से दर
प्राणों को मिला शाप से वर;
गिरि के उर से मृदु-मन्द्र-स्वर,
सरिता झिरती है।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[48]

नव तन कनक-किरण फूटी है।
दुर्जय भय - बाधा छूटी है।

प्रात धवल - कलि गात निरामय
मधु मकरन्द - गन्ध विशदाशय,
सुमन-सुमन, वन-मन अमरण-क्षय,
सिर पर स्वर्गाशिस टूटी है।

वन के तरु की कनक - बान की
बल्ली फैली तरुण - प्राण की,
निर्जल - तरु - उलझे वितान की
गत - युग की गाथा छूटी है।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[49]

घन तम से आवृत धरणी है;
तुमुल तरङ्गों की तरणी है।

मन्दिर में बन्दी हैं चारण,
चिघर रहे हैं वन में वारण,
रोता है बालक निष्कारण,
बिना-सरण-सारण भरणी है।

शत संहत आवर्त - विवर्तों
जल पछाड़ खाता है पर्तों
उठते हैं पहाड़, फिर गर्तों
धँसते हैं, मारण - रजनी है।

जीर्ण - शीर्ण होकर जीती है,
जीवन में रहकर रीती है,
मन की पावनता पीती है,
ऐसी यह अकाम सरणी है।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[50]

नव जीवन की बीन वजायी।
प्रात रागिनी क्षीण वजायी।

घर - घर नये - नये मुख, नव कर,
भरकर नये - नये गुञ्जित स्वर,
नर को किया नरोत्तम का वर,
मीड़ अनीड़ नवीन वजायी।

वातायन - वातायन के मुख
खोली कला विलोकन - उत्सुक,
लोक - लोक आलोक, दूर दुख,
आगम - रीति प्रवीण वजायी।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[51]

पाप तुम्हारे पाँव पड़ा था,
हाथ जोड़कर ठाँव खड़ा था।

विगत युगों का जङ्ग लगा था,
पहिया चलता न था, रुका था,
रगड़ कड़ी की थी, सँवरा था,
पथ चलने का काम बड़ा था।

जड़ता की जड़ तक मारी थीं,
ऐसी जगने की बारी थी,
मञ्जिल भी थककर हारी थी,
ऐसे अपने नाँव चढ़ा था।

सभी उहार उतार दिये थे,
फिर से पट्टे श्वेत सिये थे,
तीन - तीन के एक किये थे,
किसी एक अपवर्ग मढ़ा था।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[52]

तन, मन, धन वारे हैं :
परम - रमण, पाप-शमन,
स्थावर - जङ्गम - जीवन;
उद्दीपन, सन्दीपन,
सुनयन रतनारे हैं।

उनके वर रहे अमर
स्वर्ग-धरा पर सञ्चर,
अक्षर - अक्षर अक्षर,
असुर अमित मारे हैं।

दूर हुआ दुरित, दोष
गूँजा है विजय - घोष,
भक्तों के आशुतोष,
नभ - नभ के तारे हैं।

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[53]

वे कह जो गये कल आने को,
सखि, बीत गये कितने कल्पों।
खग-पाँख-मढ़ी मृग-आँख लगी,
अनुराग जगी दुख के तल्पों।

उनकी जो रही, बस की न कही,
रस की रसना अशना न रही,
विपरीत की टेक न एक सही,
दिन बीत चले अल्पों-अल्पों।

उनकी जय उर-उर भय भसका,
उनके मग में जग-जय मसका,
उनके डग से कुछ क्षय धसका,
पर दरस गये जल्पों-जल्पों।

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[54]

क्यों मुझको तुम भूल गये हो ?
काट डाल क्या, मूल गये हो।

रवि की तीव्र किरण से पीकर
जलता था जब विश्व प्रखरतर,
तुम मेरे छाया के तरु पर
डाल पवन से धूल गये हो।

विफल हुई साधना देह की,
असफल आराधना स्नेह की,
बिना दीप की रात गेह की,
उल्टे फलकर फूल गये हो।

नहीं ज्ञात, उत्पात हुआ क्यों,
ऐसा निष्ठुर घात हुआ क्यों,
विमल-गात अस्नात हुआ क्यों,
बढ़ने को प्रतिकूल हो गये ?

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[55]

तुम से जो मिले नयन
दूर हुए दुरित-शयन।

खिले अङ्ग-अङ्ग अमल
सर के प्रातः-शतदल
पावन-पवनोत्कल-पल,
अलक-मन्द-गन्ध-वयन।

खग-कुल-कल-कण्ठ-राग
फूटे नग, नगर बाग,
अधर-विधुर छुटे दाग,
कर-कर सित-सुमन-चयन।

अखिल के न खिले हुए,
खुले हिले-मिले हुए,
एक ताग सिले हुए
आये हो एक अयन।

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[56]

वन-वन के झरे पात,
नग्न हुई विजन-गात,

जैसे छाया के क्षण,
हँसा किसी को उपवन
अब कर-पुट विज्ञापन,
क्षमापन, प्रपन्न प्रात।

करुणा के दान - मान,
फूटे नव पत्र - गान,
उपवन-उपवन समान
नवल-स्वर्ण-रश्मि-जात।

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[57]

मानव का मन शान्त करो हे !
काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ से
जीवन को एकान्त करो हे !

हिलें वासना-कृष्ण-तृष्ण उर,
खिलें विटप छाया-जल-सुमधुर,
गूँजे अलि-गुञ्जन के नूपुर,
निज-पुर-सीमा-प्रान्त करो हे !

विहग-विहग नव गगन हिला दे,
गान खुले-कण्ठ-स्वर गा दे,
नभ-नभ कानन-कानन छा दे,
ऐसे तुम निष्क्रान्त करो हे !

रूखे - मुख की रेखा सोये,
फूट - फूटकर माया रोये,
मानस-सलिल-मलिनता धोये,
प्रपि मग से आक्रान्त करो हे !

[रचनाकाल : 26 जनवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[58]

जीवन के मधु से भर दो मन,
गन्ध विधुर कर दो नश्वर तन,
मोह मदिर चितवन को चेतन,
आत्मा को प्रकाश से पावन।

अन्धकार के अन्तराल को
दूर करो, तनु आलबाल को
शक्ति सलिल से सींच-सींचकर
फेरो अपनी ओर खींचकर।

जग की दुर्दम बाधाओं से
मुझे बचाओ तुम, नाओं से
जैसे स्रोत - भँवर को तरकर
नाविक खे लाते हैं अक्षर।

मेरा पथ आलोकित कर दो,
प्राणों में नव स्पन्दन भर दो।

[सम्भावित रचनाकाल : जनवरी, 1950 का अन्तिम सप्ताह। 'साहित्यकार', मासिक, इलाहाबाद, मई, 1955, में प्रकाशित । **आराधना** में संकलित]

[59]

तुमने स्वर के आलोक - ढले
गाये हैं गाने गले - गले।

बचकर भव की भंगुरता से
रागों के सुमनों से बासे
रँग-रेणु-गन्ध के वे भासे
मीड़ों के नीड़ों से निकले।

नश्वरता पर सस्वर छाये
जैसे पल्लव के दल आये,
वन के वसन्त के मन भाये
जैसे जन बैठे छाँह-तले।

बोले, अब अपना पथ सूझा,
भूला जीवन-प्रकरण बूझा,
प्रबल से प्रबलतर अरि जूझा,
रोके जो सहसा चक्र चले।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[60]

लिया-दिया तुमसे मेरा था,
दुनिया सपने का डेरा था।

अपने चक्कर से कुल कट गये,
काम की कला से हट हट गये,
छापे से तुम्हीं निपट पट गये,
उलटा जो सीधा ढेरा था।

सही आँख तुम्हीं दिखे पहले,
नहले पर तुम्हीं रहे दहले,
बहते थे जितने थे बहले,
किसी जीभ तुमको टेरा था।

तभी किनारे लगा दिया है,
जहाँ करारा गिरा दिया है,
कैसा तुमने तरा दिया है,
गहरा भँवरों का फेरा था।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[61]

गीत गाने दो मुझे तो,
वेदना को रोकने को।

चोट खाकर राह चलते
होश के भी होश छूटे,
हाथ जो पाथेय थे, ठग-
ठाकुरों ने रात लूटे,
कण्ठ रुकता जा रहा है,
आ रहा है काल देखो।

भर गया है जहर से
संसार जैसे हार खाकर,
देखते हैं लोग लोगों को
सही परिचय न पाकर,
बुझ गयी है लौ पृथा की,
जल उठो फिर सींचने को।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[62]

सहज - सहज कर दो :
सकलश रस भर दो।

ठग ठगकर मन को
लूट गये धन को,
ऐसा असमंजस, धिक
जीवन - यौवन को :
निर्भर हूँ, वर दो।

जगज्जाल छाया,
माया ही माया,
सूझता नहीं है पथ
अन्धकार आया;
तिमिर - भेद शर दो।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[63]

वासना - समासीना
महती जगती दीना।

जलद - पयोधर - भारा,
रवि - शशि - तारक - हारा,
व्योम - मुखच्छविसारा
शतधारा पथ - हीना।

ऋषिकुल - कल - कण्ठस्तुति,
दिव्य - शस्य - सकलाहुति,
निगमागम - शास्त्रश्रुति
रासभ - वासव - वीणा।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[64]

ये दुख के दिन
काटे हैं जिसने
गिन - गिनकर
पल - छिन तिन - तिन।
आँसू की लड़ के मोती के
हार पिरोये,
गले डालकर प्रियतम के
लखने को शशिमुख
दु:खनिशा में
उज्ज्वल अमलिन।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित।

[65]

कुञ्ज - कुञ्ज कोयल बोली है,
स्वर की मादकता घोली है।

काँपा है घेन पल्लव - कानन,
गूँजी गुहा श्रवण - उन्मादन,
तने सहज छादन - आच्छादन,
नस ने रस - वशता तोली है।

गृह - वन जरा - मरण से जीकर
प्राणों का आसव पी - पीकर
झरे पराग - गन्ध - मधु - शीकर,
सुरभित पल्लव की चोली है।

तारक - तनु रवि के कर सञ्चित,
नियमित अभिसारक जीवित सित,
आमद - पद - भर मञ्जु-गुञ्जरित,
अलिका की कलिका डोली है।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[66]

हार तुमसे बनी है जय,
जीत की जो चक्षु में क्षय।

विषम कम्पन बली के उर,
सदुन्मोचन छली के पुर,
कामिनी के अकल नूपुर,
भामिनी के हृदय में भय।

रच गये जो अधर अनरुण,
बच गये जो विरह - सकरुण,
अनसुने जो सच गये सुन,
जो न पाया, मिला आशय।

क्षणिकता चिर-धनिक की है,
पणिकता जग-वणिक की है,
राशि जैसे कणिक की है,
वाम जैसे है निरामय।

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[67]

अट नहीं रही है
आभा फागुन की तन
सट नहीं रही है।

कहीं साँस लेते हो,
घर-घर भर देते हो,
उड़ने को नभ में तुम
पर - पर कर देते हो,
आँख हटाता हूँ तो
हट नहीं रही है।

पत्तों से लदी डाल
कहीं हरी, कहीं लाल,
कहीं पड़ी है उर में
मन्द-गन्ध-पुष्प - माल,
पाट - पाट शोभा-श्री
पट नहीं रही है।

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[68]

कौन गुमान करो जिन्दगी का ?
जो कुछ है कुल मान उन्हीं का।

बाँधे हुए घर - बार तुम्हारे,
माथे है नील का टीका,
दाग़ - दाग़ कुल अङ्ग स्याह हैं,
रङ्ग रहा है फीका—
तुम्हारा कोई न जी का।

एक भरोसा, एक सहारा,
वारा - न्यारा बन्दगी का,
ज्ञान गठा कब, मान हुआ कब,
ध्यान गया जब पी का,
बना कब आन किसी का ?

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[69]

छोड़ दो, न छेड़ो टेढ़े,
कब बसे तुम्हारे खेड़े ?

यह राह तुम्हारी कब की,
जिसको समझे हम सब की ?
ग़म खा जाते हैं अब की,
तुम खबर करो इस ढब की,
हम नहीं हाथ के पेड़े।

सब जन आते - जाते हैं,
हँसते हैं, बतलाते हैं,
आपस में इठलाते हैं,
अपना मन बहलाते हैं,
तुमको खेने हैं बेड़े।

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[70]

प्रिय के हाथ लगाये जागी,
ऐसी मैं सो गयी अभागी।

हरसिंगार के फूल झर गये,
कनक रश्मि से द्वार भर गये,
चिड़ियों के कल कण्ठ मर गये,
भस्म रमाकर चला विरागी।

शिशु-गण अपने पाठ हुए रत,
गृही निपुण गृह के कर्मों नत,
गृहिणी स्नान-ध्यान को उद्यत,
भिक्षुक ने घर भिक्षा माँगी।

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[71]

तार - तार निकल गये,
देखा जब नये - नये।

तड़के जो गठे बन्द,
काँपा उर मधुर छन्द,
गूँजी ध्वनि मन्द - मन्द,
देह हुई शिथिल अये !

आँखों की खुली गली,
मिली कलित - गन्ध कली,
भीतर जो रही छली,
अङ्ग सुरभि - रङ्ग छये।

बन्द हो गया प्रलाप,
प्रशमित हो गया ताप,
धुला - धुला मिला पाप,
किरण - मुखर मुख उनये।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[72]

लघु तटिनी, तट छायीं कलियाँ;
गूँजी अलियों की आवलियाँ।

तरियों की परियाँ हैं जल पर,
गाती हैं खग-कुल-कल-कल-स्वर,
तिरती हैं सुख - सुकर पङ्ख - भर,
रूम घूमकर सुघर मछलियाँ।

जल - थल - नभ आनन्द - भास है,
किसी विश्वमय का विकास है,
सलिल - अनिल ऊर्मिल विलास है,
निस्तल - गीति-प्रीति की तलियाँ।

परिचय से सञ्चित सारा जग,
राग - राग से जीवन जगमग,
सुख के उठते हैं पुलकित डग,
रह जाती हैं अपल पुतलियाँ।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[73]

हार गयी मैं तुम्हें जगाकर,
धूप चढ़ी प्रखर से प्रखरतर।

वर्जन के जो वज्र - द्वार हैं,
क्या खुलने के भी किवार हैं?
प्राण पवन से पार - पार हैं,
जैसे दिनकर निष्कर, निश्शर।

पञ्च विपञ्ची से विहीन हैं;
जैसे जन आयु से क्षीण हैं;
सभी विरोधाभास पीन हैं,
असमय के जैसे धाराधर।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[74]

तरणि तार दो
अपर पार को।

खे - खेकर थके हाथ,
कोई भी नहीं साथ,
श्रम-शीकर-भरा माथ,
बीच-धार, ओ!

पार किया तो कानन,
मुरझाया जो आनन,
आओ हे निर्वारण,
बिपत वार लो ।

पड़ी भँवर-बीच नाव,
भूले हैं सभी दाँव,
रुकता है नहीं राव—
सलिल-सार, ओ !

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[75]

गीत गाये हैं मधुर - स्वर,
किरण-कर वीणा नवलतर।

ताकते हैं लोग, आये
कहाँ तुम, कैसे सुहाये,
अनन्तर अन्तर समाये,
कठिन छिपकर, सहज खुलकर।

कान्त है कान्तार दुर्मिल,
सुधर स्वर से अनिल ऊर्मिल
भीड़ से शत - मोह घूर्मिल,
तार से तारक, कलाधर।

छा गया जैसे अखिल भव,
द्रुमों से जागा यथा दव,
ऋतु-कुसुम से गन्ध, आसव,
उषा से जैसे कनक - कर।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950 । 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 2 जुलाई, 1950, में प्रकाशित । **अर्चना** में संकलित]

[76]

हँसो अधर - धरी हँसी,
बसो प्राण - प्राण - बसी।

करुणा के रस उर्वर
कर दो ऊसर - ऊसर,
दुख की सन्ध्या धूसर
हीरक - तारकों - कसी।

मोह छोह से भर दो,
दिशा देश के स्वर हो,
परास्पर्श दो पर को,
शरण वरण - लास - लसी।

चरण मरण - शयन - शीर्ण,
नयन ज्ञान - किरण - कीर्ण,
स्नेह देह - दहन - दीर्ण,
रहन विश्व - वास - फँसी।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[77]

कठिन यह संसार, कैसे विनिस्तार?
ऊर्मि का पाथार कैसे करे पार?

अयुत भंगुर तरङ्गों टूटता सिन्धु,
तुमुल-जल-बल-भार, क्षार-तल, कुल बिन्दु,
तट-विटप लुप्त, केवल सलिल-संहार।

ऋतु-वलय सकल शय नाचते हैं यहाँ,
देख पड़ता नहीं, आँचते हैं यहाँ,
सत्य में झूठ, कुहरा-भरा संभार।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[78]

नील जलधि जल,
नील गगन - तल
नील कमल - दल
नील नयन द्वय।

नील मृत्ति पर,
नील मृत्यु - शर,
नील अनिल - कर,
नील निलय - लय।

नील मोर के
नील नृत्य रे,
नील कृत्य से
नील शवाशय।

नील कुसुम-मग,
नील नग्न-नग,
नील शील-जग,
नील कराभय।

[रचनाकाल : 11 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[79]

क्या सुनाया गीत, कोयल!
समय के समधीत, कोयल!

मञ्जरित हैं कुञ्ज, कानन,
जानपद के पुञ्ज - आनन,
वर्ष के कर हर्ष के शर
बिंध गया है शीत, कोयल!

कामना के नयन वञ्चित,
रुचिर रचनाकरों - सञ्चित,
मधुर मधु का तथ्य, अथवा
पथ्य है नवनीत, कोयल !

[रचनाकाल : 11 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[80]

भजन कर हरि के चरण, मन !
पार कर मायावरण, मन !

कलुष के कर से गिरे हैं
देह - क्रम तेरे फिरे हैं,
विपथ के रथ से उतरकर
बन शरण का उपकरण, मन !

अन्यथा है वन्य कारा
प्रबल पावस, मध्य धारा,
टूटते तन से पछड़कर
उखड़ जायेगा तरण, मन !

[रचनाकाल : 11 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[81]

अनमिल - अनमिल मिलते
प्राण, गीत तो खिलते।

उड़ती हैं छुट - छुटकर
आँखें मन के नभ पर
और किसी मणि के घर
झिलमिल सुख से हिलते।

किससे मैं कहूँ व्यथा—
अपनी जित -विजित कथा ?
होगी भी अनन्यथा
छन की लौ के झिलते ?

[रचनाकाल : 11 फरवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[82]

मुदे नयन, मिले प्राण,
हो गया निशावसान।

जगते - जग के कलरव
सोये, उर के उत्सव
मन्द हुए स्पन्दित जव,
मिले कण्ठ - कण्ठ गान।

एक हुए दोनों वर,
ईश्वर के अविनश्वर,
पार हुए घर - प्रान्तर,
अन्तर में निरवमान !

ज्ञान - सूत्र में मिलकर,
स्वर्ग से चढ़े ऊपर,
जहाँ नहीं नर, न अमर—
सुन्दरता का विधान।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[83]

जननि, मोह की रजनी
पार कर गयी अवनी।

तोरण - तोरण साजे,
मङ्गल - बाजे बाजे,
जन - गण - जीवन राजे,
महिलाएँ बनीठनीं।

साड़ी के खिले मोर
रेशम के हिले छोर,
शिञ्जित हैं बोर - बोर,
चमकी है कनी - कनी।

क्षिति पर हैं लौह - यान,
गगन विकल हैं विमान,
थल पर है उथल - पुथल,
जल पर तैरी तरणी।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[84]

उनसे संसार,
भव - वैभव - द्वार।

समझो वर निर्जर रण;
करो वार वार स्मरण,
निराकार करण - हरण,
शरण, मरण पार।

रवि की छवि के प्रभात,
ज्योति के अदृश्य गात,
गन्ध - मन्द - पवन - जात,
उर - उर के हार।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना में** संकलित]

[85]

मधुर स्वर तुमने बुलाया,
छद्म से जो मरण आया।

बो गयी विष वायु पच्छिम,
मेघ के मद हुई रिमझिम,
रागिनी में मृत्यु: द्रिमद्रिम,
तान में अवसान छाया।

चरण की गति में विरत लय,
साँस में अवकाश का क्षय,
सुषमता में असम सञ्चय,
वरण में निश्शरण गाया।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, जून, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[86]

गवना न करा।
खाली पैरों रास्ता न चला।

कँकरीली राहें न कटेंगी,
बेपर की बातें न पटेंगी,
काली मेघनियाँ न फटेंगी,
ऐसे-ऐसे तू डग न भरा।

कुछ भी न बता तू रहा पता,
सपने - सपने दे रहा धता,
जो पूरा - पूरा माल - मता,
मुरझा न जायगा बाग़ हरा।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[87]

कैसे हुई हार तेरी निराकार,
गगन के तारकों बन्द हैं कुल द्वार ?

दुर्ग दुर्धर्ष यह तोड़ता है कौन ?
प्रश्न के पत्र, उत्तर प्रकृति है मौन;
पवन इङ्गित कर रहा है—निकल पार।

सलिल की ऊर्मियों हथेली मारकर
सरिता तुझे कह रही है कि कारगर
बिपत से वारकर जब पकड़ पतवार।

क्षिति के चले सीत कहते बिनत भाव—
जीवन बिना अन्न के है विपन्नाव;
कैसे दुसह द्वार से करे निर्वार ?

[रचनाकाल : 13 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[88]

तुम आये, कनकाचल छाये,
ऐ नव-नव किसलय फैलाये।
शतशत वल्लरियाँ नत-मस्तक,
झुककर पुष्पाधर मुसकाये।

परिणय अगणन यौवन-उपवन,
संकुल फल के गुञ्जन भाये;
मधु के पावन सावन सरसे,
परसे जीवन-वन मुरझाये।

रवि-शशि-मण्डल, तारा-ग्रह-दल
फिरते पल-पल दृग-दृग छाये,
मूर्छित गिरकर जो अनृत अकर,
सुषमा के वर सर लहराये।

[रचनाकाल : 13 फरवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, जून, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[89]

खोले अमलिन जिस दिन
नयन विश्वजन के,
दिखी भारती की छवि,
बिके लोग धन के।

तन की छुट गयी सुरत,
रुके चरण मायामत,
रोग - शोक - लोक वितत
उठे नये रण के।

तटिनी के तीर खड़े
खम्भे थे, वीर बड़े,
मेरु के करार चढ़े,
श्रम के यौवन के।

[रचनाकाल : 13 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[90]

तू दिगम्बर, विश्व है घर
ज्ञान तेरा सहज वर कर।
शोकसारण करणकारण,
तरणतारण विष्णु-शङ्कर।

अमित सित के असित चित के,
त्वरित हित के राम वा नर,
लक्षणासन सङ्ग लक्ष्मण
वासनारण - प्रहर - खर - शर।

गति अनाहत, तू सखा मत,
सहज संयत, रे अकातर,
ध्यान के सम्मान में रत
ज्ञान के शतपथ - चराचर।

[रचनाकाल : 13 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[91]

कौन फिर तुझको बरेगा
तू न जब उस पथ मरेगा ?

निखिल के शर शत्रु हनकर,
क्षत भले कर क्षत्र बनकर,
तू चला जब तक न तनकर,—
धर्म का ध्वज कर न लेगा।

देश के अवशेष के रण
शमन के प्रहरण दिया तन
तो हुआ तू शरणशारण,
विश्व तेरे यश भरेगा।

मिलेंगे जन अशङ्कित मन
खिलेंगे निश्शेष - चेतन,
विषद - वासों के विभूषण,
चरण के तल, तू तरेगा।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[92]

हरिण-नयन हरि ने छीने हैं।
पावन रँग रग-रग भीने हैं।

जिती न-चहती माया महती,
बनी भावना सहती - सहती,
भीतर धँसी साधना बहती,
सिले छेद जो तन सीने हैं।

जाने जन जो मरे जिये थे,
फिरे सुकृत जो लिये दिये थे,
हुए हिये जो मान किये थे,
पटे सुहसन, वसन झीने हैं।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[93]

हुए पार द्वार-द्वार
कहीं मिला नहीं तार।

विश्व के समाराधन
हँसे देखकर उस क्षण,
चेतन जनगण अचेत
समझे क्या जीत हार?

काँटों से विक्षत पद,
सभी लोग अवशम्वद,
सूख गया जैसे नद
सुफलभार सुजलधार।

केवल है जन्तु-कवल
गयी तन्तु नवल-धवल
छुटा छोर का सम्बल,
टूटा उर-सुघर हार।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[94]

पथ पर बेमौत न मर,
श्रम कर तू विश्रम-कर।

उठा उठा करद हाथ,
दे दे तू वरद साथ,
जग के इस सजग प्रात
पात-पात किरनें भर।

बढ़ा बढ़ा कर के तन,
जगा जगा निश्चेतन,
भगा भीरु जीवन-रण
सर-सर से उभर सुघर।

चलते चलते छुटकर
द्रुम की मधुलता उतर
विधुर स्पर्श कर पथ पर
युवा-युवतियों के सर।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[95]

कनक कसौटी पर कढ़ आया
स्वच्छ सलिल पर कर की छाया।

मान गये जैसे सुनकर जन
मन के मान अवश्रित प्रवचन,
जो रणमद पद के उत्तोलन,
मिलते ही काया से काया।

चले सुपथ सत्य को सँवरकर
उचित बचा लेने को टक्कर,
तजने को जीवित अनिश्वर,
मिलती जो माया से माया।

वाद - विवाद गाँठकर गहरे
बायें सदा छोड़कर बहरे,
कथा व्यथा के, गाँव न ठहरे,
सत् होकर जो आया, पाया।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[96]

साध पुरी, फिरी धुरी।
छुटी गैल-छैल-छुरी।

अपने वश हैं सपने,
सुकर बने जो न बने,
सीधे हैं कड़े चने,
मिली एक एक कुरी।

सबकी आँखों उतरे
साख-साख से सुथरे,
सुए के हुए खुथरे
ऊपर से चली खुरी।

सज-धजकर चले-चले
भले - भले गले - गले
थे जो इकले-दुकले
बातें थीं भली-बुरी।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[97]

पतित हुआ हूँ भव से तार;
दुस्तर दव से कर उद्धार।

तू इङ्गित से विश्व अपरिमित,
रच-रचकर करती है अवसित,
किस काया से किस छायाश्रित,
मैं बस होता हूँ बलिहार।

समझ में न आया तेरा कर
भर देगा या ले लेगा हर,
सीस झुकाकर उन चरणोंपर,
रहता हूँ भय से इस पार।

रुक जाती है वाणी मेरी,
दिखती है नादानी मेरी,
फिर भी मति दीवानी मेरी,
कहती है, तू ठेक उतार।

[रचनाकाल : 16 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[98]

पतित पावनी, गंगे !
निर्मल-जल-कल-रंगे !

कनकाचल-विमल धुली,
शत-जनपद-प्रगद-खुली,
मदन-मद न कभी तुली
लता-वारि-भ्रू - भंगे !

सुर-नर-मुनि-असुर-प्रसर
स्तव रव-बहु गीत-विहर
जल-धारा - धाराधर—
मुखर, सुकर-कर-अंगे !

[रचनाकाल : 16 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[99]

चरण गहे थे, मौन रहे थे,
विनय वचन बहु-रचन कहे थे।

भक्ति-आँसुओं पद पखारकर,
नयन-ज्योति आरति उतारकर,
तन-मन-धन सर्वस्व वारकर,
अमर-विचाराधार बहे थे।

आस लगी है जी की जैसी
खण्डित हुई तपस्या वैसी,
विरति सुरति में आयी कैसी,
कौन मान-उपमान लहे थे।

ठोकर गली गली की खायी
जगती से न कभी बन आयी,
रहे तुम्हारी एक सगायी,
इसीलिए कुल ताप सहे थे।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[100]

विपद-भय-निवारण करेगा वही सुन,
उसी का ज्ञान है, ध्यान है मान-गुन।

वेग-चल, वेग चल, आयु घटती हुई,
प्रमुद-पद की सुखद वायु कटती हुई;
जल्पना छोड़ दे जोड़ दे ललित धुन।

सलिल में मीन है मग्न, मनु अनिल में
सीखने के लिए ज्ञान है अखिल में,
विमल अनवद्य की भावना सद्य चुन।

अन्यथा सकल आराधना शून्य है,
मृत्तिका भाप है, पाप भी पुण्य है,
भेद की आग में व्यर्थ अब तो न भुन।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[101]

श्याम-श्यामा के युगल पद
कोकनद मन के विनिर्मद।

हृदय के चन्दन सुखाशय,
नयन के वन्दन निरामय,
निश्शरण के निर्गमन के
गगन-छाया-तल सदाश्रय,
उषा की लाली लगे दुख के,
जगे के योग के गद।

नन्द के आनन्द के घन,
बाधना के साध्य-साधन,
शेष के अवशेष के फल
ज्योति के सम्वलित जीवन,
प्राण के आदान के बल,
मान के मन के वशम्वद।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[102]

काम के छवि-धाम
शमन प्रशमन राम !

सिन्धुरा के सीस
सिन्दूर, जगदीश,
मानव सहित-कीश,
सीता - सती - नाम।

अरि-दल-दलन-कारि,
शंकर, समनुसारि
पद-युगल-तट - वारि
सरिता, सकल याम।

शेष के तल्प कल
शयन अवशेष-पल,
चयन-कलि-गन्ध- दल
विश्व के आराम।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[103]

हे जननि, तुम तपश्चरिता,
जगत की गति, सुमति भरिता।

कामना के हाथ थककर
रह गये मुख विमुख बककर,
निःस्व के उर विश्व के सुर
बह चली हो तमस्तरिता।

विवश होकर मिले शङ्कर,
कर तुम्हारे है विजय वर,
चरण पर मस्तक झुकाकर
शरण हूँ, तुम मरण सरिता।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[104]

किरणों की परियाँ मुसका दीं।
ज्योति हरी छाया पर छा दीं।

परिचय के उर गूँजे नूपुर
थिर चितवन से चिर मिलनातुर
विष की शत वाणी से विच्छुर
गाँस गाँस की फाँस हिला दीं।

प्राणों की अञ्जलि से उड़कर
छा-छा कर ज्योतिर्मय अम्बर
बादल से ऋतु समय बदलकर
बूँदों से वेदना बिछा दीं।

पादप-पादप को चेतनतर
कर के फहराया केतनवर,
ऐसा गाया गीत अनश्वर,
कण के तन की प्यास बुझा दी।

[सम्भावित रचनाकाल : 1950 का पूर्वार्ध। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 11 जून, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[105]

तुम्हारी छाँह है, छल है;
तुम्हारे बाल हैं, बल है।

दृगों में ज्योति है, शय है,
हृदय में स्पन्द है, भय है।
गले में गीत है, लय है,
तुम्हारी डाल है, फल है।

उरोरुह राग है, रति है,
प्रभा है, सहज परिणति है,
सुतनुता छन्द है, यति है,
कमल है जाल है, जल है।

[सम्भावित रचनाकाल : फरवरी-अगस्त, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[106]

माँ, अपने आलोक निखारो,
नर को नरक-त्रास से वारो।

विपुल दिशावधि शून्य वर्गजन,
व्याधि-शयन जर्जर मानवमन,
ज्ञान-गगन से निर्जर जीवन
करुणाकरों उतारो, तारो।

पल्लव में रस, सुरभि सुमन में,
फल में दल, कलरव उपवन में,
लाओ चारु-चयन चितवन में,
स्वर्ग धरा के कर तुम धारो।

[सम्भावित रचनाकाल : फरवरी-अगस्त, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 18 मार्च, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[107]

चली निशि में तुम, आयीं प्रात;
नवल वीक्षण, नवकर सम्पात।

नूपुर के निक्वण कूजे खग,
हिले हीरकाभरण, पुष्प मग,
साँस समीरण, पुलकाकुल जग,
हिलते पग जलजात।

[सम्भावित रचनाकाल : फरवरी-अगस्त, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[108]

तपी आतप से जो सित गात,
गगन गरजे घन, विद्युत पात।

पलटकर अपना पहला ओर,
बही पूर्वा छू-छू कर छोर;
हुए शीकर से निश्शर कोर,
स्निग्ध शशि जैसे मुख अवदात।

[सम्भावित रचनाकाल : फरवरी-अगस्त, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[109]

मुक्तादल जल बरसो, बादल,
सरिसर कलकल सरसो, बादल !

शिखि के विशिख चपल नर्तन वन,
भरे कुञ्जद्रुम षटपद गुञ्जन,
कोकिल काकलि जित कल कूजन,
सावन पावन परसो, बादल !

अनियारे दृग के तारे द्वय,
गगन-धरा पर खुले असंशय,
स्वर्ग उतर आया था निर्भय,
छबि छबि से यों दरसो, बादल !

बदले क्षिति से नभ, नभ से क्षिति,
अमित रूपजल के सुख मुख मिति,
जीवन की जित-जीवन संचिति,
उत्सुक दुख-दुख हरसो, बादल !

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1950। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, जनवरी, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[110]

गगन गगन है गान तुम्हारा
घन घन जीवनयान तुम्हारा।

नयन नयन खोले हैं यौवन,
यौवन यौवन बाँधे सुनयन,
तन तन मन साधे मन मन तन,
मानव मानव मान तुम्हारा।

क्षिति को जल, जल को सित उत्पल,
उत्पल को रवि, ज्योतिर्मण्डल,
रवि को नील गगनतल पुष्कल,
विद्यमान है दान तुम्हारा।

बालों को क्रीड़ाप्रवाल हैं,
युवकों को तनु, कुसुम-माल हैं,
वृद्धों को तप, आलबाल हैं,
छुटा-मिला जप-ध्यान तुम्हारा।

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 3 सितम्बर, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[111]

बीन वारण के वरण घन
जो बजी वर्षित तुम्हारी,
तार तनु की नाचती उतरी
परी, अप्सरकुमारी।

लूटती रेणुओं की निधि।
देखती निज देश वारिधि,
बह चली सलिला अनवसित
ऊर्मिला, जैसे उतारी।

चतुर्दिक छन-छन छनन-छन,
बिना नूपुर के रणन-रण,
वीचि के फिर शिखर पर,
फिर गर्त पर, फिर सुध बिसारी।

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 3 सितम्बर, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[112]

घन आये, घनश्याम न आये।
जल बरसे आँसू दृग छाये।

पड़े हिंडोले, धड़का आया,
बढ़ी पैंग, घबरायी काया,
चले गले, गहराई छाया,
पायल बजे, होश मुरझाये।

भूले छिन, मेरे न कटे दिन,
खुले कमल, मैंने तोड़े तिन,
अमलिन मुख की सभी सुहागिन,
मेरे सुख सीधे न समाये।

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[113]

तपन से घन, मन शयन से,
प्रात-जीवन निशि-नयन से।

प्रमद आलस से मिला है,
किरण से जलरुह किला है,
रूप शङ्का से सुघरतर
अदर्शित होकर खिला है,
गन्ध जैसे पवन से, शशि
रविकरों से, जन अयन से।

[रचनाकाल : 15 अगस्त, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[114]

निर्झर केशर के शर के हैं,
मरकर जीवन के वर के हैं।

उभर - उभरकर पंखों वाली,
कलि-कलि से भर दी है डाली,
विश्व प्रकृति ने प्याला प्याली
खोली किरणों के कर से ऐं !

अकल दृष्टि है, अपना वैभव
देख रहे हैं सकल कलासव,
ढलते - ढलते हुए नित्य नव,
छुटे न छुटे हुए पर के हैं।

[रचनाकाल : जनवरी, 1951। **आराधना** में संकलित]

[115]

फूल खिले	...	नयन मिले
हृदय हिले	...	तरुणों के
पवन बही	...	सही-सही
सभी कहीं	...	यों झोंके
किसलय के	...	परिणय से
राग झरें	...	किरणों से
खगकुल ने	...	गाये हैं
कड़ियों में	...	गानों के।

['प्रदीप', मासिक, शिमला, 10 फरवरी, 1951 ('मदनोत्सव नाच-गीत' शीर्षक से)। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

[116]

गोरे अधर मुसकायी
हमारी वसन्त विदाई।

अङ्ग-अङ्ग बलखायी
हमारी वसन्त विदाई।

परिमल के निर्झर जो बहे ये,
नयन खुले कहते ही रहे ये—
जग के निष्ठुर घात सहे ये,
बात न कुछ बन पायी,
कहाँ से कहाँ चली आयी।

भाल लगा ऊषा का टीका,
चमका सहज सँदेसा पीका,
छूटा भय पतिपावन जी का,
फूटी तरुण अरुणाई,
कि छुट गयी और सगाई।

[रचनाकाल : मार्च, 1951। **आराधना** में संकलित]

[117]

कैसी सुहायी जुन्हाई
निशा में दिवा फिर आयी।

ऊँची कटारी अकास, चाँद मुख,
गोरे विभास लोग भूले दुख,
बह-बह आते हैं सौरभ-सुख,
फीके शीत क्षिति छायी—
हुई-न-हुई जो सगाई।

जी की धुन गूंजी वन-उपवन,
सूने सुख से सिहरे कानन,
खुले सपरिचय आनन-आनन,
जोत से जोत जगायी!
प्रीति की रीति रमायी।

['नई धारा', मासिक, पटना, अप्रैल-मई, 1951 ('होली' शीर्षक से)। असंकलित]

[118]

मुस्कुरा दीं रातरानी
खुली जैसे विश्ववाणी

ले चली है पवन चेरी
गन्ध की निरुपमित ढेरी
दिग्दिगन्तों अन्ध करती
श्रमिक लोगों की निवेरी
कह रही है देश के
उद्देश की कर्षक कहानी

विश्व की वह गन्ध दुर्दम
कौन जो होगी यहाँ सम
आ गयी फिर भी यहाँ जल—
ज्वार का जैसे समुद्गम
चढ़ाकर अपना उतारो
उपवनों से पान-पानी ।

['संगम,' साप्ताहिक, इलाहाबाद, 28 अक्तूबर, 1951 । **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

[119]

सभी तुम्हारे जीते, हारे।

बालपन, चपलता की गोद
किये तरह-तरह के विनोद,
छये सुखशर के आमोद
लाखों आँखों के तारे।

वेदना - नदी में दिन - रात
मारे बेचारों ने हाथ
पार किये जाने को साथ
विद्या के पाथ पसारे।

आज नदी जल बल घटता है
पौरुष का पुरुष पलटता है
ज्ञान मान-मानों बटता है
बिसरे गुण बिना बिसारे।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 11 नवम्बर, 1951। **आराधना में संकलित**]

[120]

दे सकाल, काल, देश
दिशावधि अशेष, शेष।

सोये जो कमल सलिल
कर सुहास - वास, अखिल,
खिलकर खोले दुर्मिल
मेल - मोल के सुकेश।

बिन्दु - वदन बने इन्दु
लहरे सुख - मुखर सिन्धु
इन्द्र एक केन्द्र - विन्दु
प्रात के विभात देश।

[रचनाकाल : 1951। **आराधना में संकलित**]

[121]

पद्मा के पद को पाकर हो
सविते, कविता को यह वर दो।
वारिज के दृग रवि के पदनख
निरख-निरखकर लहें अलख सुख,
चूर्ण - ऊर्मि - चेतन जीवन रख
हृदय - निकेतन स्वरमय कर दो।

एक दिवस के जीवन में जय
जरा - मरण - क्षय हो निस्संशय,
जागे करुणा, अक्षतपश्चय,
काल एक को सुकराकर हो।
मेरी अलक धूलिपग पोंछे,
श्रम शरीर का पलक अँगोछे,
उठें ऊर्ध्व मन से जो ओंछे,
मिलें निलय में एक प्रकर दो।

[रचनाकाल : 24 अगस्त, 1952। 'नई धारा', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1952, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[122]

दुख के सुख जियो, पियो ज्वाला,
शङ्कर की स्मर - शर की हाला।

शशि के लाञ्छन हो सुन्दरतर,
अभिशाप समुत्कल जीवन - वर
वाणी कल्याणी अविनश्वर
शरणों की जीवन - पण माला।

उद्वेल हो उठो भाटे से,
बढ़ जाओ घाटे - घाटे से।
ऐंठो कस आटे - आटे से,
भर दो जीकर छाला - छाला।

[रचनाकाल : 25 अगस्त, 1952। **आराधना** में संकलित]

[123]

धाये धाराधर धावन हे!
गगन - गगन गाजे सावन हे!

प्यासे उत्पल के पलकों पर
बरसे जल धर-धर-धर-धर-धर,
शीकर - शीकर से श्रम पीकर,
नयन - नयन आये पावन हे !

श्याम दिगन्त दाम - छबि छायी,
बही अनुत्कुण्ठित पुरवाई,
शीतलता - शीतलता आयी,
प्रियतम जीवन - मन भावन हे !

[रचनाकाल : 25 अगस्त, 1952। **आराधना** में संकलित]

[124]

आयीं कल जैसी पल
खिचे-खिचे रहे सकल।

स्यन्दन नभ से उतरा,
हुआ स्पन्द और खरा,
निखरी जो दृष्टि परा,
दिखे दिव्य नयनोत्पल।

काँपे दिग्वास तरुण,
लहरा निश्वास अरुण,
हुई धरा करुण - करुण,
जागा यौवन, मङ्गल।

[रचनाकाल : 25 अगस्त, 1952। **आराधना** में संकलित]

[125]

कमल - कमल युगपदतल,
नील सरोवर जल, थल।

ऊर्मिल मृदु गन्ध हास,
भू पर फैला प्रकाश,
छाया दिङ्मधुर वास,
प्रतिपल कलकल कलकल।

खुली हुई केशराशि,
दृष्टि राम-श्याम भासि,
जीवन की मरण-पाशि,
समाश्वासि काशी कल।

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। **आराधना** में संकलित]

[126]

मरा हूँ हजार मरण
पायी तब चरण-शरण।

फैला जो तिमिर-जाल
कट-कटकर रहा काल,
आँसुओं के अंशुमाल,
पड़े अमित सिताभरण।

जल-कलकल-नाद बढ़ा,
अन्तर्हित हर्ष कढ़ा,
विश्व उसी को उमड़ा,
हुए चारु-करण सरण,

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। **आराधना** में संकलित]

[127]

अरघान की फैल,
मैली हुई मालिनी की मृदुल शैल।

लाले पड़े हैं,
हजारों जवानों कि जानों लड़े हैं;
कहीं चोट खायी कि कोसों बढ़े हैं,
उड़ी आसमाँ को खुरीधूल की गैल--
अरघान की फैल।

काटे कटी काटते ही रहे तो,
पड़े उम्रभर पाटते ही रहे तो,
अधूरी कथाओं,
करारी व्यथाओं,
फिरा दीं जबानें कि ज्यों वाल में बैल।

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। **आराधना** में संकलित]

[128]

रँग रँग से यह गागर भर दो,
निष्प्राणों को रसमय कर दो।

माँ, मानस के सित शतदल को
रेणु - गन्ध के पङ्ख खिला दो,
जग को मङ्गल मङ्गल के पग
पार लगा दो, प्राण मिला दो;
तरु को तरुण पत्र - मर्मर दो।

खग को ज्योतिःपुञ्ज प्रात दो
जग - ठग को प्रेयसी रात दो,
मुझको कविता का प्रपात दो,
अविरत मारण - मरण हाथ दो,
बँधे परों के उड़ते वर दो!

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। 'पाटल', मासिक, पटना, नवम्बर, 1952, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[129]

छेड़ दे तार तू पुनर्वार
फिर हो अरण्य में चरणचार।

फिर घाटी-घाटी से बंधकर
वातुल घूमें झूमकर भँवर,
प्राणों की पावनता भरकर
खोले स्वर की सुन्दर विचार।

जङ्गम को जड़, जड़ को जङ्गम
कर दे, भर दे सम और विषम,
उठते गिरते स्वर के निरुपम
सरिगम तोड़ें दुर्दम चहार।

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। **आराधना** में संकलित]

[130]

आज मन पावन हुआ है,
जेठ में सावन हुआ है।

अभी तक दृग बन्द थे ये,
खुले उर के छन्द थे ये,
सजल होकर बन्द थे ये,
राम अहिरावण हुआ है।

कटा था जो पटा रहकर,
फटा था जो सटा रहकर,
डटा था जो हटा रहकर,
अचल था, धावन हुआ है।

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। 'अवन्तिका', मासिक, पटना, नवम्बर, 1952, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[131]

सुख के दिन भी याद तुम्हारी
की है, ली है राह उतारी।

उपवन में यौवन के निरलस
बैठी थी, तनमन विरस-विरस,
आये लाख बार बासे, बस
हुई दशा सारी की सारी।

मेरे मानस को उभारकर
अन्तर्धान हो गये सत्वर,
उठी अचानक मैं जैसे स्वर,
कोकिल की काकली सँवारी।

[रचनाकाल : 7 सितम्बर, 1952। 'पाटल', मासिक, पटना, जनवरी, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[132]

कृष्ण कृष्ण राम राम,
जपे हैं हजार नाम।

जीवन के लड़े समर,
डटे रहे, हारे स्तर,
स्मर के शर के मर्मर,
गये, पुनः जिते धाम।

ऐसे उत्थान - पतन,
भरा हुआ है उपवन,
प्राणों का गमागमन,
है प्रमाण से प्रणाम।

दिखे दिव्य सभी लोक
शोकहर विटप अशोक,
नैश चन्द्र और कोक,
आकर्षण या विराम।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[133]

ऊर्ध्व चन्द्र, अधर चन्द्र,
माझ मान मेघ मन्द्र।

क्षण-क्षण विद्युत् प्रकाश,
गुरु गर्जन मधुर भास,
कुज्झटिका अट्टहास,
अन्तर्दृग विनिस्तन्द्र।

विश्व अखिल मुकुल-बन्ध,
जैसे यतिहीन छन्द,
सुख की गति और मन्द,
भरे एक - एक रन्ध्र।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[134]

कामरूप, हरो काम;
जपूं नाम, राम, राम।

शवरी, गज, गणिकादिक,
हुए कृष्ट प्रासारिक,
पारिक, मैं सांसारिक,
अविधा हो व्यंग्यदाम।

गणता मेरी न गयी,
आयी फिर ज्योति नयी,
तरी दिव्यता उनई,
तेरी मेरी प्रकाम।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1952। 'प्रकाश', साप्ताहिक, पटना, 11 फरवरी, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[135]

हार गया,
ज्यों मैं उस पार गया।

जाना था नहीं, वह रहस्य क्या,
वहाँ कहीं अपना भी वश्य क्या,
भोजन को भूमि कहाँ, शस्य क्या ?
कोई मुझको यहाँ उबार गया—
मार गया,
हार गया।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1952। 'योगी', साप्ताहिक, पटना, 2 नवम्बर, 1957, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[136]

द्वार पर तुम्हारे,
खड़ा हुआ विश्व
कर पसारे।

ऐसी दयनीयता हुई है क्या,
फूली है, भीतरी रुई है क्या,
दुनिया में लड़े तो दुई है क्या,
बिसरा यह नहीं रे बिसारे।

समझौते समझौते चले गये,
सोचा है, तो हम कब छले गये,
उल्टा तो बिगड़े के भले गये,
हार गया परा जो न रे पारे।

[रचनाकाल : 15 सितम्बर, 1952। 'योगी, साप्ताहिक, पटना, 2 नवम्बर, 1957, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[137]

नील नील पड़ गये प्राण वे
जहाँ उठे थे शुभ्र गान वे।

जीवन की विजया से चढ़कर,
उड़े पताक सहित गढ़-गढ़ पर,
आज प्रहत निर्वात अपढ़ कर,
शिथिल हुए जो तान-मान वे!

तङ्ग हुआ पतङ्ग जलता है,
मानवदेव हाथ मलता है,
कैसा यह विरोध पलता है,
मौन हो रहे ज्ञान-ध्यान वे!

[रचनाकाल : 15 सितम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[138]

छोटा है तो जी छोटा कर,
कट गया समूह बड़ा सत्वर।

आखों के तिल में दिखा गगन,
वैसे कुल समा रहा है मन,
तू छोटा बन, बस छोटा बन,
गागर में आयेगा सागर।

जब भाप उड़ेगी उस जल की,
उस नभ की सागर है गगरी,
तू चला चले पकड़े डगरी,
यह पारावार कि य' परावर।

[रचनाकाल : 15 सितम्बर, 1952। 'योगी', साप्ताहिक, पटना, 2 नवम्बर, 1957, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[139]

साँझ के माझ के प्राण-धन धारिए,
पार को सार कर करके सँवारिए।
अपनी विभूति को राख यदि कर सके,
भाव-विभव तर सके, उत्तम सँवर सके,
जीवन-अरण्य में निर्भय विचर सके,
हर सके शोक, इतरों को उतारिये।
जन विपज्जन्य होकर अगर आपके;
शाप के, पाप के, ताप के, दाप के;
होंगे न वे कभी हृदय की नाप के,
उनसे समझकर उबरिए, उबारिए।

[रचनाकाल : 18 सितम्बर, 1952। 'पाटल', मासिक, पटना, दिसम्बर, 1952, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[140]

राम के हुए तो बने काम,
सँवरे सारे धन, धान, धाम।

पूछा जग ने, वह राम कौन ?
बोली विशुद्धि जो रही मौन,
वह जिसके दून, न ड्योढ़-पौन,
जो वेदों में है सत्य, साम।

वह सूर्य्यवंश सम्भूत तभी,
जीवन की जय का सूत तभी,
कृष्णार्जुन हारण पूत तभी,
जो चरण विचारण बिना दाम।

[रचनाकाल : 18 सितम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[141]

विपदा हरण हार हरि हे करो पार।
प्रणव से जो कुछ चराचर तुम्हीं सार।

तुम्हीं अविनाशी विहग व्योम के देश,
परिमित अपरिमाण में तुम हुए शेष,
सृष्टि में दृश्य रसरूप भोजन-वेश
फैलकर सिमटकर तुम्हीं हो निर्धार।

बहुविध तुम्हारा उपाख्यान गाया
फिर भी कहा अन्त अब भी न पाया,
मूर्त हो या स्फूर्त तुम कुछ न आया,
पदों पर दण्डप्रणाम के सम्भार।

[रचनाकाल : 18 सितम्बर, 1952। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, दिसम्बर, 1952, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[142]

दुखता रहता है अब जीवन;
पतझड़ का जैसा बन-उपवन।

झर-झरकर जितने पत्र नवल
कर गये रिक्त तनु का तरुदल,
हैं चिह्न शेष केवल सम्बल,
जिनसे लहराया था कानन।

डालियाँ बहुत-सी सूख गयीं,
उनकी न पत्रता हुई नयी,
आधे से ज्यादा घटा विटप
बीज को चला है ज्यों क्षण-क्षण।

यह वायु वसन्ती आयी है
कोयल कुछ क्षण कुछ गायी है,
स्वर में क्या भरी बुढ़ाई है,
दोनों ढलते जाते उन्मन।

[रचनाकाल : 19 सितम्बर, 1952। 'राका-4', मुजफ्फरपुर, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[143]

ओस पड़ी, शरद् आयी।
हरसिंगार मुसकायी।

बादल वे बदल गये,
कटे - छटे नये-नये,
नभ में आये, उनये,
बन्द हुई पुरवाई।

जुही आन - बान भरी,
चमेली जवान परी,
मालती खिली, निखरी,
शीत हवा सरसायी।

नद के उद्गार घटे,
निकले तट कटे-छटे;
गीले औ' कीचपटे,
फैली हल-चलवाई।

[रचनाकाल : 19 सितम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[144]

मेरी सेवा ग्रहण करो हे!

शुद्ध सत्व से क्षण-क्षण यह
काष्ठा से रहित शरीर भरो हे!

वारित करो भ्रमित मानव-मन,
स्थिर जैसे सुगन्धवासित तन,
तुम्हीं रहो बहते रहते कण,
तरे विश्व इस तरह तरो हे।

बहुत तुम्हारे मारे-मारे
फिरते हैं हारे बेचारे,
चेतन मधु-गन्ध के सहारे
उन्हें प्राण दो, मुझे हरो हे!

[रचनाकाल : 19 सितम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[145]

जब तू रचना में हँस दी
तूल-तूल के फूल खिले
पल्लव डोले--चिड़िया चहकी।

क्या गली-गली गुथ गयी रेणु,
ग्वाल के बाल की बजी वेणु,
हौली-हौर्ला बढ़ गयी धेनु,
चोली हमजोली की मसकी।

कुम्हलायी डाली हरियाई,
खुल-खुलकर तरु कोयल गायी,
बल खाती विपुल हवा आयी,
सौरभ-सौरभ धरती कसकी।

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित।

[146]

हिम के आतप के तप झुलसो,
नाम-वारि के वारिद हुलसो।

भीगे कठिन धरा निष्पावन,
चले चतुर्दिक हल अभिभावन,
बोये बीज सीझकर उलसो।

बढ़ें नये पौधे लह लहकर,
पुरवाई के झोंके सहकर,
थके नयन साधन-धन गहकर,
जीवन के सावन तुम सुलसो।

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 1 अगस्त, 1954, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[147]

नहीं रहते प्राणों में प्राण,
फूट पड़ते हैं निर्झर-गान।

कहाँ की चाप, कहाँ की भाप,
कहाँ का ताप, कहाँ का दाप,
कहाँ के जीवन के परिमाप,
नहीं रे ज्ञात कहाँ का ज्ञान।

सरित के बोल खुले अनमोल,
उन्हीं में मुक्ता-जल-कल्लोल,
एक सन्दीपन का हिन्दोल,
एक जीती प्रतिमा बहमान।

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[148]

दुख हर दे, जल-शीतल सर दे !
वरदे ! पावन उर को कर दे !

शून्य कोष ओसों से भर दे,
तरु को रश्मि, पत्र - मर्मर दे,
मौन तूलि को मूर्ति मुखर दे,
पग-पग को जग के डग तर दे !

पारण को गोधूम - चूर्ण, घृत,
सुरभि सुचारण को सौरभ-सृत,
निर्धारण को नाम अलंकृत,
मारण को कलि-कल्मष, वर दे !

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952 । 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 8 नवम्बर, 1953, में प्रकाशित । **आराधना** में संकलित]

[149]

सुख का दिन डूबे डूब जाय ।
तुमसे न सहज मन ऊब जाय ।

खुल जाय न मिली गाँठ मन की,
लुट जाय न उठी राशि धन की,
धुल जाय न आन शुभानन की,
सारा जग रूठे रूठ जाय ।

उलटी गति सीधी हो न भले,
प्रति जन की दाल गले न गले,
टाले न बान यह कभी टले,
यह जान जाय तो खूब जाय ।

[रचनाकाल : 14 नवम्बर 1952 । 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 14 दिसम्बर, 1952, में प्रकाशित । **आराधना** में संकलित]

[150]

छलके छल के पैमाने क्या !
आये बेमाने माने क्या !

हलके-हलके हल के न हुए,
दलके-दलके दल के न हुए,
उफले-उफले फल के न हुए,
बेदाने थे तो दाने क्या ?

कट रहा जमाना कहाँ पटा ?
हट रहा पैर जो कहाँ सटा ?
पूरा कब है जब लगा बटा
रुपया न रहा तो आने क्या ?

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952 । **आराधना** में संकलित]

[151]

सूने हैं साज आज
बिना तुम्हारे विराज।

तूलि - तूलि के सुस्वर
गीत धूलि में धूसर,
वाणीमय, मरु, प्रान्तर,
छई है विषण्ण लाज।

दिग्वधू निराश, दीन
अम्बर पीवर, सुपीन,
नारि-नयन-ज्योति क्षीण
क्षिति पर जैसे जहाज।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952 । **आराधना** में संकलित]

[152]

(जब) हाय समायी है,
कह, कौन बन आयी है?

बने को बिगाड़ा सौ माखों,
हाथ - माथ बैठे हैं लाखों,
काम कभी सुधरा भी साखों,
बदली छायी है।

उठने वाले डग कुछ और हैं,
जैसे खाने वाले कौर हैं,
ऐसे वैसे ही सिरमौर हैं,
बुरी रसाई है।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[153]

हे मानस के सकाल!
छाया के अन्तराल!

रवि के, शशि के प्रकाश,
अम्बर के नील भास,
शारद-घन गहन-हास,
जगती के अंशुमाल।

मानव के रूप सुघर,
मन के अतिरेक अमर,
निःस्व विश्व के सुन्दर,
माया के तमोजाल।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[154]

मारकर हाथ भव-वारिधि तरो, प्राण !
गगन में गूँजकर ऐच्छिक करो गान !

दूर हो दुरित, सुख-सुरित फूटे, बहे,
एक अनुभव अनूद्दव हृदय में रहे,
कामना - काम प्रतियाम मानव सहे,
विश्व होकर रहे स्वर्ग का सुस्थान।

अनुद्वेलित हुआ चित्सिन्धु जहाँ है,
मिल रहे हैं जहाँ, सृष्टि के सभी शय,
विना जिसके नहीं स्थिति, रहा है विलय,
वहीं हो सही इस देह का अभियान।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[155]

सत्य पाया जहाँ जग ने, दान तेरा ही वहाँ है।
जहाँ भी पूजा चढ़ी है, मान तेरा ही वहाँ है।

जहाँ है शत पथ निरादर, देखकर जन जीव कादर,
कृत्य में अन्तर्निहित अभिमान तेरा ही वहाँ है।
तूलि के रँग खुली कलियाँ, गूँजती षटपदावलियाँ,
महकती-गलियाँ, सुरभि का गान तेरा ही वहाँ है।

जिस प्रवर्षण भूमि उर्वर, जिस तपन मरु धूम्र-धूसर,
जिस पवन लहरा दिगन्तर, ज्ञान तेरा ही वहाँ है।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[156]

बाँधो रस के निर्झर
अम्बर के सर सुस्तर।

फूटे किल कनक-भास—
रवि-शशि - उडुगण-प्रकाश,
विद्युच्छबि मन्द हास,
पृथ्वी पर पट-विस्तर।

क्षिति-जल-तल ताल सुकर,
गान प्रभञ्जन सुर-स्वर,
खग-कुल-कल-तान मुखर,
सङ्ग रङ्ग में जलचर।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। 'पाटल', मासिक, पटना, जनवरी, 1954, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[157]

मेरा फूल न कुम्हला पाये,
जल उलीचकर, मूल सींचकर
लौटे तुम तरु-तरु के साये।

तले मोर नाचे, डाली पर
चहके खग प्राणों से खुलकर,—
नभ-चारण के स्वर मडलाये।

लौटीं ग्राम - वधू पनघट से,
लगा चितेरा अपने पट से,
बँधी नाव हिलती हैं तट से,
कवि के अग्नि-प्राण उकताये।

[रचनाकाल : 16 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[158]

पालो तुम सकल शकल ।
हो धरा सजल श्यामल ।

भरो धान, भरो मान,
करो लोक का विधान,
तानो नूतन वितान,
प्राणों को करो सफल ।

किरण खड़ी हो इकटक,
पातों के पड़ें पलक,
मिले ऋद्धि, शक्ति अथक,
पुरें विश्व के सम्बल ।

[रचनाकाल : 16 नवम्बर, 1952 । **आराधना** में संकलित]

[159]

तप के बन्धन बाँधो, बाँधो !
मन के साधन साधो, साधो !

वस्तु तुम्हारी ध्यान रहे यह,
विषय विष बना ज्ञान रहे यह,
गेह देह है मान रहे यह,
ऐसे तन आराधो, साधो !

कठिन रज्जु, जड़ की चेतन की,
वसुधा बँधी विजय-केतन की,
काम करो, न बात वेतन की,
ऐसे जुए न नाधो, साधो !

[रचनाकाल : 16 नवम्बर, 1952 । **आराधना** में संकलित]

[160]

जावक-जय चरणों पर छायी।
पलक-पलास डाल कलियायी।

थोक अशोक—कोकनद फूले,
मधु के मद भौंरे दिक् भूले,
मानव के मन जीवन तूले,
ऋत की ऋतु अवनी भर आयी।

पावक-पाश दिगन्त बँधा है,
अग-जग जैसे अडग सधा है,
सुषमा में सुख-रूप धँधा है,
नभ में नयन-मुक्ति मडलायी।

[रचनाकाल : 16 नवम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 10 फरवरी, 1957, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[161]

पल - प्रकाश को शाश्वत कर !
हरित् हृदय पर मन्द उतर !

आँखों में चितवन, चित में सित
अमृत, अधर में सुधा-धार-स्मित,
पग में गति, जय-जीवन वाञ्छित;
अलख अकिञ्चन कर डम्बर !

निखिल पलक देखें अस्मित-तन,
दृग भावों के वारि - विमोचन;
हृदय - हृदय में नन्दन - स्पन्दन;
हर नश्वर, दे सत्व अमर !

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[162]

पार - पारावार जो है
स्नेह से मुझको दिखा दो,
रीति क्या, कैसे नियम,
निर्देश कर करके सिखा दो।

कौन से जन, कौन जीवन,
कौन से गृह, कौन आँगन,
किन तनों की छाँह के तन,
मान मानस में लिखा दो।

पठित या निष्पठित वे नर,
देव या गन्धर्व किन्नर,
लाल, पीले, कृष्ण, धूसर;
भजन क्या भोजन चिखा दो।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[163]

बात न की तो क्या बन आती ?
नूपुर की कब रिन - रन आती ?

बन्द हुई जब उर की भाषा,
समर-विजय की तब क्या आशा,
बढ़ी नित्यप्रति और निराशा,
बिना डाल कलि क्या तन आती ?

बलीवर्द के बिना जुआ है,
मुख न रहा तो असुख, मुआ है,
कलप - कलपकर कलुष हुआ है,
दो नहीं मिले, क्या ठन आती ?

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[164]

मानव के तन केतन फहरे।
विजय तुम्हारी नभ में लहरे।

छल के बल-सम्बल सब हारें,
तुम पर जन तन-मन-धन वारें,
असुरों को जी जीकर पारें,
अन्धकार का मानस घहरे।

जो न हुआ वह गुजरे होकर,
जो न गया वह लौटे रोकर,
जो न खुला खोलो तुम धोकर,
टेक तुम्हारी मन में ठहरे।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। **आराधना में संकलित**]

[165]

नील नयन, नील पलक;
नील वदन, नील झलक।

नील - कमल - अमल-हास,
केवल रवि - रजत भास,
नील - नील आस - पास,
वारिद - नव - नील छलक।

नील - नीर - पान - निरत
जगती के जन अविरत,
नील नाल से आनत,
तिर्यक-अति - नील अलक।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 8 मार्च, 1953, में प्रकाशित। **आराधना में संकलित**]

[166]

मन का समाहार
करो विश्वाधार।

गहन कण्टक - जटिल
मग चले पग निखिल,
गया है हृदय हिल,
लो थके को वार।

कोई नहीं और,
एक तुम हो ठौर,
दूर सब जन, पौर,
भव से करो पार।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[167]

हंसो मेरे नयन,
बसो मेरे अयन।

हरो मेरे हरण,
भरो मेरे भरण,
चलो मेरे चरण,
पलो मेरे शयन।

गहो मेरे द्विकर,
अहो, मेरे प्रवर,
बहो मेरे इतर,
चहो मेरे चयन।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[168]

अशरण - शरण राम,
काम के छवि - धाम।

ऋषि - मुनि - मनोहंस,
रवि - वंश - अवतंस,
कर्मरत निश्शंस,
पूरो मनस्काम।

जानकी - मनोरम,
नायक सुचारुतम,
प्राण के समुद्यम,
धर्म धारण श्याम।

[रचनाकाल : 18 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[169]

जीकर जो प्राण न मार सके
मरकर क्या जीतोगे जीवन?
तरकर जो पार न की सरिता
बूड़े क्या जाओगे उस तन!

जब खुले हाथ पाये न कमा
बैठी भी घर आयी न रमा,
यह कौन चला, यह कौन थमा
कुछ कह न सके, क्या हुई जतन!

ऐसे छल कपट न पटे प्राण,
फूटा न कण्ठ, निकला न गान,
सूखी झरकर रह गयी बान,
मधुऋतु में कुम्हलाया उपवन।

[रचनाकाल : 26 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[170]

तुम से लाग लगी जो मन की
जग की हुई वासना बासी।
गङ्गा की निर्मल धारा की
मिली मुक्ति, मानस की काशी।

हारे सकल कर्म बल खोकर,
लौटी माया स्वर से रोकर,
खोले नयन आँसुओं धोकर,
चेतन परम दिखे अविनाशी।

निःस्पृह, निःस्व, निरामय निर्मम,
निराकाङ्क्ष, निर्लेप, निरुद्गम,
निर्भय, निराकार, निःसम, शम,
माया आदि पदों की दासी।

[रचनाकाल : 26 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[171]

हरि - भजन करो भू - भार हरो,
भव सागर निज उद्धार तरो।
गुरु जन की आशिष सीस धरो,
सन्मार्ग अभय होकर विचरो।

परकाल कराल सम्हाल करो,
यह लोक न शोक हरे, सँवरो,
भ्रम के भुज भूल न पाँव धरो,
अभया-पद - आसन साँस भरो।

सुख के अनुरञ्जन दुःख महा,
दुख से सुख है यह सत्य कहा,
तन मानव क्या, हत ज्ञान रहा,
सुरलोक - विधान-विमान बरो।

[रचनाकाल : 28 नवम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[172]

दुख भी सुख का बन्धु बना—,
पहले की बदली रचना—।

परम प्रेयसी आज श्रेयसी,
भीति अचानक गीति गेय की,
हेय हुई जो उपादेय थी,
कठिन, कमल-कोमल वचना—।

ऊँचा स्तर नीचे आया है,
तरु के तल फैली छाया है,
ऊपर उपवन फल लाया है,
छल से छुटकर मन अपना—।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'कल्पना', मासिक, हैदराबाद, जनवरी, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[173]

काल स्रोत में मेरे प्रियजन
बहे हुए पायें उत्तम तन।

उनकी सेवा शेष मानसिक,
आराधना ध्यान हो कायिक,
निर्मल हो धुलकर मन मायिक,
खुलें ज्ञान से दिव्य दो नयन।

देखूँ वे तुम हो प्रिय मेरे,
निःस्व प्राण विचरें उस घेरे,
रहे साँस यह उसी सबेरे,
उस मानस से मिले मलिन मन।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1954, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[174]

ज्योति प्रात, ज्योति रात,
ज्योति नयन, ज्योति गात।
ज्योति चरण, ज्योति चाल,
ज्योति विटप, आलबाल,
ज्योति सलिल, ज्योति ताल,
ज्योति कलश, ज्योति पात।
ज्योति प्रथम प्रिय - दर्शन,
ज्योति कम्प, आकर्षण,
ज्योति मिलन, शम वर्षण,
ज्योति नियम, ज्योति जात।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[175]

नाचो हे, रुद्रताल;
आँचो जग ऋजु-अराल।
झरे जीव जीर्ण-शीर्ण,
उद्भव हो नव-प्रकीर्ण,
करने को पुनः तीर्ण,
हों गहरे अन्तराल।

फिर नूतन तन लहरे,
मुकुल - गन्ध बन छहरे,
उर तरु - तरु का हहरे,
नव मन, सायं - सकाल।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[176]

नहीं घर - घर गेह अब तक—
समाराधन - देह अब तक।

न जाना, मैंने किया क्या,
कहाँ से मैंने लिया क्या,
विश्व को मैंने दिया क्या,
लगा है अवलेह अब तक।

जागते हैं लोग सोकर,
पा रहे हैं भोग खोकर,
हँस रहे हैं असुख रोकर,
ग्रीष्म के हैं मेह अब तक।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'नई धारा', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[177]

सीधी राह मुझे चलने दो।
अपने ही जीवन फलने दो।

जो उत्पात, घात आये हैं,
और निम्न मुझको लाये हैं,
अपने ही उत्ताप बुरे फल,
उठे फफोलों से - गलने दो।

जहाँ चिन्त्य हैं जीवन के क्षण,
कहाँ निरामयता, सञ्चेतन?
अपने रोग, भोग से रहकर,
निर्यातन के कर मलने दो।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ नवम्बर, 1955, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[178]

अभय शङ्ख बजा तुम्हारा विश्व में
प्रथम रवि की किरण की किल जब खिली
कली के गोरे अधर को चूमकर
अनिल से पल्लव - हिंडोला झूलती।

सरल आँखों में हँसी संसृति बसी
कामना अनजान उर में खोलकर
पंख, उड़ने को प्रियच्छवि की दिशा
मधुरतर से मधुरतम होती हुई
रूप से गुण, पुष्प से मधु की तरह
साथ, शातक्रतव के पाथेय का।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[179]

कुञ्जों की रात प्रभात हुई;
कूजित, अलसायी गात हुई।

पलकें मुद गयीं, खुली रेखा,
तिर्यक, सित किरणों में देखा,
लिख गयी नवल-जीवन-लेखा,
ज्योति के पत्र की ज्ञात हुई।

दिन की नभ नील बनी रजनी,
प्रहरी-नयनों सोयी सजनी,
क्या ग़ोर रहा, क्या भी ग़ज़नी,
किरनों की सरि सम्पात हुई।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[180]

चल समीर, चल कलिदल,
चल पल्लव, चल अञ्चल।

चल सौरभ, चल चितवन,
चल वन, उपवन, जीवन,
चल यौवन, चल कल मन,
चल सुरसरि, जल निर्मल।

चल रवि, शशि, तारादल,
चल ग्रह, उपग्रह चञ्चल,
पृथ्वी, जल, अनिल, अनल,
अग, जग, जड़ जीव, चपल।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। 'अजंता', मासिक, हैदराबाद, जनवरी, 1954, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[181]

वही चरण शरण बने।
कटें कलुष गहन घने।

लगे हे तुम्हीं से मन,
उर - नूपुर-मधुर-रणन,
तुम्हारे अजिर, आँगन,
मङ्गल के गीत गने।

उठे ठाट जब जग से,
पड़े बाट इस मग से,
खुले हाट अग डग से,
तुम्हारे वितान तने।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[182]

लो रूप, लो नाम,
दो अमल विश्राम।

श्रम हरो भव जन्य,
यश धवल बहु मन्य,
बदलो नयन वन्य,
धन्य कर दो धाम।

हो शङ्खनाद, जय,
दूर अपवाद, भय,
रोग, अवसाद, क्षय,
खो जाय खल काम।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[183]

भग्न तन, रुग्ण मन,
जीवन विषण्ण वन।

क्षीण क्षण-क्षण देह,
जीर्ण सज्जित गेह,
घिर गये हैं मेह,
प्रलय के प्रवर्षण।

चलता नहीं हाथ,
कोई नहीं साथ,
उन्नत, विनत माथ,
दो शरण, दोषरण।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1956, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[184]

वन - उपवन खिल आयीं कलियाँ,
रवि - छवि दर्शन की आवलियाँ।

मारुत ने श्वेत अधर चूमे,
मद से लदकर भौंरे झूमे,
तल प्रियतम - युगल विमल घूमे,
भर-भर आयीं अलियाँ - गलियाँ।

सौरभ के फौवारे छूटे,
विहगों के दल के दल टूटे,
खुल - खुलकर कानन मन लूटे,
गाये गाने, भर दीं फलियाँ।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[185]

रँगे जग के फलक
सित मुख, असित अलक।

नील - घन सिन्धु जल,
शुभ्र शशि गगन - तल,
रक्त पाटल - पटल,
हरित तृण की पलक।

पीत सायं - किरण,
पतित-पत, धान्य - धन; —
वासन्तिका - वसन,
शकल गो - घृत - तलक।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[186]

भवन, भुवन हो गया।
दुःख—ताप खो गया।

परिधि से घिरा हुआ,
सुमुख से फिरा हुआ,
आधि का चिरा हुआ,
भर-भरकर रो गया।

अपना जपना रहा,
सत्य कल्पना रहा,
यौवन सपना रहा,
ज्ञान वही धो गया।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। 'नई धारा', मासिक, पटना, अप्रैल, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[187]

छोटी तरणी;
सोने की सन्ध्या,
किरणों की बरनी।
बजती है गौरी,
युवती के कर वीणा,
पूरब को बहती है
नाव, एक मीना
देता है ताल
तालियों की सरनी।
युवक एक गायक भी,
सुनने वाले;
बैठे हैं कई,
उभय रूप सँभाले,
बहती है नाव;
मधुर गति, मन हरनी।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। 'प्रकाश', साप्ताहिक, पटना, 10 फरवरी, 1954, में प्रकाशित ('शब्दचित्र' शीर्षक से)। **आराधना में संकलित**]

[188]

जय अजेय, अप्रमेय
जय जग के परम पार।
जय जीवों के जप के,
तप के, तनु - सूत्रधार।
गरल - कण्ठ हे अकुण्ठ,
बैठक बैकुण्ठ - धाम;
जय शिव, जय विष्णु, जिष्णु,
शङ्कर, जय कृष्ण, राम;
शतविध नमानुबन्ध
बान्धव हे निराकार—
जय अजेय, अप्रमेय,
जय जग के परम पार।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[189]

रहते दिन दीनशरण भज ले।
जो तारक सत वह पद-रज ले।

दे चित अपने ऊपर के हित,
अन्तर के बाहर के अवसित,
उसको जो तेरे नहीं सहित,
यों सज तू, कर सत की धज ले।

जब फले न फल, तू हो न विकल,
करके ठग करतब को कर कल;
इस जग के मग तू ऐसे चल,
नूपुर जैसे उर में बज ले।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[190]

तिमिर हरण तरणितरण किरण हरण हे—तुम. ।
जित दानव मानवगण चरण शरण हे—तुम. ।

कला - सकल करतल गत,
अविगत, अविनत, अविरत,
आनन आनत शत - शत

मरण-मरण हे—तुम. ।

जब तक नर - मन अविकल,
रहो सकल फल, सम्बल,
विचले के क्षमा गरल

जग-ठग-रण के—तुम. ।

[रचनाकाल : 15 दिसम्बर, 1952 । **आराधना** में संकलित]

[191]

बाँसुरी जो बजी
लाज कुल की तजी ।

यमुना पुलिन अजन,
आँजे नयन, सजन
तन, बसे फूल, जन
मन देखकर लजी ।

बैर के बेर वन
बो गये कृष्ण घन,
शेष के देश की
दशा दुख की भगी ।

[रचनाकाल : 15 दिसम्बर, 1952 । **आराधना** में संकलित]

[192]

सजी क्या तन तुम्हारे लिए हे प्रमन;
अप्सरा, अङ्ग के सङ्ग के उपशमन।
देह - अभिमान किसने धवल धो दिया,
बीज वीक्षण-अमल दृष्टि में बो दिया,
ज्ञान की खोज में ओज कुल खो दिया,
सत्य की नित्य आराधना, अवनमन।
नयन आनत बने फूल तरु के खिले,
हाथ उठते हुए सत्य से क्या तुले,
चरण के पर विरति पंथ पर जो खुले,
वचन कर चले रचना-रुचिर चारु-मन।

[रचनाकाल : 15 दिसम्बर, 1952। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, नवम्बर, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[193]

ऊँट - बैल का साथ हुआ है;
कुत्ता पकड़े हुए जुआ है।

यह संसार सभी बदला है;
फिर भी नीर वही गदला है,
जिससे सिंचकर ठण्ढा हो तन,
उस चित-जल का नहीं सुआ है।

रूखा होकर ठिठुर गया है।
जीवन लकड़ी का लड़का है।
खोले कोंपल, 'फले फूलकर
तरु - तल वैसा नहीं कुआँ है।

[रचनाकाल : 15 दिसम्बर, 1952। 'प्रकाश', साप्ताहिक, पटना, 18 मार्च, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[194]

मानव जहाँ बैल - घोड़ा है,
कैसा तन - मन का जोड़ा है ?

किस साधन का स्वाँग रचा यह,
किस बाधा की बनी त्वचा यह,
देख रहा है विज्ञ आधुनिक
वन्य भाव का यह कोड़ा है।

इस पर से विश्वास उठ गया,
विद्या से जब मैल छुट गया,
पक - पककर ऐसा फूटा है,
जैसा सावन का फोड़ा है।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[195]

खेत जोतकर घर आये हैं।

बैलों के कन्धों पर माची,
माची पर उलटा हल रक्खा;
बढ़ी हाट, अधेड़ पिता जी,
माता जी, सिर गट्ठल पक्का;
पिता गये गौवों के गोंडे,
माता घर, लड़के धाये हैं।

आम और जामुन के फल हैं,
कुछ गूलड़, कुछ गुल्लू कच्चे;
लड़के चुनते हुए विकल हैं,
पेड़ - पेड़ पर वे हैं सच्चे;
पुए लगाकर बड़ी बहू ने,
मन्नी से पर पकवाये हैं।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। 'कल्पना', मासिक, हैदराबाद, अक्तूबर, 1953, में प्रकाशित ('शब्दचित्र' शीर्षक से)। **आराधना** में संकलित]

[196]

महकी साड़ी
जैसी फुलवाड़ी।

रत्नों के फूल जड़े,
लता चढ़ी जड़ पकड़े,
लहरी पछियाई,
नहरों की खाड़ी।

कद्दू, कुँहड़े फैले,
खरबूजे मटमैले,
ककड़ी की क्यारी से
लहकी बाड़ी।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[197]

जैसे जोबन,
दुहरे - दुहरे बदन।

आँखों में साख भरी,
लाखों पर राख पड़ी,
अनहारी खड़ी लड़ी
हाथ के जतन।

माख न माना मुखड़ा,
दूर हो गया दुखड़ा,
देखते न जी उखड़ा
नीम के सदन।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[198]

बान कूटता है,
मुगरी लेकर सुख का
राज लूटता है।

मूज के फाले - छाले
अच्छे बाधोंवाले;
ऐसे बैठे ठाले
काज टूटता है।

कहीं रँगे - रँगे, डले
बिनने के लिए भले,
लड़की बैठे अगले,
सुआ फूटता है।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 25 जनवरी, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[199]

भरी तन की भरन
जगत उस कुए की,
परी उतरी तरन।

दो घड़े, काँख, कर,
कन्धे पड़ी रसर,
चली अपनी डगर,
देखने की सरन।

देहली नाघ कर,
दहलीज के उधर,
घनौची पर सुघर
घड़े रक्खे बरन।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[200]

रमणी न रमणीय,
कामना कमनीय।

विश्व यह दूसरा
जहाँ भोजन भरा,
रूप की प्रतिकरा
हुई दुर्दमनीय।

यहाँ इसकी विजय
देह जब तक न क्षय,
उस पार जो उदय
ज्ञान वह नमनीय।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[201]

खिरनी के पेड़ के तले,
बैठी थीं तुम भले-भले।

आँखों से चिड़ियाँ उड़ती थीं,
उससे कुल पिड़ियाँ जुड़ती थीं,

पहने साड़ी सफेद,
भावों से गया भेद;
लोगों ने रूप पी लिया गले-गले।

धूप उठ रही थी, नभ सोना
झरता था सर पर, सुख बोना,

धीरे-धीरे चल दीं,
सारी दुनियाँ छल दीं,

पीछे भाई के, हरहों के डगले।

[रचनाकाल : 17 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[202]

आँखें जहाँ प्रेमिका की थीं,
पाँखें वहाँ तुम्हारी ही थीं।

अधर सुधा के स्वर जो घोले,
निकले वे वाणी के तोले,
रानी कल्याणी भी होले,
ऐसी क्या आशाएँ भी थीं।

कहीं न मुझको स्थान एक तिल,
जहाँ भी गया दूभर, झिलमिल,
दयादृष्टि ही जो उभरा दिल,
छोड़ीं वे जो कड़ियाँ ली थीं।

[रचनाकाल : 18 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[203]

मन न मिले न मिले हरि के पद।
अंश हुए न, हुए न वशम्वद।

गलती रही वासना जी तन,
न बना यौवन, न बना जीवन,
भरे हुए उपवन में अनमन
मानव रहा अमान, भरा-मद।

ज्ञान गया तो प्रायः पशु है,
वसु न हुआ तो निर्बल असु है,
वसुन्धरा में अन्ध दस्यु है,
अपने पन में अपण, न आच्छद।

[रचनाकाल : 18 दिसम्बर, 1952। **आराधना** में संकलित]

[204]

क्षीण भी छाँह तुमने छीनी।
हर ली सुगन्ध रति की भीनी।

किस नभ ले जाना मन भाया,
समझे भी कुछ न समझ पाया,
ऐसे निष्काम हुई काया,
जैसे कोई साड़ी - झीनी।

बदले वे गदले केश - वेश
जैसे अपना पथ हुआ शेष,
अमरता, अमृत कुछ नहीं लेश,
बेलाग पड़ी मदिरा पीनी।

[रचनाकाल : 29 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[205]

आँख-अधर रँग भर गये हैं,
पिचकारी चली लली के अँग, आँगन।
सुघर हुई मुख की, रवि की छवि,
उकसी हँसी किरणों के रजत-तन।

जान नयी उनई आनत - नभ,
नयन बसे बासे रव, सौरभ,
सुख की महिमा की छवि, अभिनव,
महकी आम की माजर मधुवन।

एक गऊ कुछ दूर रँभायी,
पनहारी पनघट से आयी,
मनचीते कुछ, पर मुसकायी,
सहज सगाई वधू के विधुर मन।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1953। आराधना में संकलित]

[206]

रँग गये साँवले नयन अली के;
छाये छाँह पर शयन, फली के।

विम्ब - पके अधरों के ऊपर
चूने लगे रँग रस के शीकर;
अँग की अँगिया चिपक - चिपककर
बोली वय के वयन लली के।

आँखों खगों की पाखें लग गयीं,
भू पर नभ की साखें जग गयीं,
लोगों के मन की माखें तग गयीं,
जैसे गोले पर चयन गली के।

[रचनाकाल : 24 फरवरी, 1953। **आराधना** में संकलित]

[207]

बुझी दिल की न लगी मेरी
तो क्या तेरी बात बनी।
चली कोई न चलायी चाल
तो क्या तेरी घात बनी।

भर दी करनी से बुरी जो,
तरी डगमग कर दी,
अपने पूरे बल पार
किनारे न जो तर दी।

बुझी दिल की न लगी मेरी
तो क्या तेरी बात बनी।

[रचनाकाल : 19 अप्रैल, 1953। **गीत-गुंज** में संकलित]

[208]

पारस, मदन हिलोर न दे तन,
बरसे झूम - झूमकर सावन।

बन द्रुमराजि साज सब साजे,
बसन हरे उर उड़े, विराजे,
अलियों, जूही की कलियों की
मधु की गलियों नूपुर बाजे;

घर बिछड़े आये मन - भावन।

[रचनाकाल : 12 अगस्त, 1953। **गीत-गुंज में संकलित**]

[209]

शाप तुम्हारा : गरज उठे सौ-सौ बादल;
ताप न वारा, काँपे पृथ्वी के तरुदल।

हर - हर हरती समीर,
जीवन - यौवन अधीर,
चले तीक्ष्ण - तीक्ष्ण तीर,
छूटे गृह - वन के सम्बल।

नीचे - ऊपर अपार
सलिल राशि विसम्भार,
मुहुर्मुहुः वज्रहार,
संसृति के संहत चञ्चल।

आओ अनिमेष नयन,
करो निरामय वर्षण,
सञ्चय हे संघर्षण!
कलित साधना के शुभफल।

[रचनाकाल : 8 जनवरी, 1954। **गीत-गुंज में संकलित**]

[210]

वरद हुईं शारदाजी हमारी,
पहनी वसन्त की माला सँवारी।

लोक विशोक हुए, आँखों से
उमड़े गगन लाखों पाँखों से,
कोयलें मञ्जरी की शाखों से,
गायीं सुमङ्गल होली तुम्हारी।

नाचे मयूर प्रात के फूटे
पात के मेघ तले, सुख लूटे,
कामिनी के मन मूठ से छूटे,
मिलने खिलने को ललकी निवारी।

[रचनाकाल : 5 फरवरी, 1954। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 28 फरवरी, 1954, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** में संकलित]

[211]

फेर दी आँख जी आया
जैसे रसाल बौराया।

रहकर मेरे दबते मन
फूटे सौ-सौ मधु गुञ्जन,
तन की छबियाँ नत लोचन,
उमड़ीं, मानस लहराया।

सूखी समीर नव-गन्धित,
बह चली छन्द से नन्दित,
उग आया सलिल कमल सित,
कोमल सुगन्ध नभ छाया!

[रचनाकाल : 5 फरवरी, 1954। 'नई धारा', मासिक, पटना, मार्च, 1954, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** में संकलित]

[212]

बौरे आम कि भौंरे बोले।
प्रात कि गात पात के तोले।

सरसायी समीर मधुवन की,
आँखों छवि आयी आनन की,
आलस दूर हुआ, मन भाया,
चिड़ियों ने सुख के मुख खोले।

कैसी ज्योति छाँह से छलकी,
दुर्बल ने हद कर दी बल की,
आज के साज भूल गये सब जन,
कल के जीवन जो रस घोले।

[रचनाकाल : 26 फरवरी, 1954। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 30 जनवरी, 1955, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** में संकलित]

[213]

कूची तुम्हारी फिरी कानन में,
फूलों के आनन आनन में।

फूटे रंग वसन्ती, गुलाबी,
लाल पलास, लिये सुख, स्वाबी;
नील, श्वेत शतदल सर के जल,
चमके हैं केशर पञ्चानन में।

[रचनाकाल : 26 फरवरी, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[214]

प्राण तुम पावन - सावन गात;
जलज जीवन - यौवन अवदात।

मृदु बंदों चितवन की लड़ियाँ,
केश, मेघ, मुख पलक अँखड़ियाँ,
प्रमन चारु चिन्तन की घड़ियाँ,
जलभर भूमि सुजात, प्राण तुम०।

हरी ज्वार की परियाँ झूमीं,
अरहर अब चूमीं तब चूमीं,
उड़द बदलकर फैली घूमीं,
लिये मूंग ने पात, प्राण तुम०।

[रचनाकाल : 2 अगस्त, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[215]

श्याम - गगन नव - घन मँडलाये।
कानन - गिरि - वन - आनन छाये।

लादे बाग आमों के परसे,
धानों के खेतों पर बरसे,
युवती निकली अपने घर से,
पुरवाई के झोंके खाये।

कमल ताल के जल बल खाये,
नाले उमड़ - उमड़कर आये,
नद जल के मद आकुल धाये,
तट के नीम हिंडोले भाये।

[रचनाकाल : 15 अगस्त, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[216]

बढ़ - बढ़कर बहती पुरवाई;
धुन मलार-कजली की छायी।

रँगे चीर घर-घर से निकले,
उड़े दुकूल पैंग से सिकले,
चले गले क्या कोई पिक ले ?
वेले की सुगन्ध सरसायी।

जीवन पर जीवन बल खाया,
श्याम नील की फैली माया,
हरा - भरा नीचे लहराया,
बिजली की बिजली दिखलायी।

[रचनाकाल : 15 अगस्त, 1954। 'नई धारा', मासिक, पटना, सितम्बर, 1954, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** में संकलित]

[217]

जिधर देखिये, श्याम विराजे।
श्याम कुञ्ज, वन, यमुना श्यामा,
श्याम गगन, घन - वारिद गाजे।
श्याम धरा, तृण - गुल्म श्याम हैं
श्याम सुरभि - अंचल दल साजे;
श्याम बलाका, शालि श्याम हैं,
श्याम - विजय - बाजे नभ बाजे।
श्याम मयूर, कोकिला श्यामा,
कूजन, नृत्य श्याम मृदु माजे;
श्याम काम, रवि श्याम मध्य दिन,
श्याम नयन काजल के आँजे।
श्रुति के अक्षर श्याम देखिये,
दीप - शिखा पर श्याम निवाजे;
श्याम तामरस, श्याम सरोवर
श्याम अनिल, छवि श्याम सँवाजे।

[रचनाकाल : 15 अगस्त, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[218]

बादल रे, जी तड़पे।

किये उपाय सैकड़ों तन के
मन के, चरण मिले सज्जन के,
व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब हैं,
पञ्जर पिञ्जर करके।

अब अँधियाली ही बढ़ती है,
छाया छाया पर चढ़ती है,
प्राणों के घन श्याम-गगन से
बूंदों कभी न बरसे।

छिप जाती हैं छवि बिजली में,
सरसर से दबती है ही में,
बूंदों की छन-छन से उन्मन
प्राण न मेरे हरसे।

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[219]

आओ, आओ वारिद वन्दन,
बरसो सुख, बरसो आनन्दन्।

आशिष वायु गुल्म-तृण परसो,
जन-जन के प्राणों में सरसो,
दृग अंचल बरसो हे बरसो,
स्नेह स्नेह के आँगन स्पन्दन।

हरियाली के झूले झूले,
ग्राम बधू सुख से दुख भूले,
गहरे गड़ें मधुर जो मूलें,
करषो हे समीर के स्यन्दन।

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[220]

गगन मेघ छये
नये नयन नये।

प्राण धन के श्याम घन ये,
तापजल शीतल प्रवण ये,
पुण्य के शुभ प्रस्रवण ये,
हृदय द्वार गये।

यामिनी की कामिनी दिन,
कल्पना सुख तल्प अनगिन,
सहज रिमझिम बाद रिन रिन,
अनवसादन रे।

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[221]

केश के मेचक मेघ छुटे
पलक-पल्लव पगतलों लुटे।

सुख की इतरायी आँखों में,
लगे फूल जैसे शाखों में,
मडलायी सुगन्ध से नभ—
रम्भा के रंग उठे।

खिची खसी साड़ी की मुख छवि,
कभी कहीं जो दिखा उगा रवि,
गद्गद नद की भँवर-भँवर में,
दुख के पौर टुटे।

[रचनाकाल : 21 अगस्त, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[222]

जी में न लगी जो विकल प्यास,
आँखों न देखने आना तुम।
भरकर न रही जो छवि उदास
तो कभी न उस घर जाना तुम।

कहते - कहते जग हार जाय,
रहते - रहते मन मार जाय,
जो उड़े न अम्बर हरे बास
तो अपने भाव न लाना तुम।

कलियों के हारों बहु प्रकार,
उर लहरे गन्ध, बहे बयार,
यदि मिला न तुमसे हृदय छन्द,
तो एक गीत मत गाना तुम।

[रचनाकाल : 21 अगस्त, 1954। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 3 अक्तूबर, 1954, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** में संकलित]

[223]

पड़ी चमेली की माला कल।
गमक उठा निशि का नभ मण्डल।

कूजे कण्ठ, उठे आनत-मुख,
मिले लोग अपने व्याकुल सुख,
स्वर्गाभास हुआ जग का दुख,
तारों के नभ, हारों के गल।

मीड़ मधुरतम विधुर इमन की,
गगन-गीति की रति-गति रन की
खुली रीति विपरीत सुमन की,
रात प्रात-किरणों के उत्पल।

[रचनाकाल : 24 अक्तूबर, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[224]

रूपक के रथ रूप तुम्हारा,
शारद विभावरी, नभ, तारा।

खिली चमेली देह-गन्ध मृदु,
अन्धकार सुचि केश कुटिल ऋजु,
सहन-शीत-सित यौवन अविचल,
मानव के मन की चिर-कारा।

मुक्ति-नयन-उन्मीलन क्षण-क्षण,
पलक-पात व्याकुल खल-बन्धन,
चरण चार उपचार व्याधि के,
विमल साध की, सुधि की धारा।

[रचनाकाल : 24 नवम्बर, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

[225]

नख सिख लिखे-लिखे।
तन रतनार दिखे।

नवल सरोज उरोज, नाल कर,
वीणा के वादित वाहित स्वर;
दशनपंक्ति कुन्दावकलित, हर
हसित विमोह सिखे।
नयन आनयन के, स्फारित, अति
शय की शयित, किशोर मन्दगति,
सुख-शीला अमला कमला—मति,
जीवन विहित बिके।

[रचनाकाल : 30 दिसम्बर, 1954। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[226]

स्वर में छायानट भर दो;
पावन प्राणों को कर दो।

अनियारे दृग चपल उपान्तों
झरी रेणुएँ, क्लान्तों प्रान्तों,
खसे खेल उपवन के, शान्तों
सीमाओं को नव वर दो।

आलिंगित बान्धवता आये,
वैभव विपुल पराङ्मुख जाये,
जीवन को यौवन नहलाये,
कोई अविनश्वर सर दो।

[रचनाकाल : 5 मार्च, 1955। 'धर्मयुग', साप्ताहिक, बम्बई, 5 जून, 1955, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[227]

धिक मनस्सब, मान, गरजे बदरवा।
झूले झिले, गान सरजे दरवा।

चीर के धनुष के तीर छूटे, छटे,
बूंद के वारि के वसन बूटे बटे,
गले के चले गायन, चरायन पटे,
पेड़ के तल, अतल, लरजे बदरवा।

घुसे कामद शिखर, शिखर-गिरि फैलकर,
घन प्रवहमान, वन, शैल से शैल पर;
गायन ध्वनित ग्राम-ग्राम से नगर-घर
नागरी - नागरी; बरजे बदरवा।

[रचनाकाल : 21 जुलाई, 1955। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1956, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[228]

फिर नभ घन घहराये।
छाये, बादल छाये।

कौंधी चपला अलक-बन्ध की
परी प्रिया के मुख की छबि-सी,
बूँदें सुख के आँसू ढलकर
पृथ्वी के उर आये।

दिवस निशा का सुखद स्वप्न है
ज्योतिश्छाया देश लग्न है,
आतप के कुम्हलाये खु कर
मुख-प्रसून भाये।

उगी दूब की अति हरियाली
गली-गली सुख-सेज बिछा ली,
प्रकृति - सुन्दरी ने शोभा के
रँग, कर दिखलाये।

[रचनाकाल : 21 जुलाई, 1955। 'साहित्यकार', मासिक, इलाहाबाद, अगस्त, 1957, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[229]

खेल सिखी अखियाँ।
सरबर की सखियाँ।

बिजली की बलकायी कौंधन,
श्याम पुतलियों पर छन-पलकन
सजल भाव की भरकर छलकन;
पखियों की पखियाँ।

हहरायी पातों की पत, लत,
पुरवाई के डोले पर गत,
भावों के भावों से अवगत,
समकी कमरखियाँ।

[रचनाकाल : 21 जुलाई, 1955। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[230]

फिर उपवन में खिली चमेली।
मन्द पवन गन्ध की अकेली।

छीन लिये सुख साज आज के,
रूपवती युवती समाज के—
बादल के दल के दल के बल
कोमल कमल विलास सहेली।

अपराजिता, नयन की सुनियत,
अपने ही यौवन से विव्रत,
जुही, मालती आदिक सखियाँ
हँसती, करती हैं रँगरेली।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त, 1955। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 4 सितम्बर, 1955, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[231]

शुभ्र शरत् आयी अम्बर पर;
बड़ी रास कमलों की सर-सर।

हरसिंगार के फूल प्रात को
बिछे रश्मि से लजी - गात, ओ !
शीर्ण हो चलीं नदियाँ, झरने,
बदले वेश जनों ने घर - घर।

शान्त हो चली निशा और कुछ,
रबि की खेती बढ़ी, पौर कुछ
गाँव - गाँव साठी को काटे
खुश होते हैं बातें कर - कर।

खञ्जन देख पड़े, आये हैं,
ढेख, महोख, सबन छाये हैं,
तरुणी की पक्ष्मल आँखों की
लहरायी छवि सुन्दर - सुन्दर।

[रचनाकाल : 8 नवम्बर, 1955। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[232]

मालती खिली, कृष्ण मेघ की।

छायाकुल हो गयी धरा,
कर - पीड़न से मधुरतरा—
विपुल पल्लवित मनोहरा,
दृगों से मिली।

स्निग्ध हो गया निदाघ-दाह,
मन्द - मन्द गन्ध का प्रवाह,
गली - गली गीला उत्साह,
पत्रिका हिली।

उग आये अंकुर जीवन,
धान, ज्वार, अरहर औ' सन,
बही पुनः गन्ध से पवन
पके आम की।

[रचनाकाल : 26 जुलाई, 1956। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[233]

भर गया जुही के गन्ध पवन।
उमड़ा उपवन, वारिद वर्षण।

तोड़े-तोड़े खिल गये फूल,
छाये गंगा के कूल-कूल;
महके तरुणी के नव दुकूल,
गजरों से भर दी गयी रवन।

दूनी विभात हो गयी रात,
सिहरे मानव के मधुर गात,
संगीत-पुञ्ज-गुञ्जित विघात
बाजे मृदंग-सारंग-स्रवण।

नाचीं नटियाँ, पद-पात सुघर,
हिलती कटि, घूम रहे युग कर;
वैसी ही छवि डाल पर निडर,
निर्भर समीर के साथ प्रमन।

[रचनाकाल : 26 जुलाई, 1956। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 9 सितम्बर, 1956, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[234]

प्यासे तुमसे भरकर हरसे।
सावन घन प्राणों में बरसे।

उनयी आँखों में श्याम घटा,
विद्युत की नस-नस नयी छटा,
फैली हरियाली अटा-अटा
अंगों के रंगों के परसे।

अविरत रिमझिम वीणा द्रिमद्रिम,
प्रति छन रेलती पवन पश्चिम,
मृदंग वादन, गति अविकृत्रिम
जी के भीतर से, बाहर से।

[रचनाकाल : 30 जुलाई, 1956। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[235]

सरसि सलिल कहता, "खिल,
अमल कमल, मिल, मिल, मिल !
"छल, छल, छल, सद्म, पद्म,
खोल अखिल बही अनिल !
"रविकर खर, दिवस प्रसर,
किरण निकर, जल ऊर्मिल !

"तीर तरल कर सौरभ,
भर, गौरव हर पंकिल !
"भ्रमर - भीर कर अधीर,
गन्ध - सरण, मधु - लोभिल !
"क्षणिक प्राण, अमित दान,
अनवसान, सुख - रोमिल !"

[रचनाकाल : 3 अगस्त, 1956। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[236]

मधुर मधुर, मृत्यु मधुर।
सफल जन्म, कम्पित उर।

तुम्हीं अलकनन्दन - बन छूटे,
दिग्दिगन्त - चुम्बित कर फूटे,
गन्ध - समीरण टूटे, लूटे
तन्वी - तन्वी के अन्त:पुर।

बदला जीवन जग का; गदला;
बहा, देख, देखते कहाँ गया !
विद्या की आँखों नूतन कला,

नये गीत, नये वाद विच्छुर,
नये यान, यात्री उनये नये,
नये प्राण, नयी रेल-पेल के;
वैज्ञानिक साधन सबके लिए।

[रचनाकाल : 20 अगस्त, 1956। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[237]

प्यार की थाती यह पाती
प्रिया आँखों से बरसाती।

यही सृष्टि अलका की उत्तम,
कालिदास जैसे कवि - सत्तम,
वाल्मीकि - व्यासादि महत्तम;
छबि - छबि सिखलाती।

बँधा इसी से, सुकृत साज वह,
चला इधर, उत्तम समाज वह,
हुआ विरोध, यथार्थ व्याज वह,
गति उसमें लाती।

मान जहाँ बँध रहा रोध से,
समझे हम वह सभी शोध से,
समझौता हो गया बोध से,
गदिता कविता ही।

[रचनाकाल : 8 सितम्बर, 1956। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, जून, 1957, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[238]

शरत की शुभ्र गन्ध फैली;
खुली ज्योत्स्ना की सित शैली।

काले बादल धीरे - धीरे
मिटे गगन को चीरे-चीरे,
पीर गयी उर आये पी रे,
बदली द्युति मैली।

शीतावास खगों ने पकड़े,
चहचह से पेड़ों को जकड़े,
यौवन से वन-उपवन अकड़े,
ज्वारों की लटकी है थैली।

[रचनाकाल : 29 नवम्बर, 1956। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, सितम्बर-अक्तूबर, 1957, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[239]

समझे, मनोहारि वरण जो हो सके,
उपजे बिना वारि के तिन न ढूह से।

सर नहीं सरोरुह, जीवन न देह में;
गेह में दधि, दुग्ध; जल नहीं मेह में,
रसना अरस, ठिठुर कर मृत्यु में परस,
हरि के हुए सरस तुम स्नेह से हँसे।

विश्व यह गतिशील अन्यथा नाश को,
अथवा पुनर्व्यथा, फिर जन्म-पाश को,
फिर कलुष, काल-कवलित निराश्वास को
विपरीत-गति धरा, हरि करों से धसे।

[रचनाकाल : 31 जनवरी, 1957। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, अप्रैल-मई, 1957 में प्रकाशित ('विश्व यह गतिशील' शीर्षक से)। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[240]

यह जी न भरा तुमसे मेरा,
फिर-फिर तृष्णा ने आ घेरा।

दहके लूके लहके लहके,
फिर-फिर उपवन महके महके,
बालू के बृन्दावन बहके,
सावन घन ने वर्षण फेरा।

वह कौन प्यास बुझकर न रही,
वह कौन साँस जो चली सही,
वह किस फँसने की रही कली—
खुलकर न रही, मधु ने टेरा।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1958। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, अप्रैल, 1958, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[241]

रहो तुम

बैठा हुआ देखता हूँ—
स्वप्नहीन जीवन है।
एक दिन मग्न था मैं,
गिनता हुआ गगन-कुसुम
खिले हैं जो कविता की क्यारियों में
पुष्प जैसे, प्राकृत परिणाम के,
जीवन-मरण-शील,
गन्ध से दिगन्त को अन्ध कर देनेवाले,
भौंरों के रूप में झुके हुए युवक-वृन्द
तृप्त होकर लौटे जो।
गृह की छाया में, बड़ी पक्ष्मल आँखोंवाली
गौरी वनिता के साथ विद्या-विनोद में
सारी रात काट दी
संगीत कौशल में।
पण्डित है पुत्र आज,
मैं अपत्र महीरुह,
स्वल्प-रस जीवन में,
स्वप्न-शेष भोर-जैसे
घोर जरा, सम्मुख की
काष्ठा में बैठा हुआ,
यदि सर्व स्वप्न शेष
जीवन निर्मरण हो;
रहो तुम एक-मात्र
सर्व गात्र अहोरात्र।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1958। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, जून, 1960, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[242]

सभी लोगों में योग - ध्यान बने बैठे हैं,
ज्ञानी के ज्ञान हैं, अज्ञान बने बैठे हैं।
मिले हैं तुमसे द्विजोत्तम बनकर मन्दिर में,
अभी मसजिद में मुसलमान बने बैठे हैं।

[सम्भावित रचनाकाल : 15 जनवरी, 1958 के आसपास। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[243]

नयी ज्योतियाँ पायीं, तभी जाना तुम आयीं।
कुल किरणें मुरझायीं, तभी जाना तुम आयीं।
नाद - ढके बकवाद सभी के, छन में रंग सभी के फीके,
हो गये सत्य कहीं के कहीं के, वीणा में तानें लहरायीं।
खुले द्वार वे और जनों के, जके - थके रह गये तनों के,
देखे तोल पुराण - धनों के, राशि - राशि भर आयीं।
गीत - वाद के उमड़े सागर, बने नयन के नागर-नागर,
वीणा - पुस्तक - जीवन - आगर, नागरियाँ मुसकायीं।
छुटी चाल पहली चपला की, चली धीर मति-गति विमला की
बदले उर के स्पन्दन बाकी, सरिताएँ सरसायीं।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1958। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, मार्च, 1958, में प्रकाशित ('होली' शीर्षक से)। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[244]

कैसे नये तने, तुम्हारे बन्दनवार बने।
पतझर पर कितने, तुम्हारे बन्दनवार बने।

खड़े गणित के चक्र - चक्र पर,
पठित युवक - युवतियाँ मनोहर
देख रहे हैं प्रात - गगन पर
रँग - रँग ललित तने।

कहीं लता-तरु-गुल्म हरित छवि
कहीं पीत परिपक्व क्षेत्र रवि,
कहीं नील-नभ अनवकाश कवि
स्तर - स्तर सुघर घने।

वेद - पाठ - रत पण्डरिकागन
जैसे स्तावकजन स्तुति - गायन,
पुष्प - पुष्प पर मधुलिह गुञ्जन,
सन्मन मुखर रने।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1958। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[245]

तेरी पानी भरन जानी है, मानी है।
बेला हारों में लासानी है, सानी है।
जगमग जो यह रानी है, पानी है;
खोयी हुई जैसी वाणी है, यानी है!
मेहराबी लन्तरानी है, तानी है!
लहरों चढ़ी जो धानी है, रानी है।
खूबसूरत ऐसी मानी है, आनी है;
दुनियाँ की दी निशानी है, लानी है।

[सम्भावित रचनाकाल : जनवरी-जुलाई, 1958। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[246]

ये बालों के बादल छाये
फिर फिर घिर घिरकर मंडलाये।

बिजली की नयन ज्योति चमकी,
गति पावों की थमकी - थमकी,
स्वर्गीया देवी के शम की
दुर्लभ दर्शन जैसे पाये।

पायल की बूंदों में रुनझुन
क्या भरे घड़े के मिले सगुन,
बोली नूतनता, सुन सुन सुन
नवरसता के तल सरसाये।

[रचनाकाल : 19 जुलाई, 1958। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[247]

बरसो मेरे आँगन, बादल,
जल-जल से भर दो सर, उत्पल।

करो विकम्पित अवनी का उर
भरो आम्र पल्लव में नव सुर,
रँगो अधर तरुणी के आतुर,
सींचो युवक जनों के हृत्तल।

नयी शक्ति, अनुरक्ति जगा दो,
विकृत भाव से भक्ति भगा दो,
उत्पादन के मार्ग लगा दो
साहित्यिक - वैज्ञानिक के बल।

लहरें सत्य - धर्म - निष्ठा की
जगें, न कुछ रह जाय व्यथा की,
कलके बोझिल, हल्के; बाकी
रहे न कुछ जीवन का सम्बल।

[रचनाकाल : 28 जुलाई, 1958। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अगस्त, 1958, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[248]

फिर बेले में कलियाँ आयीं।
डालों की अलियाँ मुसकायीं।

सींचे बिना रहे जो जीते,
स्फीत हुए सहसा रस पीते;
नस-नस दौड़ गयी हैं खुशियाँ
नैहर की ललियाँ लहरायीं।

सावन, कजली, बारहमासे
उड़ - उड़कर पूर्वा में भासे;
प्राणों के पलटे हैं पासे,
पात - पात की साँसें छायीं।

आमों की सुगन्ध से खिचकर
वैदेशिक जन आये हैं घर;
बन्दनवार बँधे हैं सुन्दर,
सरिताएँ उमड़ी, उतरायीं।

[रचनाकाल : 28 जुलाई, 1958। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अगस्त, 1958, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[249]

जय तुम्हारी देख भी ली
रूप की गुण की, रसीली।

वृद्ध हूं मैं, ऋद्धि की क्या,
साधना की, सिद्धि की क्या,

खिल चुका है फूल मेरा,
पखड़ियाँ हो चलीं ढीली।

चढ़ी थीं जो आँख भेरी,
बज रही थी जहाँ मेरी,

वहाँ सिकुड़न पड़ चुकी है।
जीर्ण है वह आज तीली।

आग सारी फुक चुकी है,
रागिनी वह रुक चुकी है,

स्मरण में है आज जीवन,
मृत्यु की है रेख नीली।

[रचनाकाल : 24 अगस्त, 1958। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अक्तूबर, 1958, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[250]

सुख के सारे साज तुम्हारे;
क्षण में अक्षम ही को वारे।

भूमि - गर्भ तरु में रो - रोकर
फिरी गन्ध बन्दी हो - होकर;
दिया कमल को प्रभा-स्नात वर,
बेले को शशि, सुन्दर तारे।

खोले दल के पटल, विश्व जन
आमोदित हो गये स्वस्थ-मन;
जोड़े कर, स्तुति पढ़ी, विनन्दन
किया तुम्हारा, मन से हारे।

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1958। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[251]

वारि वन वनवारि,
वनवारि वनवारि।

वारिज विपुलवारि
पुलवारि कुलवारि
द्रुमलता तुलवारि,
कूलकलि कुलवारि;
आकुल मुकुल वारि,
विहग सङ्कुल वारि।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-सितम्बर, 1958। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[252]

तुम्हारी हवा से सोये,
तुम्हारी हवा से जागे।
तुम्हारे रव सुने, सूने
सदन में चरण अनुरागे।

नयन - तारक दिखे उज्ज्वल,
हँसी से प्रभाकर झलमल;
तुम्हारे रूप से निखरे
निकर जग चराचर लागे।

पराजय लाख, लाखों जय,
तुम्हारे चरण के संचय;
कुतोभय जगह पाकर
मृण्मयी के खड़े हैं आगे।

[रचनाकाल : 6 सितम्बर, 1958। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 5 अक्तूबर, 1958, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[253]

काँपे जीवन के जीर्ण याम,
आये तुम प्राची-रवि समान।

सिहरे रोओं के लता - पुंज,
पिकध्वनि भासित भैरवी गुंज,
पनघट नागरी, वितान कुंज
मलयानिलवाह सुकर सुठाम। काँपे०

जग उठा दूसरा विश्व, चला;
पग-पग छाया कुल भला-भला,
सन्देश शुद्ध मुख से निकला
दृग बन्द करो, लो राम नाम। काँपे०

[रचनाकाल : 1 जनवरी, 1959। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, मार्च, 1959, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[254]

गूँजे नभ - नभ घन के गर्जन;
लहरे तरु - तृण जल प्रावर्षण।

पके बाग आमों के गमके,
टपके झरते हैं थम - थम के,
पड़े पाट मखमल रेशम के,
भरा तरुणियों में आमर्षण।

भरे ताल, नूतन जल, लहरें,
जैसे जय पताक ये फहरें,
पुरुष परुष गरबीले, घहरें,
खिला तरुणियों के तन कर्षण।

फूले बेले, शतदल फूले;
भौंरे उपवन - उपवन भूले;
पुरवी युवती जैसे छूले,
आया पौधों में संस्पर्शन।

[रचनाकाल : 1 सितम्बर, 1959। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1959, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[255]

गहरी विभावरी शीत की,
काँपी पाले से अरहर की
डाली गुनागरी, शीत की०

मटर, चने कुछ काम न आये,
जौ, गेहूँ लड़ते अरगाये,
माचे पर किसान का कूकर
कुँकहाया, सिहरी, शीत की०

प्रात: पातगात झुलसायी,
खड़ी रहीं जैसे परछाईं,
नीली रेखा मुख पर छायी,
सुध सारी बिसरी, शीत की०

सूख गया किसान एकाकी
रोया, रहा न लेखा बाकी,
कर्म धर्म को करके साखी,
दुहरी डगर भरी, शीत की०

[रचनाकाल : 24 दिसम्बर, 1959। 'धर्मयुग', साप्ताहिक, बम्बई, 28 फरवरी, 1960, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[256]

तुम्हारे काम, तुम्हारे नाम।
तुम्हारे लिए सही संग्राम।

तुम्हीं जीवन की घाटी पर
विजय की तरणी खेते हो;
तुम्हीं अपनी पाटी भरकर
लिखाते हो, लिख लेते हो,
तुम्हीं जीवन में पूर्ण विराम।

तुम्हारे लिए जहाँ नागा,
नील का बँधा वहीं धागा,
जहाँ पीछा है वह आगा,
वहाँ जागा मानव सोया,
नहीं रस वहाँ, नहीं है ताम।

[रचनाकाल : 24 दिसम्बर, 1959। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 24 जनवरी, 1960, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[257]

घट बाँहों के उलटे, ढलके,
प्रिय-सम्बल के, छल के छलके।
जीवन-पल के, ज्योतिस्तल के,
पल्लव-दल, फूलों के, फल के।
पल्लव-जल के, चल-उत्पल के;
उत्कल उच्छल, कलमष कल के।
पत्रों सरित हरित - सित हरसे
वर्ष - स्पर्श सरसीरुह सरसे,
पारसगात, मधुर रस बरसे;
किरण निकर शशधर शाद्वल के।

[रचनाकाल : 14 मार्च, 1960। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अप्रैल, 1960, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[258]

चाहो जितना, करो करद तुम।
निःसम्बल को वरो वरद तुम।

हेमहार डालो किरणों का,
दिवस प्रसार करो हिरनों का;
शशधर को लाञ्छन से सुन्दर
करो निशा को शुभ्र शरद तुम।

कल्मष को साधन से धोओ,
बीज गणित गुण बहु-बहु बोओ,
शंका की पंकिलता खोओ,
शक्ति समास विभास जरद तुम।

[सम्भावित रचनाकाल : मार्च, 1960—फरवरी, 1961। **सान्ध्य-काकली में** संकलित]

[259]

सरल न हुए न छुए वे चरण,
जो भवतारणतरण वरण घन।

श्याम-सुरभि रम्भारुण उज्ज्वल,
विकच मनोमरु पर सर कलकल,
तीर तरुण-तरुणी-विहरणस्थल,
पुलिन-पुलिन शीतल वन उपवन।

गहन तुम्हारा रँग न दिखा जो
खोयी तो, कोई शोभा हो,
सबको अपनी ताल सिखा दो,
अपने गीत गवा दो अगणन।

[सम्भावित रचनाकाल : मार्च, 1960—फरवरी, 1961। **सान्ध्य-काकली में** संकलित]

[260]

शीत की गहरी विभावरी
शिशिर की बूंदों पत्र भरी।

कांपे तन तरुणी-तरुणों के,
प्रातः खुले अधर अरुणों के
पुष्ट प्राण पलते ढक-ढककर
कृष्ण नगर नगरी—शीत की॰

सायं शोभन क्रीड़ोपरान्त,
सभ्य सकल बँगलों के उपान्त
ताप रहे विद्युत-कण्डी, छड़,
बैठीं परी - परी—शीत की॰

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1961। 'कादम्बिनी', मासिक, नयी दिल्ली, मार्च, 1961, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[261]

इमन बजा
स, रि, ग, म, प, ध, नि, स सजा सजा।

एक पहर बीती रजनी,
मृदंग की धुन गिनीगनी;
सारँग आरोचित अवनी;
पग नूपुर गति गयी लजा।

स्वर सुकण्ठ, उच्छ्वास मुखर;
मुक्त भास, विश्वास प्रखर;
मूर्च्छन उतरी, चढ़ी नितर;
त्रिगुण रोह - अवरोह मजा।

[रचनाकाल : सौर फाल्गुन 25, संवत 2017 वि. (9 मार्च, 1961)। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[262]

उन्मेष, देश, जन,
तरल, तारक प्रमन।

मूर्त विग्रह, साध अहरह विसंवाद,
सत्य की साख के मुद्गर गजोन्माद;
दूर कर नाशमुख जागतिक व्यापार;
विश्वसंसार को नयी गति दे नमन।

हो कि संसार यह खो गया सदा को,
प्राचीन जनों की अगामीयता हो;
बचाने को रची विपुल उद्भावना,
सँवरने को बढ़े भाव पर की जमन।

[रचनाकाल : सौर फाल्गुन 25, संवत् 2017 वि. (9 मार्च, 1961)। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[263]

डमड डम डमम डम,
डमरू निनाद है।
ताण्डव नचे शिव,
प्रवाद उन्माद है।

विकल जल, मत्स्य चल;
अनल - व्याकुल विरल
अनिल वहमान, बहु
फेनिल फसाद है।

घूर्मित तिमिङ्गलों,
घूर्णि नभ के तलों;
संहारिणी बड़ी
उठती अबाध है।

गर्जित पयोधि जल,
नक्र, झष, व्याल
शंख, कौड़ियों के चल
दल का दलाद है।

सीप के सुभग क्षण,
जल हस्तिगण अगण,
सूस - विहरण प्रबल
यान कल - छाद है।

[सम्भावित रचनाकाल : मार्च-जून, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[264]

फूलों के दीपों की माला
यह उकसे बालों की बाला।
बेसुध की हाला की हाला,
काली की लिपि, गोरी काला।

डाली के माली की पाली,
जीवन-जीवन के वनवाली,
जीने की, मरने की ताली,
कानों के कानों की ताला।

चितवन के चीते को बसकर,
गोरे तारों से कस-कसकर,
हँसकर अन्तरतर भर-भरकर,
कर दी कुल आले से आला।

[सम्भावित रचनाकाल : मार्च-जून, 1961। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, जुलाई, 1961, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[265]

तुम आओ, सुहाओ, हमारी गली;
उजली कर दो तरु-तरु की कली।

सब गन्ध समीरण मन्द करो;
कविता कवि विद्रुम छन्द हरो;
अभिवन्दन से रहे नन्दन री;
मर जाय व्यथा, भर जाय तली।

दिक् कुंकुम के पर मारे परी,
बहु वासे बसी, अतिशय निखरी;
नत नयनों की अमिताभ अरी,
अभिनन्दन के पलने प' पली।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[266]

तुम्हारे आँगन में छाये—
वर्ण - गन्ध पाये।

अमरों कर आकलित फलित हैं,
सित लोहित अति असित हरित हैं;
उद्गारों के फल विकसित हैं
पङ्कज नहलाये।

पाद्य अर्घ्य चन्दन से चर्चित,
स्तव से स्तवकों के, अभ्यर्थित,
अञ्जलि से चरणों पर सर्जित,
उन्मन विकसाये।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[267]

बाँध दो बाँध तटिनी के तट,
तरु-तरु पर गाओ छाया-नट।

बंसी फिर वही बजाये गति,
जन-जन की बढ़े जानकी-रति,
सम्पाती के पर की सम्पति
साह्लाद खुले गद्‌गद-उर-घट।

जिह्वा छोड़ दे अपर गायन,
तक्र से तर्क जैसे सायन,
दूसरी खड़ी हो रामायण,
कृष्णायण का रसाल पनघट।

फिर गीता गीत और बाजे,
रथ पर अर्जुन जैसा राजे,
चमके सुख के मुख दुख साजे,
दूसरे यमन की फैले रट।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961 । **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

[268]

तुम्हारी छाँह, तुम्हारी बाँह,
तुम्हीं गोपी, गोपी के नाह।

वर्ष वर्षा के गगन - उछाह,
शीत के पोषक विद्रुम-वाह,
ग्रीष्म के शोषक दारुण-दाह,
बदलते हुए माह के माह।

तुम्हीं से दिन की सुघर घड़ी,
आँख के काँटे काँप रही,
और कब कुछ भी सही-सही,
दिशा में विदिशा का निर्वाह।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961 । **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

[269]

तुम्हारे आसरे, हारे हुए जीते हुए आये।
तुम्हारे वासते अन्धे हृदय की आँख से भाये।

तुम्हारे साथ से छोड़ा
असज्जन सङ्ग जो जोड़ा;
सुकृत के कृत्य मुँह मोड़ा
प्रथमता से, तुम्हें पाये।

जगत के जन्मगत अधिकार
आये बन्ध के इस पार,
छूटा ध्वच्छ* कारागार,
उर की आँख मुसकाये।

* यह मूल में 'ध्वन्ध' भी पढ़ा जा सकता है।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[270]

हुआ जो काव्य का सिञ्चन,
नहीं है भूख षड्रस की।
बढ़ा कवि ड्योढ़ से, दे कर,
तुम्हीं को दूध की लस की।

य' अविनाशी ह' अवनाशी?
य' काशी की कटी साक्षी?—
त्रिशूलावास विश्वासी;
कहाँ है आपके बस की?

भरा है अन्न मगते में,
विरोधाभास जगते में;
य' जैसे भक्ति भगते में;
चिरन्तनता अचिर, मसकी।

खिलाते हो इसी से तुम;
कली, फिर फूल की कुंकुम;
अधर उभरे हुए, विद्रुम;
भरी नव यौवना कसकी।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

[271]

पहले के गीत जानूँ,
पहले की तान मानूँ।

स-रि-री के साथ शोभन
जो कुछ, बहुत विलोभन;
क्यों, पूछते हुओ मन,
मनसिज कहाँ बखानूँ?

सर से सरोज निकला,
तो कौन भाव इकला?
ऊपर उठा है सिकला
तो कौन तान तानूँ।

भ्रम से भरा हुआ है
पढ़कर मरा हुआ है;
डूबा तरा हुआ है,
मैं कौन प्राण आनूँ?

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

[272]

छाया के दृश्यों से उतरे,
तन को, मन को जो सौम्य करे।

पातों के प्राणों का कम्पन
जैसे अधरों पर है नर्तन—
नयनों की ज्योति का, सन्तरण
इस तर को उस पार हे हरे।

मर्यादा के बाँध सागरिक
बाँधे, साधे साधु नागरिक,
सत्य उक्ति से फले साम-ऋक्
घर-घर पावन स्तव पवन भरे।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[273]

कैसे आँखों को परिसर दे ?
कैसे ज्योतिष्कों को भर दे ?

जब इसी देश में पड़ा बहुत,
जो और-न-जाना, बड़ा बहुत,
जो भगा हुआ वह खड़ा बहुत,
तब उस तर के कैसे कर ले ?

यह हवा पछाँह पूरबी क्यों ?
बहती होती यह ज्यों की त्यों;
अवनी भी होती अपनी ज्यों;
क्यों किसी अधूरे को वर ले ?

जिससे ज्यादा न दिखा तुमको,
क्या समझे कभी बुद्धि कम हो ?
उसके कारण में दिये न रो ?
तब क्या कोई टेढ़े हर ले ?

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[274]

किसी के सामने आये तो क्या आये हो तुम।
दोनों आँखों से एक आँख ही भाये हो तुम।

दीन है, तो सही दुनियाँ भी साथ साथ ही है,
बैठे भी जैसे गले से खुले, गाये हो तुम।

दूर तक छाया हुआ सुर न पार परदे के,
घर में अकेले, डगर के हाथ सताये हो तुम।

साँस में साँस नहीं जैसे, है विश्वास फ़क़त,
पाये हो या रहा जो कुछ भी गँवाये हो तुम।

धोखा है जान जहाँ, कौन जानकारी है?
ठण्डे से अज्ञ रहे तभी तपाये हो तुम।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-अगस्त, 1961। **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

[275]

शङ्कर शुभङ्कर हुए जो न, तो क्या?
अन्नपूर्णा बिना लो क्या व दो क्या?
काशी बिना शान्ति का वास भी है?
क्षिति नहीं तो अचल विश्वास भी है?
अवशेष भी किसी देश में हो क्या?
खण्ड घेरे खमण्डल वारिदों को,
ऐसे अकेले कहो स्थान क्यों हो?
नहीं जो बीज तो खेत में बो क्या?
विश्व-संसार है तभी है माया,
धर्म-कर्मादि हैं गुण, रूप, काया;
नहीं तो किसी को दो क्या व लो क्या?

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

[276]

छन-छन छल-छल जीवन प्रतिपल
बहता निर्मल, गङ्गा का जल।
सौरभ जैसे समीर मलय से,
विश्व विजय के से लेखन-फल।
ऊपर नर्तन निस्वन निस्वन
किरणों की गति ताल चलाचल।
पेड़ों का झुकना उठना फिर
पत्रों का अविचल वादन कल।
विहगों - परिनों का मृदु गायन,
कामायन संसार अमल बल,
समझे जन गण यह दिग्भूषण
घूम - घूमकर ज्योतिर्मण्डल।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[277]

सहज फूले फले उपवन।
गन्ध मोदित मरुद् घन-घन।

विजय के मद मेदिनी ज्यों,
समाती तन में नहीं; यों,
पवन के सञ्चरण ही हों
स्निग्ध करते हुए मन-मन।

मल्ल के गल मल्लिका-सी,
विपुल सौरभ भरी काशी,
पश्चतन-भय अविश्वासी
खड़े पढ़ते स्तोत्र-गायन।

भरे सब सन्दर्भ ऐसे
अरण्यों के उपवनों के,
मन्द गुञ्जित कुञ्ज जैसे
अजानित वन्दी-विरद जन।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[278]

मेटिनी वाली वारी दे वारी धना;
मुझे तार दे ताली से तारी धना।
तुझे गुल की खबर, मेरा बुलबुल समर—
आया डाली से डाली के नीचे उतर।
तेरे काँपे में आकर फसाये हैं पर,
कहीं कोई तो होता जो ऐसा बना।
नाची क्या अप्सरा कोई जैसा कि तू,
भाव के हाथ-पावों के चाले तलू,
चली गरदन कमर कैसी, कैसी भी रू,
कोई रह न गया न हुआ जो सना।
बंसी बाजी, बिराजी जो तू स्टेज पर,
तबले ठेके-परन के सुढर से सुढर,
साज ने बाज में और छोड़ा न घर,
गीत में गाया तूने जो, क्या वन्दना।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[279]

हाथ [illegible] वीणा, समासीना;
विशद-वादन-रत प्रवीणा।

घिरे बादल गगन - मण्डल,
तरल-तारक-नयन अविचल,
तार के झंकृत सुकोमल
कराहत कर का सुखीना।

राग - सावन मनोभावन,
भामिनी के भवन पावन,
दीप्ति नयनों की सुहावन,
नाक का हिल रहा मीना।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, नवम्बर, 1961, में प्रकाशित। **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[280]

पत्रोत्कण्ठित, जीवन का विष बुझा हुआ है
आशा का प्रदीप जलता है हृदय-कुंज में,
अन्धकार पथ एक रश्मि से सुझा हुआ है
दिङ्निर्णय ध्रुव से जैसे नक्षत्र - पुंज में।
लीला का सम्वरण - समय फूलों का जैसे
फलों फले या झरे अफल, पातों के ऊपर
सिद्ध योगियों जैसे या साधारण मानव,
ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर।
स्निग्ध हो चुका है निदाघ, वर्षा भी कर्षित,
कल शारद कल्य की, हैम लोमों आच्छादित,
शिशिर भिद्य, बौरा वसन्त आमों आमोदित;
बीत चुका है दिक्चुम्बित चतुरंग, काव्य, गति,
यतिवाला, ध्वनि, अलंकार, रस, राग बन्ध के
वाद्य-छन्द के रणित गणित छुट चुके हाथ से—
क्रीड़ाएँ व्रीणा में परिणत। मल्ल भल्ल की
मारें मूर्छित हुईं। निशाने चूक गये हैं।
झूल चुकी है खाल—ढाल की तरह तनी थी।
पुनः सबेरा एक और फेरा है जी का।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

परिशिष्ट

मौलिक कविताएँ

[1]

धिक मद, गरजे बदरवा,
चमकि बिजुली डरपावे,
सुहावे सघन झर, नरवा
कगरवा-कगरवा ।

[सम्भावित रचनाकाल : 1956 ई. का उत्तरार्ध या 1957 की जनवरी । **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[2]

ताक कमसिनवारि,
ताक कम सिनवारि,
ताक कम सिन वारि,
सिनवारि, सिनवारि ।

ता ककमसि नवारि,
ताक कमसि नवारि,
ताक कमसिन वारि,
कमसिन कमसिनारि ।

इरावनि समक कात्,
इरावनि सम ककात्,
इराव निसम ककात्,
सम ककात् सिनवारि ।

[रचनाकाल : 22 जून, 1958 । **सान्ध्य-काकली** में संकलित]

[3]

जगने दिया जो न दिया जगने मग में मगने को गने ही रहो।
अतिपात की गात बिसातन वाहुलता के वितान तने ही रहो ॥
छबि सावन के सुख झूले में झूले रंगों के सनेह घने ही रहो।
यहाँ जैसे कसाले के वैसे कसाले रिसाले के साले वने ही रहो ॥

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1958। **सान्ध्य-काकली** की भूमिका में उद्धृत]

[4]

निपट कपट तुम श्याम, हाँ हाँ,
लाजि - मान हरि, जमुना में डारी,
वारि वारि करि पियासों पुकारी,
चोरे चित-मन चोरे, कैसे निबारी,
कलेजे कटारी, हरि लिये तेरो नाम।

[सम्भावित रचनाकाल : 1959-1961 ई.। **सान्ध्य-काकली** की भूमिका में उद्धृत]

[5]

पनघटवा गारि दै बजुरमारे।
सास ससुर की कान न मानी
ठानी तुझसे प्रीति रीति की,
पिया बिदेस सौतिन घर सोये,
जुगुत जुगुत पारि दै, बजुरमारे।

[सम्भावित रचनाकाल : 1959-1961 ई.। **सान्ध्य-काकली** की भूमिका में उद्धृत]

[6]

खेलत रहलूँ अगनवाँ, सखी संग साथी हो।
आइ गवन निगचाई, भवन निगचाई, बदन भैले धूमिल हो।
पहिले गवनवाँ ऐलूँ, पनिया के भेजलन हो,
देखि कुआ मोर भइल भारी, त गागरि फूटलि हो।
कवन उतर घर देबि, हाथ दोनों छूँछे हो,
घर मोरी सासु रिसानि, त ननदी हठीली हो।
केहिसे कहबि दुख आपनि, संगो न साथी हो,
ठाढ़ि मोहरि धनि सुसके, मने पछतवली हो।

[सम्भावित रचनाकाल : 1959-1961 ई.। **सान्ध्य-काकली** की भूमिका में उद्धृत]

7 793
72793

भूमिका

1. 'अर्चना' की भूमिका

स्वयोक्ति

प्रचलित कुल तालों से समन्वित 'अर्चना' नामक आधुनिक गीतों का संग्रह, ईश्वर की इच्छा से प्रस्तुत होकर, पाठक-पाठिकाओं के सम्मुख उपस्थित है; परीक्षण में उत्तीर्ण होने पर हम श्रम को सार्थक समझेंगे। यह पुस्तिका के बहिरंग की व्यापारिक बात हुई, जिस पर आश्रम-जीवन की दिनचर्या, भोजन-पान आदि निर्भर है, अन्तरङ्ग विषय यौवन से अतिक्रान्त कवि के परलोक से सम्बद्ध है, इसलिए यहाँ सम्मति का फल निष्काम में ही होगा। रससिद्धि की परताल कीजिएगा तो कहना होगा कि हिन्दी के भाषा-साहित्य में ज्ञानी और भक्त कवियों की पंक्ति बैठी हुई है, जिनकी रचनाएँ साधारण जनों के जिह्वाग्र से अमृत की धारा बहा चुकी हैं, ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशामात्र है। अतः यहाँ प्राचीन परम्परा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—

भाव कुभाव अनख आलसहू;
राम जपत मंगल दिशि दसहू।

गीत के साथ गले का सम्बन्ध पहला है। प्रस्तुत गीतों की तद्वत् सफलता के न होने का कारण खड़ी बोली का पाठ; इसलिए गले से सफलतापूर्वक न उतर जाना है। साधारणजन देहातों में यह भाषा नहीं बोलते। उनके गले और आधुनिक शरीर की नेमि अभी तक मज-कर मिश्रित नहीं हुई। खड़ी बोली की गाड़ी के और चलते रहने की आवश्यकता है; ये गीत जैसे उसी की पूर्ति करते हैं। यथाशक्ति सुरचित शब्दों की शृंखला रखी गयी है जो सहज ही उच्चरित हो जाय, जिससे आधुनिक गीतों की मेड़ें और स्वर-कम्पन प्राचीन शब्दोच्चारण की दीवारों को पार करके अपनी सत्यता पर समासीन हों। दो-एक उदाह-रण मुखोच्चारणवाले हम देते हैं—

तुम्हारे छाँह है, छल है;
तुम्हारे बाल है, बल है;
× × ×
बांधो न नाव इस ठांव बन्धु;
पूछेगा सारा गांव बन्धु!

ब्रजभाषा-संगीत में 'सा' और 'ना' के भिन्न उच्चारण नहीं। खड़ी बोली में इसकी भी विपुलता है। 'भव-अर्णव की तरणी तरुणा' पद्य के 'ण' को 'न' उच्चारित करने पर खड़ी बोली का सिंगार बिगड़ जायगा, मगर ब्रजभाषा का संगीत-मय रूप खड़ा हो जायगा। चूँकि खड़ी बोली देश-भर की साहित्यिक भाषा बन चुकी है, इसलिए ब्रज-भाषा अनुकूलता की पूर्वी-उच्चारण-पद्धति ही ग्राह्य नहीं। पंजाब आदि प्रान्त 'न' के उच्चारण में 'ण' की प्रधानता रखते हैं, इसलिए गीतों की एक-देशिकता नहीं रह सकी। उर्दू की गज़लों में 'ण' का एकान्त अभाव है। अंग्रेजी में भी इसका उच्चारण नहीं है। उच्चारण-विज्ञान में तत्तद् भाषाओं की यह कमी है। हमारा अंग्रेजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जिसका परिचय, पढ़ाई की कोताही से जितना छिपाया गया था कविता के प्रकारण-प्रकाशन से उतना ही बताया गया। हम यहाँ केवल उच्चारण-विज्ञान की एक बात पर कह रहे हैं। हमारे अंग्रेजी के प्रशंसक कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, लखनऊ आदि के विद्वान् मित्र अन्तर्जातीय अंग्रेजी के सम्बन्ध में पूर्ववत् हिमायती समझने की कृपा करें, साथ ही इतना जोड़े रहें कि हमारा हिन्दी के साथ, संस्कृत आदि उसकी बहनों, माओं और मातामहियों से भी परिचय और श्रद्धाभाव है।

इस सत्योक्ति को विशालता न देकर रसानुग्रहणलिप्सुओं से हमारा कालिदासवाला भ्रमर-वेदन ही है; वे उसी तरह गीत पुष्पाधरों से लगें। शृङ्गार के लिए क्षमा—

"चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधुरम्,
वयं शान्त्रान्वेषाणमधुकर हतास्त्वं खलु कृती।"

कला मन्दिर
दारागंज, प्रयाग।
26-8-50

—निराला

72793

०००

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म : 21 फरवरी, 1899 (स्थान : बंगाल के मेदिनीपुर जिले का महिषादल नामक देशी राज्य। मूल निवास : उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले का गढ़ाकोला नामक गाँव) **मृत्यु** : 15 अक्टूबर, 1961 (दारागंज, इलाहाबाद) **शिक्षा** : हाई स्कूल तक। हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से प्राप्त किया। **वृत्ति** : प्रायः 1918 ई० से लेकर 1922 ई० के मध्य तक महिषादल राज्य की सेवा में। उसके बाद से सम्पादन, स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। 1922-23 ई० में 'समन्वय' (मासिक, कलकत्ता) का सम्पादन। 1923 ई० के अगस्त से 'मतवाला'-मण्डल में। 'मतवाला' से सम्बन्ध किसी न किसी रूप में 1929 ई० के मध्य तक बना रहा। इस बीच स्वतन्त्र लेखन और बाजार का काम' भी करते रहे। कलकत्ता छोड़ा तो लखनऊ आये, जहाँ गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय और वहाँ से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'सुधा' से 1935 ई० के मध्य तक सम्बद्ध रहे। प्रायः 1940 ई० तक लखनऊ में। तत्पश्चात् कभी इलाहाबाद और कभी उन्नाव में। 1942-43 ई० से स्थायी रूप में इलाहाबाद में रहकर स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। **साहित्य** : पहली प्रकाशित कविता : 'जन्मभूमि' ('प्रभा', मासिक, कानपुर, जून, 1920)। पहला प्रकाशित निबन्ध : 'बंगभाषा का उच्चारण' ('सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अक्तूबर, 1920)। पहली प्रकाशित पुस्तक : **अनामिका** (1923 ई०)। प्रमुख कृतियाँ : **परिमल, गीतिका, द्वितीय अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना, गीत गुंज, सान्ध्य काकली** (कविता), **अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा** (उपन्यास), **लिली, चतुरी चमार** (कहानी), **रवीन्द्र-कविता-कानन, प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध-प्रतिमा, चाबुक, चयन, संग्रह** (निबन्ध) और **महाभारत** (पुराकथा)।

यह कवि अपराजेय निराला,
जिसको मिला गरल का प्याला;
ढहा और तन टूट चुका है,
पर जिसका माथा न झुका है;
शिथिल त्वचा, ढलढल है छाती,
लेकिन अभी सँभाले थाती,
और उठाये विजय पताका—
यह कवि है अपनी जनता का।

रामविलास शर्मा

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली - पटना